प्रकाशक—
श्रीकृष्णचन्द्र बेरी
हिन्दी-प्रचारक पुस्तकालय
पो० बक्स नं० ७०
ज्ञानवापी, बनारस सिटी

मुद्रक—
मेन्नालाल गुप्त,
बम्बई प्रिंटिंग काटेज,
बाँसफाटक, काशी ।

पुस्तक-परिचय

हर्ष की बात है कि पिछले कुछ वर्षों से अर्थशास्त्र और नागरिक शास्त्र ऐसे उपयोगी विषयों की शिक्षा हमारे देश के स्कूलों में आरम्भ हो गई है। इसके पूर्व इन विषयों की शिक्षा कालेजों और विश्वविद्यालयों की ऊंची कक्षाओं में ही दी जाती थी। इन उपयोगी विषयों को स्कूल के पाठ्य-क्रम में स्थान देकर पाठ्य-क्रम निर्माताओं ने एक महत्वपूर्ण अभाव को पूरा किया है।

हाल तक इन विषयों की शिक्षा कालेजों और विश्वविद्यालयों में दी जाने और अंग्रेजी के शिक्षा-माध्यम होने के कारण मातृभाषा में इन विषयों की पुस्तकों का सर्वथा अभाव ही रहा है। कुछ दिनों से मातृभाषा हिन्दी में इस प्रकार की कुछ पुस्तकें निकली हैं। फिर भी इनकी संख्या कम ही है। इसी कमी को पूरा करने में कुछ सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई है।

प्रस्तुत पुस्तक संयुक्तप्रान्त के हाई स्कूल और इण्टर मिडियेट बोर्ड की हाई स्कूल परीक्षा (High school examination) के पाठ्य-क्रम को दृष्टिकोण में रख कर लिखी गई है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों और नियमों को उनके प्रारम्भिक रूपमें रखने का भरसक प्रयत्न किया गया है जिससे विद्यार्थियों को उनके समझने में कोई कठिनाई न हो। परिभाषाओं के देनेके पहले व्यवहारिक जीवन से विभिन्न प्रकार के उदाहरण दिए गये हैं, ताकि विद्यार्थियों को उन परिभाषाओं का भली भांति बोध हो जाय।

भारतीय ग्रामीण समस्याओं के विभिन्न पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। विद्यार्थियों के लाभ के लिये अधिक से अधिक सामग्री संगठित और व्यवस्थित ढंग से रखने की कोशिश की गई है।

प्रत्यक अध्याय के अन्त में उसके सारांश देने की प्रथाका

अनुसरण जानबूझ कर नहीं किया गया है। सब प्रथम हाई स्कूल की ऊंची कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये सारांश देना मैं उनके हित के प्रतिकूल समझता हूं। इन ऊंची कक्षाओं के विद्यार्थियों को अपना सारांश अध्यायों के अध्ययन के बाद स्वयं बनाना चाहिये। पुस्तकमें सारांश दे देने से उनके अन्दर इस आदत का विकास नहीं होता। सारांश दे देने से यह भी हानि होती है कि बहुत से विद्यार्थी इन अध्यायों का अध्ययन नहीं करते। वे केवल सारांश को ही याद कर लेने का प्रयत्न करते हैं ताकि किसी प्रकार परीक्षा पास कर लें। इससे विभिन्न समस्याओं का सम्यक् ज्ञान उन्हें नहीं हो पाता है। तथा उनमें इन समस्याओं पर स्वतंत्र रूप से सोचने की टेव भी नहीं उत्पन्न होती। इन्हीं त्रुटियों को ध्यान में रख कर अध्यायों का सारांश नहीं दिया गया है।

पुस्तक की भाषा सरल और साधारण रखने का भरसक प्रयत्न किया गया है। साधारण बोल-चाल के शब्दों का ही अधिक उपयोग किया गया है। इससे विद्यार्थियों को विषय के समझने में भाषाके कारण कोई कठिनाई नहीं होगी।

पुस्तक के अन्तिम अध्याय में विद्यार्थियों के लाभ के लिये अभ्यासार्थ प्रश्न भी दे दिये गये हैं।

समयाभाव के कारण, सम्भव है, पुस्तक में कुछ त्रुटियाँ रह गई हों। जो सज्जन इन त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाने का कष्ट करेंगे, उनका मैं विशेष आभारी रहूँगा। पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के लिये सब प्रकार के उचित संशोधन का सहर्ष स्वागत किया जायगा।

पुस्तक हाई स्कूल के विद्यार्थियों की इस विषय की कठिनाइयों को दूर करने तथा परीक्षा पास करने और विषय के ज्ञान प्राप्त करने में विशेष रूप से सहायक और लाभदायक सिद्ध होगी इसकी प्रबल आशा मुझको है।

बनारस

विषय सूची

प्रथम खण्ड

विनिमय (Exchange)

द्वितीय-खण्ड

ग्रामीण अर्थशास्त्र की रूप-रेखा

पहला अध्याय

अर्थशास्त्र है क्या ?

किसी भी नवीन विषय के अध्ययन आरम्भ करने के पूर्व उस विषय के अन्तर्गत किन बातों का विवेचन होता है तथा उसका क्षेत्र क्या है आदि बातें जानने की उत्कट इच्छा अध्ययन-कर्त्ता को होती है। अतः इस अध्याय में इसी प्रश्न पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा कि अर्थशास्त्र क्या चीज है? उसमें हमें किन किन बातों का अध्ययन करना होगा? तथा उसका क्षेत्र क्या है ?

अर्थशास्त्र में, अन्य सामाजिक शास्त्रों, जैसे राजनीति-शास्त्र (Politics), नीति-शास्त्र (Ethics), इतिहास (History) आदि, की भाँति, मनुष्य और उसकी क्रियाओं का अध्ययन होता है। जब मनुष्य और उसकी क्रियाओं का अन्य शास्त्रों में भी अध्ययन होता है तब यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत किस प्रकार की क्रियाओं का अध्ययन होता है ? क्या मनुष्य की प्रत्येक क्रिया का अध्ययन अर्थशास्त्र में हो सकता है ?

प्रत्येक क्रिया का कारण हुआ करता है जिससे बाध्य होकर मनुष्य अपने को उसमें लगाता है। मानव समाज पर दृष्टि डालने से हमें पता चलता है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी

कार्य में लगा हुआ है। कोई खेती करता है, कोई बढ़ई का काम करता है, कोई लुहार का काम करता है, कोई जूता बनाने का काम करता है, कोई कपड़ा धोने का कार्य करता है, कोई गाय-भैंस पालता तथा दूध-घी आदि बेचने का कार्य करता है, कोई रिक्शा चलाता है, कोई कपड़ा बेचने का कार्य करता है, कोई अन्य प्रकार की दूकानदारी करता है, कोई बालकों को शिक्षा देता है, कोई चिकित्सा करता है, कोई मिलों में मजदूरी करता है, इत्यादि। प्रश्न यह है कि ये लोग ऐसा क्यों करते हैं? इन्हें क्या चीज इन विभिन्न प्रकार के कार्यों के करने के लिए विवश करती है? मनुष्य को नाना प्रकार के प्रयत्नों को करने के लिए विवश करनेवाली वस्तु उसकी आवश्यकताएँ हैं। अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य की भी कुछ आवश्यकताएँ होती हैं जिनको तृप्त किए बिना वह जीवित नहीं रह सकता। उसे खाने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है, शरीर ढकने तथा जलवायु सम्बन्धी कठिनाइयों का भलीभाँति सामना करने के लिए कपड़े तथा घर की आवश्यकता होती है। इन्हीं आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए वह तरह तरह के प्रयत्नों में लगा रहता है। प्रारम्भिक मानव असभ्य था। वह अपनी भूख मिटाने के लिए वृक्षों के फल आदि तोड़ लेता था तथा उनके पत्तों से शरीर ढक लेता था। किन्तु क्रमशः वह सभ्य होता गया और अपनी आवश्यकताओं को उत्तम ढंग से तृप्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहने के कारण एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी वस्तु का पता लगाता गया और दिनों दिन वह अपने साथियों के ऊपर अपनी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए आश्रित होता गया। इसी के फलस्वरूप आज हम इस अवस्था को प्राप्त हो गए हैं

कि हमारी विभिन्न दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएँ विभिन्न देशों से, जिनके उत्पादन में सहस्रों व्यक्तियों के श्रम की आवश्यकता पड़ी होती हैं, आती हैं। मानव का प्रारम्भिक असभ्यावस्था का स्वावलम्बन उसके क्रमशः सभ्यता के पथ पर अग्रसर होने के साथ कमज़ोर पड़ता गया। यही कारण है कि आज हम साधारणतया एक व्यक्ति को एक ही प्रकार के मुख्य कार्य में लगा हुआ देखते हैं। जो खेती करता है वह खेती ही करता है, जो शिक्षा देने का कार्य करता है वह उसी काम को करता है। ये लोग ऐसा क्यों करते हैं? उत्तर बिल्कुल स्पष्ट है। इन्हें भोजन, वस्त्र और गृह की मुख्य आवश्यकताओं, जिनको उचित मात्रा में सन्तुष्ट किये बिना मानव-जीवन असम्भव है, को तृप्त करना होता है। किसान घोर मूसलाधार वृष्टि में भी अपने खेतों में काम करता क्यों पाया जाता है? वह और अन्य प्रकार के कार्य करनेवाले सभी लोग विभिन्न क्रियाओं को अपने मनोरंजनार्थ या लोकसेवा के उद्देश्य से नहीं करते। कुछ ही ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो इन भावनाओं से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। अधिकांश मनुष्य तरह तरह के कार्य इसीलिए करते हैं कि उसके फलस्वरूप उनकी भोजन वस्त्रादि की समस्याएँ समुचित ढंग से हल हो जायँ। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे विविध प्रयत्नों की मूल प्रेरणा हमारी आवश्यकताओं से मिलती है। **इस प्रकार के प्रयत्नों को जो हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करते हैं आर्थिक प्रयत्न कहते हैं; और जिस शास्त्र में मनुष्य की आवश्यकताओं और उनकी तृप्ति के लिए किए जानेवाले उपायों तथा प्रयत्नों का अध्ययन होता है उसे अर्थशास्त्र कहते हैं।**

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र मनुष्य के जीविकोपार्जन सम्बन्धी कार्यों का अध्ययन करता है। ऊपर यह भी संकेत किया जा चुका है कि सभ्य मानव स्वावलम्बी नहीं होता अर्थात् अपनी दैनिक आवश्यक सब वस्तुओं को वह स्वयं नहीं पैदा करता है। प्रत्येक मनुष्य वस्तु विशेष के उत्पादन में लगा होता है। उस वस्तु विशेष के उत्पादन में भी बहुत से अन्य व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता होती है। अपनी उत्पन्न की हुई वस्तु के बदले में वह अपनी दूसरी आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करता है। जिनका उपभोग करके वह अपनी आवश्यकताओं को तृप्त करता है। इस प्रकार मानवी आवश्यकताओं की तृप्ति की समस्या के चार मुख्य पहलू हैं। आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए मनुष्य मिलकर प्रयत्न करते हैं जिनके फलस्वरूप वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। उत्पन्न वस्तुएँ 'उत्पन्न करने वालों में वितरित होती हैं तथा अपने अपने हिस्से के प्राप्त कर लेने के बाद प्रत्येक व्यक्ति उससे अन्य वस्तुएँ प्राप्त करता है। और उनकी प्राप्ति के बाद उनके उपभोग के द्वारा आवश्यकताओं को तृप्त करता है। इस प्रकार धन की उत्पत्ति, उसका वितरण, उसका विनिमय और अन्त में उसका उपभोग होता है। मानव आवश्यकताओं की तृप्ति का यही रहस्य है। **अतः अर्थशास्त्र को हम इस प्रकार भी परिभाषित कर सकते हैं कि अर्थशास्त्र वह विद्या है जिसमें धन की उत्पत्ति, उसके वितरण, विनिमय और उपभोग का विवेचन होता है।**

अब तक के विवेचन से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मानवी क्रियाओं का ही अध्ययन होता है। अन्य

जीव-धारियों की क्रियायों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। दूसरी चीज जो स्पष्ट है यह है कि अर्थशास्त्र मनुष्य की सब क्रियाओं का अध्ययन नहीं करता बल्कि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक धन तथा उसकी उत्पत्ति, वितरण, विनिमय और उपभोग से सम्बन्धित क्रियाओं का ही विवेचन करता है। धनोपार्जन या धन-व्यय आदि से असम्बन्धित क्रियायें अर्थशास्त्र के परे होती हैं।

इस सम्बन्ध में एक तीसरी बात भी स्मरण रखनी होगी। अर्थशास्त्र सभी प्रकार के मनुष्यों की आवश्यकताओं की तृप्ति के लिये किये गए प्रयत्नों का विवेचन नहीं करता। मनुष्यों को इस दृष्टिकोण से दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे मनुष्य आते हैं जो समाज में रहते हैं। मनुष्यों का अधिकांश भाग इसी वर्ग में आता है। दूसरे वर्ग में उन थोड़े से व्यक्तियों को रक्खा जा सकता है जिसका समाज से कोई सम्बन्ध नहीं होता, जो दूर जंगलों और पर्वतों की गुफाओं में जप-तप में अपने को लगाए रखते हैं। अर्थशास्त्र समाज में रहने वाले व्यक्तियों के धन-सम्बन्धी कार्यों का ही अध्ययन करता है। यही **कारण है कि अर्थशास्त्र को सामाजिक विद्या या शास्त्र कहते हैं।** फलतः अर्थशास्त्र को निम्नांकित ढंग से परिभाषित किया जा सकता है—**अर्थशास्त्र वह सामाजिक विद्या है जो मनुष्यों (समाज में रहने वाले) की धनोत्पत्ति, वितरण, विनिमय और उपभोग सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन करती है।**

———

अर्थशास्त्र के विभाग

(Divisions of Economics)

अर्थशास्त्र क्या है? यह समझाते हुए बताया जा चुका है कि उसके अन्तर्गत धन की उत्पत्ति, वितरण, विनिमय और उपभोग का विवेचन होता है। अर्थशास्त्र के ये ही चार मुख्य भाग साधारणतया अध्ययन की सुविधा के लिये किये जाते हैं। मनुष्य जब किसी वस्तु की आवश्यकता महसूस करता है तब उसे तृप्त करने के लिये प्रयत्न करता है। इस कार्य में प्रकृति उसकी सहायता करती है। विविध प्रकार के प्राकृतिक साधनों का उपभोग करके वह अपने लिये आवश्यक वस्तुएँ तैयार करता है। उत्पत्ति के अन्तर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि उत्पत्ति क्या है, उसके विभिन्न रूप क्या हैं, उसके लिये आवश्यक कौन-कौन साधन होते हैं, उन साधनों की क्षमता (efficiency) किन-किन बातों पर निर्भर करती है तथा कैसे बढ़ाई जा सकती है।

अर्थशास्त्र का दूसरा मुख्य भाग वितरण है। उत्पादन के विभिन्न साधन प्रत्येक मनुष्य के पास नहीं होते। उत्पत्ति के चार मुख्य साधन होते हैं—भूमि, श्रम, पूँजी और साहस। इन साधनों की पूर्ति करने वालों को क्रमशः जमींदार, श्रमिक, पूँजीपति तथा साहसी कहते हैं। उत्पत्ति के ये साधक कहे जाते हैं। किसी भी वस्तु के उत्पादन में इन चारों साधनों की आवश्यकता होती है। फलतः उत्पन्न वस्तु पर चारों का अधिकार होता है। इन चारों साधनों में उत्पादन का वितरण किस प्रकार होता है इसी का अर्थशास्त्र के वितरण विभाग के अन्तर्गत विवेचन होता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है

कि उत्पत्ति के हिस्सेदारों का हिस्सा किस नियम या सिद्धान्त के अनुसार होता है, यही वितरण की समस्या है। जमींदार को लगान, श्रमिक को मजदूरी, पूँजीपति को व्याज या सूद और साहसी को लाभ या मुनाफा किस नियम से या किस आधार पर मिलता है, इसी का अध्ययन अर्थशास्त्र में वितरण कहलाता है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है किसी वस्तु के उत्पादन में चार मुख्य साधनों की आवश्यकता होती है। इन साधनों के पूर्ति करने वाले चार साधक भी बताये जा चुके हैं। प्रत्येक को उत्पन्न वस्तु में अपना अपना भाग मिलता है। यह भी सम्भव है कि एक ही व्यक्ति चारों साधनों की पूर्ति करता हो। उस दशा में पूरी उत्पत्ति का स्वामी वही होगा। किन्तु प्रायः ऐसा कम होता है। अतः प्रत्येक साधक अपना हिस्सा प्राप्त करने के बाद अपने हिस्से में से अपने काम के लिये आवश्यक मात्रा में उस वस्तु को रखकर शेष से अपनी अन्य दैनिक आवश्यक वस्तुओं का क्रय करता है। मुद्रा के आविष्कार के पहले वह अपनी वस्तु से दूसरी वस्तुएँ बदल कर प्राप्त करता था। किन्तु मुद्रा के आविष्कार से वह अपनी वस्तु वेंच कर रुपया या जो भी सिक्का देश में चल रहा होता है प्राप्त करता है और उससे अन्य वस्तुएँ वाजार में खरीदता है। विनिमय के अन्तर्गत इन्हीं सब वातों का अध्ययन होता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि वस्तुओं की अदला-वदली किस प्रकार या किस नियम से होती है तथा उनकी कीमत (जब कि मुद्रा का चलन होता है) किस प्रकार निर्धारित होती है—यही विनिमय का अध्ययन है।

अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएँ इकट्ठा करके उनके प्रयोग

द्वारा किस प्रकार मनुष्य उन्हें तृप्त करता है यही उपभोग कहलाता है। अर्थशास्त्र में वस्तुओं के उपभोग को तभी उपभोग नाम दिया जा सकता है जब कि उससे उपभोगकर्ता की कोई आवश्यकता सन्तुष्ट होती है। जैसे रोटी खाई भी जा सकती है और नाली में फेंकी भी जा सकती है। भूख लगने पर रोटी खाकर क्षुधा शान्त करना उपभोग कहलायेगा, किन्तु नाली में व्यर्थ का फेंक देना उपभोग नहीं कहला सकता। उपभोग के अन्तर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि उपभोग के लिये उत्पन्न विविध प्रकार की वस्तुएँ कहाँ तक व्यक्ति और समाज के लिये लाभदायक हैं, किन दशाओं में वे हानिकारक सिद्ध होती हैं। इसमें पारिवारिक आय-व्यय का भी विचार किया जाता है तथा रहन-सहन का स्तर कहाँ तक बढ़ाना या घटाना आवश्यक है इसका भी उल्लेख होता है।

उत्पत्ति, वितरण, विनिमय और उपभोग का विस्तार पूर्वक वर्णन आगे चलकर प्रत्येक के उचित स्थान पर किया जायगा। यहाँ केवल उनकी रूप-रेखा देने का प्रयत्न मात्र किया गया है।

दूसरा अध्याय

परिभाषाएँ (Definitions)

प्रत्येक शास्त्र कुछ शब्दों का प्रयोग विशिष्ट अर्थों में करता है। साधारण बोल-चाल में उन शब्दों के भिन्न अर्थ होते हैं। अतः किसी भी शास्त्र के अध्ययन के लिये उसमें आनेवाले विशिष्ट शब्दों का उस शास्त्र-सम्बन्धी अर्थ जानना आवश्यक और अनिवार्य होता है। यदि ऐसा नहीं है तो उनका साधारण

बोल-चाल के अर्थ में लिया जाना उस शास्त्र के नियमों और सिद्धान्तों के सम्यकज्ञान प्राप्त करने में विशेष अड़चनें डालेगा, और अध्ययन-कर्त्ता भ्रम में पड़ जायगा। अर्थ-शास्त्र में भी ऐसे बहुत से शब्द हैं जिनका अर्थशास्त्रीय अर्थ साधारण बोलचाल के अर्थ से सर्वथा भिन्न है। उदाहरणार्थ, धन (Wealth), मूल्य (Value), कीमत (Price), उपयोगिता (Utility) और आय (Income) इत्यादि का अर्थशास्त्रीय अर्थ जन साधारण द्वारा लगाए जानेवाले अर्थ से बहुत भिन्नता रखता है। इस अध्याय में इन्हीं शब्दों की अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से व्याख्या की जायगी।

धन (या संपत्ति)

अर्थशास्त्र में 'धन' शब्द का विशेष महत्व है। अतः इसको ठीक-ठीक समझना नितांत आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब हम साधारण बोल-चाल में लगाये जानेवाले इसके अर्थ और अर्थशास्त्रीय अर्थ की भिन्नता भलीभाँति समझ लें।

धन का साधारण अर्थः—धन से जन साधारण का तात्पर्य रुपये पैसे या सोना-चाँदी या अन्य धातुओं से होता है। जिसके पास रुपया-पैसा अधिक होता है वह धनवान् गिना जाता है तथा उससे विहीन मनुष्य दरिद्र समझा जाता है।

अर्थशास्त्रीय अर्थः—किन्तु अर्थशास्त्र की भाषा में केवल रुपये-पैसे या अन्य सिक्कों या सोने-चाँदी आदि को ही धन नहीं समझा जाता। ये चीजें अर्थशास्त्र की विचार-दृष्टि से 'धन' तो हैं ही, किन्तु इनके अतिरिक्त और भी बहुत सी वस्तुएँ धन की श्रेणी में अर्थशास्त्र के अनुसार आती हैं। एक अर्थशास्त्री के

अनुसार प्रत्येक पदार्थ धन कहा जा सकता है यदि उसमें कतिपय विशेषताएँ हों किसी भी पदार्थ को तभी धन कहा जा सकता है जब कि सर्वप्रथम उसमें मनुष्य की किसी न किसी आवश्यकता को पूरी करने की क्षमता हो। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि मनुष्य के लिये वह वस्तु उपयोगी हो। उसके उपभोग से उसकी कोई आवश्यकता तृप्त होती हो तथा उसे सन्तुष्टि प्राप्त होती हो। अन्न, वस्त्र, गृह, लकड़ी, पेड़-पौधे, चौपाये आदि सब धन हैं क्योंकि इनसे हमारी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

अथशास्त्र के अनुसार 'धन' कहलाने के लिये वस्तुओं या पदार्थों का उपयोगी होना तो अनिवार्य होता ही है, किन्तु उन्हें एक दूसरी शर्त भी पूरी करनी होती है। उनका विनिमय साध्य (exchangeable) होना भी उतना ही आवश्यक होता है। कोई वस्तु उपयोगी होते हुए भी यदि विनिमय-साध्य नहीं है तो अर्थशास्त्री उसे धन नहीं कह सकता। विनिमय-साध्य से तात्पर्य है कि उसके बदले में हमें दूसरी वस्तुएँ उपलब्ध हो सकें। बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं जो मनुष्य के लिये बहुत उपयोगी हैं कुछ के बिना तो जीवन ही असम्भव है जैसे हवा, रोशनी इत्यादि। किन्तु विनिमय-साध्य न होने के कारण-वे धन नहीं समझी जातीं। मानव-जीवन के लिये हवा और रोशनी के महत्व को कौन नहीं जानता। किन्तु उनकी दूसरी वस्तुओं के साथ अदला-बदली नहीं हो सकती और न तो उन्हें हम खरीद या बेच ही सकते है। फलतः अर्थशास्त्र के अनुसार वे धन नहीं समझी जातीं। इसके विपरीत किसी भी पदार्थ, जैसे गेहूं, चावल, लकड़ी, किताब, कुर्सी, मेज इत्यादि

को ले लीजिये। वे सब धन हैं क्योंकि उपयोगी होने के साथ-साथ वे विनिमय-साध्य हैं, अर्थात् अवसर के अनुसार उनके बदले में हम दूसरी वस्तुएँ प्राप्त कर सकते हैं।

परन्तु 'धन' कहलाने के लिये पदार्थों का केवल 'उपयोगी' और "विनिमय-साध्य" होना ही एक अर्थशास्त्री के विचार से पर्याप्त नहीं होता। इन विशेपताओं के अतिरिक्त उसमें एक और मुख्य विशेपता होनी चाहिये। वह है **उसकी दुर्लभता** (scarcity)। दुर्लभता से हमारा तात्पर्य क्या है? इसका तात्पर्य यह है कि वह वस्तु इतनी अधिक मात्रा में न पाई जाती हो कि उसके प्राप्ति के लिये मनुष्य को प्रयत्न ही नहीं करना पड़े। कोई वस्तु जिसके लिये हमें प्रयत्न करना पड़े या परिश्रम करना पड़े या रुपया-पैसा खर्च करना पड़े दुर्लभ (Scarce) कहलाती है। हवा और सूरज की रोशनी इतनी प्रचुर मात्रा में पाई जाती है कि हमें उनके लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता। इसलिए उनकी गिनती धन में नहीं की जाती। विविध प्रकार के अन्न, वस्त्र, चारपाई, मेज, कुर्सी इत्यादि वस्तुएँ हमें यों ही नहीं मिल जाती वल्कि उनके लिये या तो हमें स्वयं परिश्रम करना होता है या रुपया-पैसा खर्च करना होता है। ये वस्तुएँ दुर्लभ हैं। अतः वे धन की श्रेणी में आती हैं।

ऊपर के विवेचन से विल्कुल स्पष्ट है कि किसी भी वस्तु या पदार्थ को 'धन' तभी कहा जा सकता है जब कि उसमें तीन मुख्य विशेपतायें हों:—

(१) मनुष्य के लिये उपयोगी हो अर्थात् किसी न किसी आवश्यकता को पूरा करती हो।

(२) विनिमय-साध्य हो अर्थात् जिसके बदले अन्य वस्तुएँ प्राप्त की जा सकें या जिसका क्रय-विक्रय हो सके,

(३) दुर्लभ हो अर्थात् जिसके लिये मनुष्य को परिश्रम या प्रयत्न करना पड़े वा रुपया-पैसा व्यय करना पड़े।

यदि कोई पदार्थ इन तीनों गुणों का समावेश एक साथ अपने में नहीं करता तो वह धन नहीं कहा जा सकता। केवल एक या दो विशेषताओं से काम नहीं चल सकता। तीनों गुण उस पदार्थ में एक साथ हो अन्यथा एक या दो विशेषताओं के होते हुए भी उस पदार्थ को धन की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता। अब तक केवल भौतिक (material) पदार्थों का ही वर्णन किया गया है। **किन्तु अभौतिक** (immaterial) **धन भी होता है**। एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के यहाँ नौकर है। वह अपने स्वामी की सेवा टहल करता है उसकी सेवा स्वामी के लिये उपयोगी है ही! साथ ही साथ इसके बदले में उसे कुछ द्रव्य लाभ होता है। मालिक के लिये नौकर की सेवा 'दुर्लभ' भी होती है क्योंकि उसको कुछ व्यय करना पड़ता है। अतः नौकर की सेवा 'धन' है। इसी प्रकार किसी व्यवसाय की ख्याति उपयोगी, विनिमय-साध्य और दुर्लभ तीनों होती है। अतः वह भी धन है।

धन और सुख (Wealth & Prosperity)

'धन' के सम्बन्ध में ऊपर बताया जा चुका है कि किसी पदार्थ का मनुष्य की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति करने की क्षमता रखना धन कहलाने के लिये नितान्त आवश्यक है। अब हमें यहाँ इस बात पर विचार करना है कि धन और सुख का

पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? इस सम्बन्ध में दो विचार धाराएँ हैं। एक के अनुसार जितना ही अधिक धन किसी मनुष्य के पास होता है उतनी ही अधिक अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति करके वह सुखी होगा। जिसके पास धन कम होता है वह अपनी आवश्यकताओं को पर्याप्त मात्रा में सन्तुष्ट नहीं कर पाता है। फलतः वह दुःख अनुभव करता है।

दूसरी विचार-धारा के अनुसार धन और सुख में कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह तो माया है जो मनुष्य को अपने जाल में फँसा कर शान्ति का अनुभव करने नहीं देती। उनके कथनानुसार सच्चा सुख आवश्यकताओं की तृप्ति में नहीं होता बल्कि आवश्यकताओं को न्यूनतम बनाने में होता है। जिस मनुष्य की आवश्यकताएं जितनी ही अधिक होती हैं वह उनको पूरा करने के लिये उतना ही व्यग्र और परेशान रहता है, तरह तरह के प्रयत्न और परिश्रम करता है। उसे चैन नहीं मिलता। इसके विपरीत कम आवश्यकताओं वाला व्यक्ति थोड़े में सन्तुष्ट हो जाता है। वह निश्चिन्त सा रहता है। वह सुखी होता है। अतः सच्चा सुख प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है अपनी आवश्यकताओं को कम करना और सन्तोष रखना। सन्तोष ही सर्वोत्तम सुख है।

धन और सुख के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न वास्तव में भोगवाद और संयमवाद के दार्शनिक प्रश्न का ही दूसरा रूप है। दोनों 'वादों' की दुख-सुख की कल्पना एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो दोनों में कुछ न कुछ सत्य का अंश है। प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं में कुछ ऐसी मुख्य आवश्यकताएँ होती हैं जिनको तृप्त किये बिना जीवन ही असम्भव है। बड़े से बड़े

दार्शनिक, महान् से महान् विचारक तथा भगवान् का सर्वोत्तम भक्त भी बिना भोजन, जल और वस्त्र के जीवित नहीं रह सकता। कहावत भी है—"भूखे भजन न होहिं गोपाला" इस सम्बन्ध में कबीरदास की एक उक्ति उल्लेखनीय है। "कबिरा क्षुधा है कूकरी करत भजन में भंग। याको टुकड़ा देइ के भजन करो निःशंक॥" इन आवश्यकताओं की एक उचित मात्रा में तृप्ति अनिवार्य है। इस हद तक धन और सुख में सम्बन्ध है। किन्तु इससे आगे बढ़ने पर बात बदल जाती है। धन को ही सुख की कुंजी समझ लेने से हम 'धन', जो सुख का केवल साधन मात्र है, साध्य बना देते हैं। यही सब प्रकार की मानसिक अशान्ति की जड़ है। प्रायः देखा जाता है कि धनी से धनी व्यक्ति को भी चित्त की शान्ति नहीं है। मनुष्य को सच्चा सुख उसके शारीरिक, मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य से प्राप्त होता है। मनुष्य का कल्याण, शान्ति और सन्तुष्टि उसकी आत्मा की आन्तरिक तृप्ति के ऊपर निर्भर करती है। जितनी ही कम मनुष्य की इच्छा होती है उतना ही अधिक वह सन्तुष्ट होता है।

तो फिर हमारा निष्कर्ष क्या रहा ? निष्कर्ष यह है कि कुछ हद तक धन सुख का निर्धारण अवश्य करता है। इस हद तक कि मुख्य आवश्यकताओं की तृप्ति होने के कारण शारीरिक पीड़ा न होने पावे। किन्तु सुख की एकमात्र कुंजी वही नहीं है। उसके लिये अन्य बातों की भी आवश्यकता होती है। यदि हममें सन्तोष का बिल्कुल अभाव है तो सारे संसार का धन हमें सुखी नहीं बना सकता। इसके विपरीत यह भी सोचना कि आवश्यकताओं के बिल्कुल अन्त कर देने से ही सच्चा सुख प्राप्त होगा बिल्कुल ठीक नहीं। आवश्यकताएँ कम होनी चाहिएँ।

किन्तु उनको बिल्कुल समाप्त नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा कर दिया जाय तो जीवन से उसका समस्त सार ही चला जायगा। आवश्यकताएँ ही मानवी प्रयत्नों की प्रेरक होती हैं। आवश्यकताओं के अभाव का अर्थ होगा प्रयत्नों का अभाव। प्रयत्नों के अभाव का अर्थ होगा जीवन में मृत्यु। प्रयत्न-रहित जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती।

उपयोगिता

उपयोगिता से हम क्या समझते हैं? मनुष्य विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को एकत्र करने में लगा होता है। क्यों? इसलिए कि उन वस्तुओं के उपभोग से उसकी विभिन्न आवश्यकताएँ पूरी हो जायँ। उपयोगिता इन्हीं वस्तुओं के उस गुण या विशेषता को कहते हैं जिससे वे मनुष्य की आवश्यकताओं को तृप्त कर उसे सन्तुष्ट कर सकती हैं। जब हम किसी वस्तु का प्रयोग करते हैं और उससे हमारी किसी इच्छा की पूर्ति होती है तो यह कहा जाता है कि वह वस्तु हमारे लिए उपयोगी है। **अतः सर्व प्रथम उपयोगिता के सम्बन्ध में हमें स्मरण रखना होगा कि जब तक कोई आवश्यकता किसी व्यक्ति को महसूस नहीं होती तब तक उस आवश्यकता की तृप्ति करने वाली वस्तु की उपयोगिता का प्रश्न नहीं उठता।** प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक मनुष्य रोटी, चावल, मक्खन, दूध-दही, वस्त्र, सजावट की वस्तुएँ इत्यादि बहुत-सी वस्तुएँ प्राप्त करना चाहता है। क्यों? इसीलिए कि उनमें से प्रत्येक वस्तु किसी न किसी आवश्यकता को पूरा करती है।

दूसरी बात जो उपयोगिता के सम्बन्ध में याद रखनी होगी

यह है कि वस्तु की उपयोगिता उसके उपभोग से उत्पन्न प्रभावों पर आश्रित नहीं होती है। किसी वस्तु के उपभोग से लाभ हो सकता है, दूसरी वस्तु के उपभोग से हानि हो सकती है। अर्थशास्त्री वस्तुओं के उपभोग से उत्पन्न लाभ या हानि का विचार उनकी उपयोगिता बताने में नहीं करता है। यदि किसी वस्तु के उपभोग से हानि ही होती हो तो भी उस वस्तु की उपयोगिता होती है यदि मनुष्यों द्वारा वे वस्तुएँ चाही जाती हों और उन आवश्यकताओं की वे तृप्ति करती हों। अतः शराब, गाँजा, भाँग आदि वस्तुएँ, जिनका उपभोग स्वास्थ्य के लिये अहितकर होता है, भी अर्थशास्त्री के विचार से उपयोगी होती हैं। जब तक किसी वस्तु की माँग होती रहती है और फलतः उसका उपभोग होता रहता है तब तक उसमें उपयोगिता होती है चाहे उपभोक्ता के ऊपर उसके उपभोग का अच्छा या बुरा कोई प्रभाव क्यों न पड़े। अतः उपयोगिता का तात्पर्य 'लाभदायकता' से अनिवार्यतः नहीं होता। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से 'उपयोगी' वस्तु लाभदायक और हानिकारक दोनों हो सकती है। बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू आदि नशीली वस्तुएँ लाभदायक नहीं होतीं बल्कि स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती हैं। परन्तु वे मनुष्य की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करती हैं इसलिए वे अर्थशास्त्र के विचार से उपयोगी समझी जाती हैं।

उपयोगिता के सम्बन्ध में हमें उसके आत्मगत (subjective) पहलू को सदैव स्मरण रखना होगा। वास्तव में उपयोगिता किसी वस्तु की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने

की शक्ति का **मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन** (Psychological evaluation) है। उस वस्तु में पाई जाने वाली उपयोगिता की कोई विशेषता नहीं होती अपितु वह एक आत्मगत चीज़ (subjective phenomenon) है, जो मनुष्य की आवश्यकता तथा उसकी गहराई पर निर्भर करती है। **आवश्यकता के ही साथ उसका उदय होता है और उसके अन्त के साथ उसका भी अन्त हो जाता है।** इसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता।

तीसरी चीज़ जो उपयोगिता के सम्बन्ध में याद रखनी होगी यह है कि **किसी वस्तु की उपयोगिता भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिये भिन्न-भिन्न होती है।** कोई वस्तु किसी व्यक्ति को विशेप पसन्द होती है, उसको विशेष आवश्यकता उसको होती है अतः उसकी उपयोगिता उसके लिये अधिक होती है। किन्तु वही वस्तु किसी दूसरे के लिये उतनी उपयोगी नहीं समझी जायगी यदि उसकी उतनी तीव्र चाह उसे न हो। यह भी सम्भव है कि वह उसके लिये बिल्कुल उपयोगी न हो यदि उसकी वह चाह ही नहीं रखता है। शराबी के लिये शराबकी विशेष उपयोगिता है किन्तु जो शराब नहीं पीता और ऐसा करना पाप समझता है उसके लिए वह बिल्कुल उपयोगी नहीं।

उपयोगिता एक ही व्यक्ति के लिये विभिन्न परिस्थितियों में भी विभिन्न हुआ करती है। आज हम शराब नहीं पीते, उसकी हमें कोई आवश्यकता नहीं, अतः उस वस्तु की हमारे लिये कोई उपयोगिता नहीं। कल बीमार पड़ जाते हैं

और दवा रूप में उसका उपभोग अनिवार्य हो जाता है। उसकी हमें विशेष आवश्यकता हो जाती है। फलतः उसकी उपयोगिता भी हमारे लिए विशेष हो जाती है।

मूल्य (Value)

मानवोपयोगी वस्तुओं को दो वर्गों के अन्दर रक्खा जा सकता है। प्रथम वर्ग में उन उपयोगी वस्तुओं को रक्खा जा सकता है जो दुर्लभ नहीं होतीं अर्थात् जो इतनी प्रचुर मात्रा में पाई जाती है कि उनके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वे हमें प्रकृति देवी की कृपा से मुफ्त ही मिलती हैं। जैसे हवा, सूरज की रोशनी, चाँदनी। इस प्रकार की उपयोगी वस्तुएँ विनिमय-साध्य (exchangeable) नहीं होतीं अर्थात् उनका क्रय-विक्रय नहीं होता। दूसरे वर्ग में वे वस्तुएँ आती हैं जो उपयोगी होने के साथ साथ दुर्लभ भी होती हैं अर्थात् जिनको प्राप्त करने के लिये परि म और प्रयत्न करना पड़ता है। जैसे, गेहूं, चावल, मेज, कुर्सी, जूता, छाता आदि। इस प्रकार की वस्तुएँ विनिमय-साध्य होती हैं अर्थात् उनकी अन्य वस्तुओं के साथ अदला-बदली होती है या क्रय-विक्रय होता है।

किसी वस्तु के 'मूल्य' से तात्पर्य उस वस्तु की अपने बदले में अन्य वस्तु या वस्तुओं के प्राप्त कराने की शक्ति से होता है। यदि १ सेर गेहूँ के बदले आधा सेर चावल मिले तो १ सेर गेहूँ का मूल्य आधा सेर चावल कहलायेगा। उसी प्रकार आधा सेर चावल का मूल्य १ सेर गेहूँ हुआ। यदि २ सेर चावल में ५ सेर चना मिले तो २ सेर चावल का दाम ५ सेर चना हुआ। अतः किसी वस्तु के 'मूल्य' से मतलब उस दूसरी वस्तु के परिमाण से होता है जो उस वस्तु के बदले में

किसी समय और स्थान विशेष पर प्राप्त हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तुओं का मूल्य विभिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न होता है तथा समय परिवर्तन के साथ भ उसमें भिन्नता आती रहती है। यदि किसी वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु अधिक परिमाण में मिलती है तो उस वस्तु का मूल्य अधिक होता है। इसके विपरीत यदि उसके बदले में दूसरी वस्तु उससे कम मात्रा में मिलती है तो उसका मूल्य कम होता है।

मूल्य के इस अर्थ से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि एक वस्तु के मूल्य में वृद्धि हो जाय तो दूसरे का मूल्य अपने आप कम हो जायेगा। उदाहरणार्थ, मान लीजिये पहले २ सेर चीनी के बदले ६ सेर बाजरा मिलता था। अब दो सेर चीनी के बदले ७ सेर बाजरा मिलता है। अतः चीनी का मूल्य बाजरे में बढ़ गया क्योंकि पहले प्रति १ सेर चीनी के बदले ३ सेर बाजरा मिलता था और अब प्रति १ सेर चीनी के बदले ३॥ सेर बाजरा मिलता है। यदि बाजरे के मूल्य की दृष्टि से यही चीज देखी जाय तो बात उलटी मालूम पड़ती है। पहले ६ सेर बाजरा के बदले में २ सेर चीनी मिलती थी, अब ७ सेर बाजरा के बदले में २ सेर चीनी मिलती है। अर्थात् पहले ही के बराबर चीनी के लिये अब पहले से अधिक परिमाण में बाजरा देना पड़ रहा है। अतः बाजरे का मूल्य चीनी में कम हो गया।

जैसा कि ऊपर के वर्णन से बिल्कुल स्पष्ट है, वस्तुओं का मूल्य आसानी से नापा जा सकता है। मूल्य उन्हीं वस्तुओं का होता है जो विनिमय-साध्य हैं।

क़ीमत (Price)

साधारण बोल चाल में वस्तुओं के 'मूल्य' और उनकी क़ीमत में कोई अन्तर नहीं समझा जाता किन्तु अर्थ-शास्त्री इन दोनों में भी भेद रखता है। उस भेद को समझने के बाद 'क़ीमत' का अर्थ स्पष्ट हो जायगा।

मुद्रा या सिक्कों के आविष्कार के पहले वस्तुओं की अदला-बदली हुआ करती थी। एक आदमी अपनी वस्तु देकर दूसरे की वस्तु को प्राप्त करता था। गेहूँ के बदले में कपड़ा या जूता या अन्य चीजें प्राप्त की जाती थीं। किन्तु वस्तुओं की अदला-बदली में तरह तरह की कठिनाइयाँ पड़ने लगीं। इसके लिये यह आवश्यक होता था कि प्रत्येक व्यक्ति जो अपनी चीज़ देकर दूसरी चीज़ चाहता था, एक ऐसा आदमी ढूँढ़ निकाले जिसके पास उसकी आवश्यकता की वस्तु हो तथा साथ ही साथ उसे प्रथम व्यक्ति की वस्तु की आवश्यकता हो। इसी प्रकार की अन्य कठिनाइयाँ मालूम पड़ने लगीं। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये तथा मनुष्य के एक ऐसी वस्तु, जिसे प्रत्येक व्यक्ति हमेशा स्वीकार करने के लिये तैयार हो, ढूँढ़ निकालने के निरन्तर प्रयत्नों के फल-स्वरूप क्रमशः मुद्रा या सिक्के का आविष्कार हुआ। मुद्रा के आविष्कार से विनिमय की क्रिया दो रूपों में बँट गई—क्रय और विक्रय। हमें अपनी जिस वस्तु की आवश्यकता नहीं होती उसे विक्रय करके मुद्रा प्राप्त कर लेते हैं तथा उस मुद्रा से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ ख़रीद लेते हैं। अतः वस्तुओं का मूल्य यदि **मुद्रा के रूप में प्रगट किया जाय तो उसी को कीमत कहते हैं।** जैसे यदि १ सेर घी के बदले ४ सेर गेहूँ मिले तो १ सेर घी का

मूल्य ४ सेर गेहूँ कहलायेगा। किन्तु यदि यह कहा जाय कि एक सेर घी का मूल्य ४ रुपया है तो एक सेर घी की क़ीमत ४ रुपया हुई। वस्तुओं को जब हम दूसरी वस्तु से बदलते हैं तब 'मूल्य' का प्रश्न उठता है। जब वस्तुओं को मुद्रा से बदलते हैं हैं तो 'कीमत' की बात उठती है। **मुद्रा या सिक्कों में प्रकट किया हुआ मूल्य ही 'कीमत' कहलाता है।**

आय (Income)

मनुष्य अपनी जीविका कमाने के लिये विविध प्रकार के कार्य करते हैं। जिस किसी कार्य में कोई व्यक्ति लगा हो, एक निश्चित अवधि के भीतर वह जो आमदनी करता है वही उसकी आय कहलाती है। आज कल मुद्रा का युग है। प्रत्येक व्यक्ति की आय रुपए-पैसे में आँकी जाती है। यदि कोई व्यक्ति अपने किये गए एक दिन के कार्य के बदले दो रुपये प्राप्त करता है तो उसकी दैनिक आय दो रुपये की हुई। यों तो हम किसी भी अवधि की आय निकाल सकते हैं किन्तु साधारणतया व्यक्तियों की माहवारी या महीने भर की आय निकाली जाती है। कभी कभी आय की वार्षिक रिपोर्ट भी देनी होती है।

अब प्रश्न यह है कि आय कैसे निकाली जाती है? इसके निश्चित उत्तर के लिये सर्व प्रथम यह निश्चित कर लेना होगा कि दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, माहवारी और वार्षिक में से किस प्रकार की आय निकालनी होगी। इसके बाद हमें यह भी मालूम होना चाहिये कि जिस व्यक्ति की आय निकालनी है वह कौन-सा काम करता है और उसमें वेतन या किये गए कार्य की मजदूरी किस प्रकार चुकाई जाती है। यदि प्रति दिन की मजदूरी मालूम हो तो सप्ताह या एक पक्ष या महीने भर का

जोड़ कर या दिनों की संख्या से गुणा कर (यदि प्रत्येक दिन की मजदूरी बराबर हुई तो) निकाल सकते हैं। जो लोग नौकरी करते हैं उनकी आय इस प्रकार आँकी जा सकती है। जो लोग अपना कोई स्वतन्त्र व्यापार या उत्पादन का कार्य करते हैं उनकी आय निकालने के लिये आय निकाली जाने वाली अवधि के अन्दर कुल कितना व्यय हुआ और कुल कितनी आमदनी हुई। आमदनी में से व्यय घटा देने से उस अवधि की आय मालूम हो जायगी।

आय की दृष्टि से अर्थ-शास्त्र में मनुष्यों को चार वर्गों में रक्खा गया है। जिन लोगों के आय का स्रोत लगान (rent) या किराया होता है उनको जमींदार कहते हैं। जो लोग दूसरे के यहाँ नौकरी कर अपनी जीविका चलाते हैं उनको मजदूर कहते हैं। जो लोग उत्पादन के लिये आवश्यक पूँजी प्रदान करते हैं और उसके सूद से अपना कार्य चलाते हैं उन्हें पूँजी-पति कहते हैं। जो लोग साहस या जोखिम झेल कर उत्पादन का कार्य करते हैं उनकी आमदनी को लाभ या मुनाफा कहते हैं।

मनुष्य की आय ही उसकी आर्थिक दशा का दर्पण होती है। यदि आय पर्याप्त नहीं हुई तो मनुष्य उन्नतिशील जीवन-यापन नहीं कर सकता। आर्थिक निश्चिन्तता ही सब प्रकार की प्रगति का कारण है। जीवन के लिये आवश्यक पदार्थों के लिये शोकातुर रहनेवाला व्यक्ति क्या कर सकता है? अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी और राष्ट्र की आय को भरसक बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिए ताकि वह आर्थिक दृष्टिकोण से निश्चिन्त होकर जीवन के अन्य क्षेत्रों में प्रशस्त मार्गों पर बढ़ सके तथा समाज को भी आगे बढ़ा सके।

तीसरा अध्याय

उत्पत्ति (Production)

उत्पत्ति का साधारण अर्थ अर्थशास्त्रीय अर्थ से बहुत भिन्नता रखता है। **अर्थशास्त्र में उत्पत्ति का अर्थ होता है वस्तुओं की उपयोगिता में वृद्धि करना।** वैज्ञानिकों का कथन है कि मनुष्य पदार्थ उत्पन्न नहीं कर सकता। वह केवल प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुओं को मनुष्य के लिये अधिक उपयोगी बना सकता है। एक उदाहरण द्वारा उत्पत्ति का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगा। एक लकड़िहारे की कल्पना कीजिए जो जंगल से लकड़ी तोड़कर लाता और शहर में बेच कर अपनी जीविका कमाता है। जंगल में जो लकड़ी थी उसे तोड़कर शहर में लाकर वह लोगों के लिये उपयोगी बना देता है क्योंकि लोग उसका उपभोग करके अपनी आवश्यकताओं को तृप्त करते हैं। उसे जलाकर अपना भोजन बनाते हैं और उससे उनकी भूख शान्त होती है। अतः उसका यह कार्य उत्पत्ति कहलायेगा। उसने कोई सर्वथा नई वस्तु नहीं बनाई है और न तो कोई ऐसा कर ही सकता है। वह केवल वस्तु के स्थान में परिवर्तन करके उसे मनुष्योपयोगी बना देता है। जंगल में जो लकड़ी बेकार पड़ी है उसे शहर में लाकर मानवी आवश्यकताओं के दूर करने की शक्ति प्रदान कर देता है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए। एक बढ़ई की कल्पना कीजिए जो मेज़ और कुर्सी बनाता है। प्रायः बढ़ई का मेज-कुर्सी आदि बनाने का कार्य उत्पादन कहा जाता है। किन्तु थोड़ी ही देर सोचने से यह

बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा कि बढ़ई कुर्सी या मेज उत्पन्न नहीं करता है। वह लकड़ी को काटकर उसके रूप को बदल कर मेज या कुर्सी के रूप में लाकर उस लकड़ी की उपयोगिता में वृद्धि कर देता है। एक दर्जी की कल्पना कीजिये जो कुर्त्ता, कमीज और कोट आदि सीने का काम करता है। उसका यह कार्य उत्पत्ति कहलाता है। तो क्या वह सर्वथा किसी नई वस्तु का सर्जन करता है? कदापि नहीं। उसके ग्राहक लोग उसे कपड़ा देते हैं और वह उनके कपड़ों को काट कर उनके आवश्यकतानुसार कुर्ते, कमीज आदि के रूप में लाकर उनकी (कपड़ों की) उपयोगिता में वृद्धि कर देता है। यह विचार मस्तिष्क में प्रवेश कर सकता है कि जुलाहे ने कपड़ा बनाया है। किन्तु वह भी कोई सर्वथा नहीं चीज नहीं बनाता। वह सूत लेकर उसको कपड़े की शक्ल में बदल देता है। सूत कातने वाले का कार्य भी कोई सर्वथा नवीन वस्तु उत्पन्न करना नहीं है। वह धुनी हुई रूई लेकर सूत के रूप में उसे बदल देता है जिससे वह जुलाहे के लिये रूई की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो जाता है। रूई धुनने वाला भी रूई को धुनता है तथा कपास ओटनेवाला कपास ओटकर रूई तैयार करता है। इनमें से कोई भी सर्वथा नई वस्तु का सर्जन नहीं करता। प्रत्येक का कार्य केवल पूर्व-प्राप्त वस्तु के रूपान्तर तक ही सीमित रहता है। कदाचित्त यह विचार मन में उठे कि जिस किसान ने कपास उत्पन्न की उसने कोई नई वस्तु पैदा की है। तो यह विचार भी गलत ही होगा। अन्य व्यक्तियों की भाँति किसान भी सर्वथा नई वस्तु नहीं तैयार करता। कपास के बीज जमीन में बोकर खाद-पानी देकर वह खेती करता है। हवा, मिट्टी और पानी आदि की सहायता से बिनौले से कपास के पेड़

तैयार होते हैं जिनसे कपास मिलती है। इस प्रकार वह भी बिनौले का रूपान्तर करके अधिक उपयोगी वस्तु कपास तैयार करता है।

ऊपर के उदाहरणों से बिल्कुल स्पष्ट है कि मनुष्य सर्वथा नवीन वस्तु का सर्जन नहीं करता। वह प्रकृति-दत्त पदार्थों का रूपान्तर करके उनकी उपयोगिता में वृद्धि कर देता है। **मानव के प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप प्राकृतिक पदार्थों की उपयोगिता-वृद्धि ही को अर्थ-शास्त्र की भाषा में उत्पत्ति कहते हैं।**

उत्पत्ति के भेद

ऊपर कहा जा चुका है कि वस्तुओं की उपयोगिता-वृद्धि का ही नाम उत्पत्ति है। वस्तुओं की उपयोगिता में कई तरह से वृद्धि लाई जा सकती है। उपयोगिता-वृद्धि के इन्हीं विभिन्न प्रकारों के आधार पर उत्पत्ति के भी भेद किये गये हैं। साधारणतया वस्तुओं की उपयोगिता को चार तरह से बढ़ाया जा सकता है—

(१) रूप-परिवर्तन द्वारा;

(२) स्थान-परिवर्तन द्वारा;

(३) समय-परिवर्तन द्वारा या संचय द्वारा;

(४) अधिकारी-परिवर्तन

वस्तुओं के रूप-परिवर्तन द्वारा उनकी उपयोगिता-वृद्धि के उदाहरण निम्नलिखित है:—लकड़ी से मेज-कुर्सी आदि बनाना, दर्जी का कपड़े से कुर्ता, कमीज, कोट आदि तैयार

करना, लोहे से चाकू, कैंची आदि बनाना, सोना-चाँदी से तरह तरह के आभूषण तैयार करना इत्यादि।

इसी प्रकार वस्तुओं के स्थान परिवर्तन द्वारा भी उनकी उपयोगिता में वृद्धि की जाती है। जिस जगह जो वस्तु अधिक मात्रा में पाई जाती है वहाँ से उसे उन स्थानों में ले जाकर जहाँ वह कम मात्रा में होती है या उसकी आवश्यकता अधिक होती है, स्थान-उपयोगिता उत्पन्न की जाती है। जंगल से लकड़ी काट कर बस्ती में लाना या खनिज पदार्थों को खानों से खोद कर बाजार में लाना सबसे अच्छा उदाहरण है। जंगल में लकड़ी की तथा खानों के पास खनिज पदार्थों की बहुत कम उपयोगिता होती है। इन वस्तुओं को विभिन्न प्रकार के याता-यात के साधनों (*गाड़ी, मोटर, रेल आदि*) से इनके स्थान में परिवर्तन करके उनकी उपयोगिता बहुत बढ़ाई जा सकती और जाती है। इसी तरह विभिन्न प्रकार के अन्नों, शाक-भाजियों और फलों आदि को मण्डी में ले जाने से उनकी उप-योगिता बढ़ाई जाती है। यदि नागपुरी या बुटवल के सन्तरों तथा कश्मीरी या काबुली विभिन्न प्रकार के मेवों को विभिन्न स्थानों में न पहुँचाया जाय तो ये पदार्थ अपने उत्पत्ति के स्थान में ही पड़े रहकर बहुत कुछ नष्ट हो जाया करें।

कभी कभी वस्तुओं का रूपान्तर और स्थान-परिवर्तन दोनों साथ साथ होता है। जंगल से लकड़ी काट कर तथा उसके तख्ते चीर कर बाजार में लाया जाना इसका उदाहरण है। खनिज पदार्थों को खानों से खोदकर तथा उन्हें शुद्ध करके शहरों में लाया जाना भी एक ज्वलन्त उदाहरण है।

समय-परिवर्तन या संचय द्वारा उपयोगिता वृद्धि:— कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो जिस समय या ऋतु में पैदा होती हैं

उससे अधिक आवश्यकता आगे चलकर होती है। यदि उन्हें संचित करके रक्खा जाय तो उनकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है। व्यापार द्वारा होनेवाले बहुत से कार्य इस प्रकार की उपयोगिता-वृद्धि के खास उदाहरण हैं। नया चावल, शराब आदि इतने उपयोगी नहीं होते जितने पुराने। अतः उन्हें संचित कर रखने से उनकी उपयोगिता में वृद्धि की जाती है। एक बात यह भी है कि जो वस्तु जिस समय पैदा होती है उस समय अधिक मात्रा में होने के कारण उसकी उतनी उपयोगिता नहीं होती जितनी बाद में। अतः व्यापारी लोग उनका संचय करके अगली फसल तक उसका उपयोग करते हैं।

अधिकारी परिवर्तन : कभी-कभी केवल वस्तु के अधिकारी बदलने मात्र से ही उसकी उपयोगिता में विशेष वृद्धि हो जाती है। इसमें आढ़तियों, दलालों और व्यापारियों के कार्य सम्मिलित हैं। ये लोग वस्तुओं पर उनके अधिकारियों में परिवर्तन कराकर उनकी उपयोगिता को बढ़ाते हैं। बड़े-बड़े व्यापारी जमींदारों से अन्न खरीदकर उन्हें साधारण लोगों तक पहुँचाते हैं, अन्न पर अधिकारियों का परिवर्तन कराते हैं और उसकी उपयोगिता बढ़ाते हैं, क्योंकि साधारण लोगों के लिये वह अधिक उपयोगी होता है।

अब तक उत्पत्ति के केवल भौतिक स्वरूप का वर्णन किया गया है। उपयोगिता-वृद्धि के जो भी भेद बताए गए हैं, उनमें वस्तुओं के रूप, स्थान, समय या अधिकारी में परिवर्तन होता है। इस प्रकार की उत्पत्ति का भौतिक पदार्थों से सम्बन्ध होता है। किन्तु एक प्रकार की उत्पत्ति में भौतिक पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। गायक, नर्तकियाँ एवं विविध प्रकार के

खेल-तमाशा दिखानेवाले श्रोताओं और दर्शकों को अपनी कला से मनोरञ्जित करके उनकी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। इसी प्रकार वैद्य (हकीम या डाक्टर), वकील, न्यायाधीश, अध्यापक आदि भौतिक पदार्थों की उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से नहीं बढ़ाते, बल्कि अपनी सेवाओं से उत्पत्ति में सहायक होते हैं—डाक्टर (हकीम या वैद्य) लोगों का स्वास्थ्य बढ़ाता है, सिपाही और सैनिक लोगों के जान-माल की रक्षा करते हैं। यही कारण है कि अर्थशास्त्र की दृष्टि से ये सब उत्पादक समझे जाते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह प्रत्यक्ष रूप में भौतिक पदार्थों की उपयोगिता में उनके रूप, स्थान, समय या अधिकारी में परिवर्तन करके वृद्धि करता है या अन्य प्रकार से अपनी सेवाओं से लोगों का मनोरञ्जन करके या उनका स्वास्थ्य ठीक करके या उनके ज्ञान की वृद्धि करके उनकी कार्य-क्षमता में वृद्धि करता है और इस प्रकार धनोत्पत्ति में सहायक होता है, उत्पादक होता है। उत्पत्ति का आशय उपयोगिता की वृद्धि या उत्पत्ति से है, भौतिक पदार्थ की उत्पत्ति से नहीं।

उत्पत्ति के साधन (Factors of Production) उत्पत्ति की वास्तविक प्रकृति पर विचार कर लेने के पश्चात् हमें उसके साधनों पर दृष्टिपात करना है। हर प्रकार के कार्य के लिये कुछ आवश्यक साधनों की आवश्यकता होती है। धनोत्पत्ति के लिए किन-किन चीजों की आवश्यकता होती है? उत्पत्ति

की व्याख्या करते समय यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया गया है कि उसका तात्पर्य वस्तुओं की भौतिक उत्पत्ति से नहीं है, बल्कि उपयोगिता-उत्पत्ति से। यह उपयोगिता की वृद्धि रूप-परिवर्तन, स्थान-परिवर्तन, समय-परिवर्तन या अधिकारी-परिवर्तन द्वारा मुख्यतः होता है। अतः उत्पत्ति के लिये दो मुख्य साधनों के सहयोग की अवश्यकता होती है—(१) प्राकृतिक पदार्थों या वस्तुओं की, जिनकी उपयोगिता की वृद्धि की जाती है। (२) मानव-श्रम की, जो उन पदार्थों के रूपान्तर, स्थान-परिवर्तन करने इत्यादि में व्यय होता है। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ और की भी आवश्यकता होती है। सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में भी मानव को भोजन प्राप्त करने के लिये तीन काम करने पड़ते थे—(१) उसे उस स्थान का पता रखना पड़ता था जहाँ जङ्गली चिड़ियाँ या अन्य जानवर मिलते हों और वह उनका शिकार कर सके। (२) उसे वहाँ तक जाने और उन्हें पकड़ने का परिश्रम करना पड़ता था। (३) आवश्यक हथियार उसके पास होते थे। इसी प्रकार कुम्हार को अपना कार्य करने के लिये एक घर होना चाहिये, मिट्टी खोदने और लाने के लिये आवश्यक प्रयत्न करने के लिये तत्पर रहना चाहिये तथा उसके पास एक चाक (wheel), उसके चलाने के लिये डण्डा और सूत इत्यादि वस्तुएँ जो मिट्टी के बर्तन बनाने में काम में लाई जाती हैं, होनी चाहिएँ। इन सब उदाहरणों में तीन प्रकार के साधनों की जरूरत स्पष्ट है। प्राकृतिक पदार्थों, मानवी श्रम और मानवी श्रम में सहायता पहुँचाने वाली वस्तु, जिसे पूँजी कहते हैं। इस प्रकार आरम्भ में उत्पत्ति के तीन ही मुख्य साधन माने जाते थे—भूमि (Land), श्रम (Labour) और पूँजी (Capital)। किन्तु सभ्यता के तीव्र विकास तथा

उसके परिणाम-स्वरूप समाज के आर्थिक-सङ्गठन के अभूतपूर्व पेचीदापन के कारण दो और साधनों को आवश्यक समझा जाने लगा है—प्रबन्ध (Organisation) और साहस (Enter prise)।

किसी भी उत्पत्ति के कार्य को लीजिए। उनमें प्रथम तीन साधनों का सहयोग अवश्य होगा। खेती हमारे यहाँ का मुख्य धन्धा है। अतः सर्वप्रथम हम इसी पर विचार करें। खेती करने के लिये भूमि चाहिये, इसे कौन नहीं जानता ? खेत के अलावे खेती करनेवाला जिसे साधारणतया किसान कहते हैं, होना चाहिये। किन्तु इन दोनों साधनों की उपस्थिति मात्र से ही खेती नहीं हो सकती, जब तक तीसरा साधन, जैसे हल, बैल और बीज इत्यादि, न हो। यही तीसरा साधन तो पूँजी कहलाता है।

अब दस्तकारी का एक उदाहरण लीजिए। एक कपड़े की मिल ही ले लीजिए। मिल खड़ी करने के लिये भूमि चाहिये, उसमें कार्य करने के लिये मजदूर चाहिएँ, मिल की मशीनें, उसके लिये कच्चा माल रूई और मशीनों को चलाने के लिये कोयला आदि चाहिए। मशीनें, कच्चा माल रूई और कोयला आदि तीसरे साधन पूँजी के उदाहरण हैं। किन्तु यहाँ पर अन्य दो साधनों की भी आवश्यकता है। कपड़े की विशाल मिल में अकेले-दुकेले आदमी काम नहीं करते। उसमें सैकड़ों और सहस्रों आदमी एक साथ काम करते हैं। ऐसी स्थिति में इन सैकड़ों-सहस्रों कार्य करनेवाले व्यक्तियों के कार्य की देख-रेख करने की आवश्यकता उत्पन्न होती है जिसके लिये प्रबन्धक चाहिये, जो यह निर्णय करे कि विभिन्न साधनों को उत्पादन-कार्य में किस अनुपात में लगाया जाय ताकि श्रेष्ठतम फल

प्राप्त हो सके, कच्चा माल कहाँ से मँगाना चाहिये, किस तरह लगाए गए साधनों का सर्वोत्तम उपयोग हो सकता है। ये सब और इस तरह के अन्य प्रश्नों को हल करने के लिये एक आधुनिक फर्म या व्यवसाय को प्रबन्धक या प्रबन्धकों की आवश्यकता होती है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से प्रबन्धक भी एक प्रकार का श्रमजीवी (मजदूर) ही होता है। वह भी श्रम ही करता है, किन्तु उसका श्रम अन्य श्रमजीवियों के श्रम से कुछ भिन्नता रखता है। अन्य मजदूरों के ऊपर उनके निर्धारित कार्य की जिम्मेदारी होती है। प्रबन्धक उन सबके कार्यों का निरीक्षण और नियन्त्रण करता है तथा उत्पत्ति के अन्य साधनों—भूमि, श्रम और पूँजी—का भी प्रबन्ध करता है। आजकल के बड़े पैमाने के उत्पादन के युग में इसका विशेष महत्व है और इसी महत्व के ही कारण इसे लोग उत्पत्ति का एक अलग साधन मानने लगे हैं।

उत्पत्ति का जोखिम उठानेवाला व्यक्ति साहसी कहलाता है। वह मिल या कारखाने के हानि-लाभ का फलतः उस कारखाने के अच्छी प्रकार चलाने या दीवालिया होकर नष्ट हो जाने का जोखिम उठाता है। प्रबन्धक की भाँति साहसी का भी आजकल के मशीन-युग में, जब कि वस्तुओं का उत्पादन बड़ी मात्रा में बड़ी-बड़ी मिलों में होता है, बहुत महत्व बढ़ गया है और यह उत्पत्ति का एक अलग साधन माना जाने लगा है।

इस तरह उत्पत्ति के निम्नलिखित मुख्य साधन हुए—

(१) भूमि,
(२) श्रम,
(३) पूँजी,

(४) प्रवन्ध और
(५) साहस।

प्रवन्ध और साहस को मिलाकर संयुक्त रूप में व्यवस्था कहते हैं। इसके लिये कभी-कभी सङ्गठन शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।

भूमि (Land)

'भूमि' का अर्थशास्त्रीय अर्थ उसके साधारण वोल-चाल के अर्थ से वहुत भिन्न है। जनसाधारण 'भूमि' शब्द से पृथ्वी की सतह या जमीन का अर्थ लगाते हैं। किन्तु एक अर्थशास्त्री के लिए 'भूमि' शब्द का वड़ा व्यापक अर्थ है। उनके अनुसार पृथ्वी की सतह के अतिरिक्त उसके नीचे और ऊपर पाई जाने वाली समस्त प्राकृतिक वस्तुएँ और शक्तियाँ जो मनुष्य को अपनी सहायता के लिये प्राप्त हैं, 'भूमि' के अन्तर्गत आती हैं। इस परिभाषा के अनुसार जमीन के अतिरिक्त 'भूमि' से पानी, हवा, नदी, पहाड़, झरने, जङ्गल, सूरज की रोशनी, वर्षा, खानों से निकलने वाले विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थों इत्यादि सभी प्राकृतिक वस्तुओं का वोध होता है। 'भूमि' को दूसरा नाम 'प्राकृतिक साधनों' का दिया जा सकता है। इस परिभाषा से विल्कुल स्पष्ट है कि 'भूमि' और 'प्रकृति' दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं। फिर भी अर्थशास्त्र में 'भूमि' का ही प्रयोग अधिकतर होता है, क्योंकि 'भूमि' का अर्थ निश्चित है और उसमें हमें केवल यही स्मरण रखना है कि उसके ऊपर और नीचे पाई जानेवाली समस्त प्राकृतिक वस्तुएँ जो मनुष्य के उत्पत्ति के काम में सहायक होती हैं, भूमि के अन्दर शामिल हैं। प्रकृति शब्द के अन्य भी वहुत से अर्थ हैं।

अतः इसका प्रयोग अर्थ की स्पष्टता और निश्चितता के विचार
से उतना अच्छा नहीं।

भूमि की प्रमुख विशेषता, जो इसे अन्य उत्पत्ति के साधनों
से पृथक् करती है, यह है कि इसकी **मात्रा निश्चित और
सीमित है। यह मात्रा मनुष्य के प्रयत्नों द्वारा बढ़ाई नहीं
जा सकती।** और साधनों की मात्रा स्वेच्छा से बढ़ाई या
घटाई जा सकती है, किन्तु 'भूमि' के सम्बन्ध में ऐसा नहीं हो
सकता। चाहे हम लोग कितना ही परिश्रम क्यों न करें और
अपना वैज्ञानिक ज्ञान कितना ही क्यों न बढ़ा लें फिर भी भू-
गर्भ में जितना लोहा या कोयला या अन्य खनिज पदार्थ है
उसकी मात्रा को बढ़ा या घटा नहीं सकते। उसी प्रकार सूरज
की रोशनी, पृथ्वी का क्षेत्रफल इत्यादि वस्तुएँ घटाई-बढ़ाई
नहीं जा सकतीं। वर्षा, धूप और हवा आदि पर भी कोई
नियन्त्रण नहीं स्थापित किया जा सकता।

सब भूमि एक-सी नहीं होती। कुछ अधिक उपजाऊ होती
है तो कुछ कम। खेती करने के योग्य भूमि में स्थिति और
उपजाऊपन के दृष्टिकोण से बहुत भिन्नता पाई जाती है। भूतल
का कुछ भाग बिल्कुल खेती के अयोग्य है; जैसे दुनिया के रेगि-
स्ताना प्रदेशों की भूमि या उन प्रदेशों की जमीन जहाँ शीत की
अधिकता के कारण साल भर तक बर्फ पड़ी रहती है और पेड़-
पौदे नहीं उगते; जैसे, ग्रीनलैण्ड। इसके विपरीत नदियों की
घाटियाँ जैसे गङ्गा-सिन्धु की घाटियों की जमीन बहुत ही
उपजाऊ है।

भूमि का महत्व कई बातों पर निर्भर करता है। इस
सम्बन्ध में सबसे मुख्य चीज भूमि का **प्राकृतिक उपजाऊपन**
(natural fertility) होता है। जो जमीन जितनी ही

अधिक उपजाऊ होगी उसका उतना ही अधिक मूल्य और महत्व होगा। **यातायात के साधनों का भी उस पर विशेष प्रभाव पड़ता है,** क्योंकि इनकी वृद्धि के साथ दूर और पहुँच के बाहर की भूमि भी आसानी से काम में लाई जा सकती है। स्थिति सम्बन्धी कठिनाइयाँ और परेशानियाँ यातायात की सुविधाओं के प्रसार से क्रमशः दूर हो जाती हैं। **उद्योगों के विकास से भी भूमि का महत्व बढ़ता जाता है।** जितने ही अधिक उद्योगों का विकास किसी देश या प्रान्त में होगा उतनी ही अधिक आवश्यकता प्राकृतिक साधनों की वहाँ होगी और इस प्रकार उनकी कदर बढ़ती जायगी। जहाँ उद्योगों की उन्नति नहीं होगी वहाँ के प्राकृतिक साधन मुख्यतः बेकार पड़े रहेंगे। देश की आर्थिक दशा सन्तोषजनक नहीं रहेगी। अतः औद्योगीकरण से भूमि का महत्व बढ़ता जाता है। **यही बात व्यापार की उन्नति के सम्बन्ध में लागू है।** जब किसी स्थान या प्रान्त के व्यापार में उन्नति होती है तब उसके समीप की भूमि का महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है।

श्रम

उत्पत्ति का दूसरा साधन श्रम है। बिना श्रम के कोई भी वस्तु पैदा नहीं की जा सकती। किसी भी प्रकार के उत्पादन के लिए श्रम का होना अनिवार्य है। प्रश्न यह है कि अर्थशास्त्र में हम 'श्रम' से क्या समझते हैं? यहाँ भी हमें 'श्रम' के जन-प्रिय अर्थ और विशिष्ट अर्थ का अन्तर समझना होगा तभी अर्थ-शास्त्रीय अर्थ की वास्तविक प्रकृति समझी जा सकती है। जन साधारण द्वारा लगाए जानेवाले अर्थ के अनुसार मनुष्य द्वारा किसी भी कार्य में शारीरिक और मानसिक शक्ति का

व्यय करना ही श्रम करना कहलाता है किन्तु अर्थ-शास्त्रियों के अनुसार श्रम का दूसरा ही अर्थ है। वे 'श्रम' का प्रयोग एक संकुचित अर्थ में करते हैं। उनके विचारानुसार धनोत्पत्ति-सम्बन्धी कार्यों में शारीरिक या मानसिक शक्ति को व्यय करना ही श्रम करना है। यदि किसी कार्य में हम मनोरंजन के लिये अपने को लगाते हैं तो उसमें जो श्रम करते हैं वह अर्थ-शास्त्री के दृष्टिकोण से श्रम नहीं कहलाएगा। किन्तु वही श्रम यदि हम धनोपार्जन या जीविकोपार्जन करने में लगाए होते तो अर्थ-शास्त्र के विचार से श्रम कहलाता। एक उदाहरण से यह बिलकुल स्पष्ट हो जायगा। माली का बगीचे में किया गया श्रम आर्थिक-दृष्टि से श्रम कहा जायगा क्योंकि वही उसके जीविकोपार्जन का साधन है। किन्तु बगीचे का स्वामी कभी कभी मनोरंजनार्थ भी बाग में कुछ काम यदि करे तो उसके श्रम को अर्थ-शास्त्र की भाषा में श्रम नहीं कहेंगे। एक और उदाहरण लीजिए। मोहन एक फुटबाल का खिलाड़ी है। वह नित्यप्रति पाठशाला के पठन-पाठन के बाद खेल के मैदान में जाता है और अपने अन्य सहपाठियों के साथ फुटबाल खेलता है। मोहन और उसके सहपाठियों का श्रम श्रम नहीं है। क्योंकि वे इसके द्वारा अपनी जीविका नहीं चलाते और न किसी प्रकार के धनोत्पादन का ही उद्देश्य रखते हैं। उनका शौक उसमें है और उससे वे आनन्दित और मनोरंजित होते हैं। इसलिए खेलते हैं। अतः अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से उनके द्वारा शारीरिक या मानसिक शक्ति का व्यय श्रम नहीं कहलाएगा। किन्तु यदि मोहन और उसके साथी अपने को व्यवसायिक खिलाड़ी के रूप में बदलदें और उसी से जीविका-उपार्जन करने लगें तो खेल में किया गया श्रम अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से श्रम कहलाने लगेगा। अतः सबसे पहली

चीज जो श्रम के सम्बन्ध में स्मरण रखनी है यह कि **अर्थ-शास्त्र में मनोरंजनार्थ किया गया शारीरिक या मानसिक श्रम श्रम नहीं कहलाता। धनोत्पत्ति या जीविकोपार्जन के लिये किया गया श्रम ही श्रम कहलाता है।** पुत्र यदि श्रद्धा-भक्ति के वश अपने माँ-बाप की सेवा करे तो उसको श्रमिक नहीं कहा जायगा, न तो उसकी सेवाओं की गिनती ही 'श्रम' में की जायगी। यदि कोई यात्री पर्वत पर केवल दृश्य देखने के लिये चढ़े तो उसका श्रम 'श्रम' नहीं है, किन्तु जो आदमी उसको रास्ता दिखाने के लिये उसके साथ जाता है उसका चढ़ने में किया गया श्रम अर्थशास्त्रीय श्रम होगा क्योंकि इससे वह कुछ धन प्राप्त करने का उद्देश्य रखता है।

दूसरी बात जो 'श्रम' के सम्बन्ध में याद रखनी है यह है कि **अर्थ-शास्त्र की भाषा में 'श्रम' से तात्पर्य केवल मनुष्यों के श्रम से होता है।** अन्य जीवधारियों का श्रम उसके अन्तर्गत नहीं आता। **प्रत्येक मानवीय प्रयत्न जो आनन्द-प्राप्ति की दृष्टि से नहीं किया जाता बल्कि धनोपार्जन या किसी प्रकार की उपयोगिता उत्पन्न करने के विचार से किया जाता है अर्थ-शास्त्र की भाषा में श्रम (labour) कहलाता है।**

श्रम के भेद कई प्रकार से किए गए हैं। पहला भेद **शारीरिक और मानसिक श्रम का है।** जिस कार्य में शारीरिक शक्ति का व्यय होता है उसे शारीरिक श्रम कहते हैं और जिसमें मस्तिष्क का काम पड़ता है उसे मानसिक श्रम कहते हैं। किन्तु वास्तव में यह भेद कृत्रिम ही है। प्रत्येक कार्य में

शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की शक्तियों का व्यय होता है। किसी कार्य में शारीरिक शक्ति का व्यय अधिक होता है और किसी में मानसिक शक्ति का व्यय अधिक होता है। किन्तु दोनों प्रकार की शक्तियों का व्यय प्रत्येक कार्य में थोड़ा-बहुत अवश्य होता है। किसान, मजदूर, बढ़ई, लोहार आदि का श्रम शारीरिक श्रम का उदाहरण है। डाक्टर, वकील, अध्यापक आदि का श्रम मानसिक श्रम का उदाहरण है। यह भेद सामान्य दृष्टि से ही सही है न कि सूक्ष्म सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से।

एक दूसरा भेद कुशल (skilled) और अकुशल (unskilled) श्रम का है। किसी-किसी श्रम में विशेष सावधानी और चतुराई की आवश्यकता होती है, जिसे हासिल करने के लिये शिक्षा और ट्रेनिंग की भी आवश्यकता होती है। मोटर या रेलगाड़ी चलाना, टाइप करना इत्यादि इसके उदाहरण हैं। इसके ठीक उलटे जिन कार्यों को करने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा या ट्रेनिंग की जरूरत नहीं पड़ती उसे अकुशल श्रम कहते हैं, जैसे भेंड़ चराना।

'उत्पादक' और 'अनुत्पादक' श्रम का भेद विशेष महत्व का है। धनोत्पादन में लगा हुआ सफल श्रम उत्पादक श्रम कहलाता है। प्रत्येक श्रम जिससे किसी न किसी प्रकार की उपयोगिता उत्पन्न होती है उत्पादक श्रम की श्रेणी में आता है। इसके विपरीत अपने उद्देश्य में असफल श्रम अनुत्पादक श्रम कहलाता है। जिस श्रम से कोई उपयोगिता नहीं पैदा होती वही अनुत्पादक श्रम कहलाता है। कल्पना कीजिए कि किसी कम्पनी ने एक नहर बनवाने का निश्चय किया और कार्य आरम्भ कर दिया। किन्तु बाद में उसे उस निश्चय को इस-

लिए बदलना पड़ा कि उस योजना को क्रियात्मक रूप नहीं दिया जा सकता था। अतः उसके सम्बन्ध में किया गया प्रारम्भिक श्रम अनुत्पादक कहलायेगा क्योंकि उससे कोई लाभ नहीं हुआ। यदि पूरी नहर बन जाती और उसका उपयोग उत्पादन कार्यों में होता तो वह श्रम उत्पादक कहलाता।

'भूमि' की तरह 'श्रम' भी उत्पत्ति का एक मुख्य साधन है। इसके बिना किसी प्रकार का उत्पादन नहीं हो सकता। श्रम के सम्बन्ध में दो एक और बातें स्मरणीय है। **श्रम बड़ी शीघ्रता से नष्ट हो जाता है। नाशवान् वस्तुओं में 'श्रम' का पहला स्थान है।** यदि कोई श्रमिक बेकार है तो जब तक वह बेकार रहेगा तब तक की उसकी मजदूरी हमेशा के लिये उसके हाथ से निकल गई। **श्रमिक अपने श्रम का संचय नहीं कर सकता।** यही कारण है कि अपनी क़ीमत या मज़दूरी के मोल-भाव करने में श्रमिक को विशेष असुविधा रहती है। **अच्छी मजदूरी के लिए वह लम्बे अरसे से प्रतीक्षा नहीं कर सकता।** इसके विपरीत व्यापारी अपनी वस्तुओं का बेचना बन्द कर सकता है यदि उनकी क़ीमत बहुत कम हो जाय। यही कारण है कि बेकारी से बचने के लिए मज़दूर कम मज़दूरी पर भी काम करने के लिए बाध्य हो जाते हैं, क्योंकि बेकारी के समय का उनका श्रम नष्ट हो जाता है। **'श्रम' की पूर्ति (Supply) भी अन्य भौतिक वस्तुओं की पूर्ति की तरह शीघ्रता से घटाई या बढ़ाई नहीं जा सकती।** किसी भी व्यवसाय के लिए श्रमिकों को तैयार करने में पर्याप्त लम्बी अवधि की आवश्यकता पड़ती है। यदि किसी व्यवसाय में मज़दूरों की माँग बढ़ जाय तो उसके पूरा करने के लिए

या तो उस व्यवसाय के लिये तैयार किए जानेवाले श्रमिकों की संख्या बढ़ाई जाय या अन्य व्यवसायों से श्रमिक इस व्यवसाय में खींच लिए जायँ। दोनों कार्यों में पर्याप्त विलम्ब होता है। आबादी के बढ़ने-घटने में समय लगता है। श्रमिक आसानी से स्थान-परिवर्तन भी नहीं करते। इसी प्रकार यदि श्रम की पूर्ति माँग से अधिक हुई तो भी पूर्ति और माँग में सन्तुलन स्थापित करना कठिन होता है। या तो बेकारों को अन्यत्र काम दे दिया जाय या हमेशा के लिये बेकार कर दिए जाँय या मृत्यु को प्राप्त हो जाँय, तभी यह गड़बड़ी ठीक हो सकती है। निष्कर्ष यह रहा कि श्रम की माँग और पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करना बड़ा कठिन होता है।

पूँजी (Capital)

उत्पत्ति का तीसरा साधन 'पूँजी' है। 'पूँजी' का ठीक-ठीक अर्थ समझना बहुत आवश्यक है। पूँजी क्या है? मनुष्य अपनी आवश्यकताओं कि तृप्ति के लिये अपने को विभिन्न प्रकार के कार्यों में लगाता है। वह जो धन उत्पन्न करता है उसे यदि वह चाहे तो कुल उपभोग में लाकर आवश्यकताओं की तृप्ति में व्यय कर सकता है या उसमें से कुछ बचा ले। **मनुष्य अपनी उत्पत्ति में से जो धन बचा लेता है और उसे अन्य उत्पत्ति के कार्यों में लगाता है उसी को पूँजी** कहते हैं। इससे तीन बातें पूँजी के सम्बन्ध में मालूम पड़ती हैं—(१) पूँजी मनुष्य के प्रयत्न का परिणाम है। (२) वह मनुष्य के उत्पादन का बचा हुआ भाग है। (३) बचा हुआ भाग तभी पूँजी की श्रेणी में गिना जायगा जब कि वह किसी अन्य धनोत्पत्ति के कार्य में लगाया जाय। एक उदाहरण

लीजिए। मोहन खेती करता है। वह गेहूँ, जौ, धान इत्यादि अन्न पैदा करता है। अपनी कुल पैदावार को वह दो प्रकार से खर्च कर सकता है। यदि वह चाहे तो कुल पैदावार को अपनी वर्तमान आवश्यकताओं को तृप्त करने में उपभोग कर सकता है या यदि उसमें कुछ दूरदर्शिता हुई तो उसका कुछ भाग बचा लेगा और शेष से अपनी वर्तमान जरूरतों को सन्तुष्ट करेगा। पैदावार के बचाए हुए भाग को वह अगली फसल के बोने के समय बीज के रूप में और मज़दूरी के लिए व्यय कर सकता है। पैदावार के बचाए हुए भाग का जो हिस्सा बीज और मज़दूरी में व्यय होगा वह पूँजी कहलाएगा क्योंकि उसका उपयोग भविष्य के उत्पादन के लिए होगा। उत्पन्न धन का बचा लेना ही उसके 'पूँजी' कहलाने के लिये पर्याप्त नहीं है। बल्कि उस बचाए हुए धन का किसी अन्य उत्पादन के कार्य में लगाया जाना अनिवार्य होता है। अतः **'पूँजी' मनुष्य की बचत (saving) का वह भाग है जो भविष्य में धनोपार्जन के उद्देश्य से किसी उत्पत्ति के कार्य में लगाया जाय।** इस तरह विविध उत्पादक कार्यों में लगाए गए समस्त हथियार-औजार, मशीनें, मकान आदि पूँजी की ही गणना में आते हैं। **अतः सब पूँजी 'धन' है, यद्यपि सब 'धन' पूँजी नहीं है।** पूँजी धन का वह भाग है जो उत्पत्ति में सहायक हो। प्रत्येक प्रकार का धन 'पूँजी' हो सकता है यदि उसका उपयोग 'श्रम' के साथ धनोपार्जन में किया जाय। कोई आदमी एक घोड़ा रक्खे है। वह उस पर कभी-कभी मनोरंजन के लिये थोड़ी सफर करता है। एक दूसरा आदमी अपने घोड़े का प्रयोग खेत जोतने और सामान ढोने के लिए

करता है। पहले आदमी का घोड़ा केवल उसका धन कहलाएगा, किन्तु दूसरे व्यक्ति का घोड़ा उसकी पूँजी में गिना जायगा।

पूँजी के सम्बन्ध में दूसरी बात जो ऊपर के उदाहरण (घोड़े वाले) से स्पष्ट झलकती है, यह है कि **एक वस्तु एक व्यक्ति के लिए पूँजी हो सकती है और किसी अन्य व्यक्ति के लिए केवल उपभोग की वस्तु।** मनोरञ्जन के लिए बजाने वाले व्यक्ति को हारमोनियम केवल उपभोग की वस्तु है, किन्तु एक व्यावसायिक सङ्गीतज्ञ के लिए वह पूँजी है, क्योंकि उसे वह धन कमाने के कार्य में लगाता है।

पूँजी के भेद

साधारणतया पूँजी के दो भेद किए जाते हैं। एक प्रकार की पूँजी को **चल पूँजी** (circulating capital) और दूसरे प्रकार की पूँजी को **अचल पूँजी** (fixed capital) कहते हैं। चल और अचल पूँजी का अन्तर एक उदाहरण से सुगमतापूर्वक स्पष्ट किया जा सकता है। मोहन एक किसान है, जो खेती करता है। खेती करने के लिए उसे भूमि की आवश्यकता है, जो प्रकृति से मिली है; श्रम की आवश्यकता को वह स्वयं पूरा करता है। इन दो वस्तुओं के अतिरिक्त उसे हल, बैल, बीज की भी आवश्यकता होती है। हल-बैल की गणना अचल पूँजी में होती है और बीज या मजदूरी में दिया गया अन्न चल पूँजी का उदाहरण है।

जो पूँजी एक बार के उपयोग में नष्ट हो जाती है उसे चल पूँजी कहते हैं। बीज एक ही बार बोया जाता है। अतः

वह चल पूँजी है। कोयला या जलौनी लकड़ी, मजदूरों की मजदूरी, मिट्टी में मिलाई जानेवाली खाद इत्यादि चल पूँजी के उदाहरण हैं। **इसके विपरीत जो पूँजी कुछ दिनों तक रहती है, जिसका कई वार प्रयोग विभिन्न उत्पादन-कार्यों में होता है वह अचल पूँजी है।** विभिन्न प्रकार के हथियार या औजार, मशीनें, नहरें, रेलवे इत्यादि जिनकी सेवाएँ उत्पादन-कार्यों में निरन्तर कुछ अवधि तक चलती हैं, इसके उदाहरण हैं। किसान का हल-बैल भी इसी कारण इसी श्रेणी में रक्खा गया है।

आधुनिक औद्योगिक सङ्गठन में पूँजी का महत्व बहुत बढ़ गया है। इसके महत्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आधुनिक युग को पूँजीवादी युग कहा है। युग के नाम के आगे 'पूँजी' शब्द का होना उसके अत्यधिक महत्व का द्योतक है। पूँजी की आवश्यकता तो प्रारम्भिक मानव को भी अपनी अपेक्षाकृत असभ्यावस्था में प्रतीत होती थी। जानवरों का शिकार करने के लिए उसे विभिन्न प्रकार के अस्त्रों की आवश्यकता पड़ती थी और मछली पकड़ने के लिए जाल और लकड़ी का प्रयोग करते थे। जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य होता गया, वह वस्तुओं के उत्पादन की उत्तरोत्तर नई और उत्तम रीतियाँ निकालता गया और इनके साथ-साथ पूँजी का महत्व दिनों-दिन बढ़ता गया। वर्तमान मशीन-युग ने, जिसमें वस्तुओं का उत्पादन बड़ी मात्रा में विशालकाय मिलों और कारखानों में होता है, पूँजी के महत्व को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का पूँजीवादी व्यवस्था (capitalist system) कहा जाना इसका अकाट्य प्रमाण है।

प्रबन्ध (Organisation)

आधुनिक युग में 'प्रबन्ध' का भी विशेष महत्व हो गया है। यों तो छोटी मात्रा के उत्पादन की दशा में भी प्रबन्ध करना होता है, किन्तु आजकल के बड़ी मात्रा के उत्पादन के युग में जहाँ सैकड़ों सहस्रों मजदूर एक साथ काम करते हैं, लाखों रुपए की कीमत की पूँजी लगाई जाती है, यह काम बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि साधारण आदमी बड़ी चीजों का प्रबन्ध कुशलता के साथ नहीं कर सकते। किसी भी व्यवसाय की सफलता उसके प्रबन्ध की उत्तमता पर निर्भर होती है। यदि कर्मचारी प्रबन्ध से खुश हैं तो कार्य समुचित ढङ्ग से करेंगे और व्यवसाय उत्तरोत्तर उन्नति करता जायगा।

प्रबन्धक का मुख्य कार्य भूमि, श्रम और पूँजी की मात्रा को इस प्रकार व्यवस्थित करना है कि सबसे अच्छा फल प्राप्त हो। किस उत्पादन के लिये किस प्रकार की भूमि का प्रयोग किया जाय, श्रम का उपयोग कितना और किस प्रकार का हो, पूँजी की मात्रा क्या होगी तथा इन तीनों का सम्मिलित उपयोग किस प्रकार किया जाय कि न्यूनतम व्यय से अधिकतम फल की प्राप्ति हो। प्रबन्धक विभिन्न साधनों को एकत्र करके उन्हें उत्पादन-कार्य में संयुक्त करता है। उत्पादन-कार्य के सिलसिले में उत्पादन-कार्य का निरीक्षण और नियन्त्रण करता है ताकि प्रत्येक कार्य समुचित ढङ्ग से सम्पादित हो सके। श्रमिकों में उनकी योग्यता के अनुसार कार्यों का वितरण, उत्पन्न माल के विज्ञापन का प्रबन्ध उसकी लाभदायक बिक्री के लिए, उसी को करना पड़ता है। उसे बाजार का भी अध्ययन करना होता है और इसका अनुमान लगाना पड़ता है कि कितने माल की खपत हो सकती है। उसी के अनुसार उसे अपने यहाँ उत्पन्न

वस्तु की मात्रा को नियमित करना होगा। उसे उन सम्भव उपायों के सम्बन्ध में भी विचार करना होगा जिससे उसके माल की बिक्री बढ़े और व्यवसाय दिनों-दिन उन्नति करे।

उपर्युक्त विवेचन से प्रबन्ध और प्रबन्धक का महत्व स्पष्ट हो जाता है। प्रबन्ध का क्षेत्र भी बहुत ही विस्तृत है। प्रबन्ध की तुलना उस कारीगर से की जा सकती है जो मशीन के विभिन्न पुर्जों को उचित प्रकार से जोड़कर मशीन—उपयोगी मशीन—के रूप में खड़ा कर देता हो। प्रबन्ध भी उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को एकत्र और संयुक्त करके उत्पादन-यन्त्र (productive mechanism) का निर्माण करता है।

साहस या जोखिम (Enterprise)

उत्पत्ति के चार साधनों—भूमि, श्रम, पूँजी और प्रबन्ध—का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। पाँचवा साधन 'साहस' या 'जोखिम' कहलाता है। इससे हम क्या समझते हैं? इसकी क्या आवश्यकता है? क्या इसके बिना उत्पादन-कार्य नहीं चल सकता? इन्हीं प्रश्नों पर यहाँ पर विचार करना होगा। कल्पना कीजिए कि उत्पत्ति के अन्य चार साधन—भूमि, श्रम, पूँजी और प्रबन्ध—वर्तमान हैं और साहस का अभाव है। क्या उस दशा में उत्पादन-कार्य चल सकता है? भूमि का स्वामी अपने लगान के सम्बन्ध में निश्चिन्त होना चाहता है, श्रमिक यह चाहता है कि उसकी मजदूरी निश्चित रूप से मिला करे, पूँजीपति अपनी पूँजी का सूद या ब्याज निरन्तर प्राप्त करना चाहता है और प्रबन्धक भी अपने किए प्रयत्नों का वेतन चाहता है। ये चारों साधन अपने-अपने हिस्से के बारे में निश्चिन्त रहना चाहते हैं। किन्तु उत्पादन-कार्य की सफलता

भविष्य की गोद में रहती है और भविष्य के बारे में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। जिस कार्य में ऊपर बताए गए साधनों का प्रयोग होगा, सम्भव है वह कार्य आगे जाकर असफल हो जाय। यह भी सम्भव है कि उसमें पूर्ण सफलता प्राप्त हो जाय। किन्तु यह सब अनिश्चित है। भूमि, श्रम, पूँजी और प्रबन्ध अपने-अपने हिस्सों के सम्बन्ध में किसी प्रकार की अनिश्चितता नहीं चाहते। चाहे उत्पादन-कार्य सफल हो या असफल हो, भूमि-स्वामी को उसका लगान मिलना चाहिये, श्रमिक को उसकी मजदूरी और पूँजीपति को सूद तथा प्रबन्धक को उसका वेतन। साहसी या जोखिम उठानेवाला इन साधनों को उनके हिस्से के सम्बन्ध में निश्चिन्तता प्रदान करता है तथा उस उत्पादन-कार्य के लाभ या घाटे का सारा बोझ अपने सिर पर लेता है। यदि लाभ-हानि का उत्तरदायित्व लेने वाला कोई न हो तो प्रथम चार साधनों की वर्तमानता की दशा में भी उत्पादन-कार्य असम्भव है। वास्तव में साहसी या जोखिम उठानेवाला ही उत्पादन-कार्य की गाड़ी को आवश्यक शक्ति प्रदान करके चलाता है। अन्य चार साधनों के सहयोग से वस्तुओं का उत्पादन हो सकता है। किन्तु उस उत्पादन-कार्य से हानि या लाभ दोनों के होने की सम्भावना होती है किन्तु इन चार साधनों में से कोई भी इस हानि-लाभ के खतरे को अपने सिर मोल लेना नहीं चाहता। साहसी यह खतरा अपने सिर पर लेता है। उत्पादन-कार्य में प्राप्त आमदनी में से प्रथम चार साधनों को उनका हिस्सा दे देने के बाद जो कुछ बच रहता है उसी से उसको सन्तोष करना होता है। सम्भव है कि प्रथम चार साधनों को उनका हिस्सा चुका देने के बाद कुछ भी न बचे, उस दशा में उसे न तो लाभ होगा और न तो घाटा।

यह भी सम्भव है कि उत्पत्ति से प्राप्त आय उन चारों साधनों के भाग चुकाने के लिए पर्याप्त न हो। ऐसी दशा में उसे अपने घर से कुछ रकम मिलानी होगी और उतनी उसकी हानि हुई समझी जायगी। यह भी सम्भव है कि प्रथम चार साधनों का हिस्सा चुकाने के बाद एक बड़ी रकम उसके लिए बच जाय। यही उसका लाभ होगा। इसी लाभ की आशा में वह अपने व्यवसाय का हानि-लाभ की अनिश्चितता का खतरा अपने सिर मोल लेता है।

'साहस' या 'जोखिम' छोटी मात्रा के उत्पादन में इतना महत्व नहीं रखता जितना बड़े पैमाने की उत्पत्ति में। आधुनिक मशीन-युग बड़ी मात्रा के उत्पादन का युग है। जैसे-जैसे आप उत्पत्ति बढ़ाते जाते हैं वैसे-वैसे हानि-लाभ की अनिश्चितता बढ़ती जाती है और उसी मात्रा में 'साहस' या 'जोखिम' का महत्व उत्पादन में लिये बढ़ता जाता है। यही कारण है कि आजकल 'साहस' का महत्व अभूतपूर्व हद तक बढ़ गया है।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देनी है। ऊपर के वर्णन से यह अनुमान किया जा सकता है कि उत्पत्ति के इन पाँचों साधनों को प्रत्येक उत्पादन कार्य में पाँच भिन्न-भिन्न व्यक्ति लगाते होंगे। किन्तु यह अनिवार्य नहीं है। ऐसा होता भी है और नहीं भी। कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक ही व्यक्ति दो या दो से अधिक साधनों का स्वामी होता है। अतः उसे दो या दो से अधिक प्रकार की आय प्राप्त होगी। एक ही व्यक्ति भूमि-स्वामी और पूँजीपति दोनों हो सकता है। ऐसी दशा में भूमि-स्वामी की हैसियत से वह लगान का भागी और पूँजी-पति के नाते सूद या व्याज का भागी होगा। कभी कभी पूंजी-पति ही प्रबन्धक और साहसी भी होता है। ऐसी अवस्था

में तीन प्रकार की आय—सूद, वेतन और लाभ-हानि—का भागी होगा।

अर्थ-शास्त्र के कतिपय विद्वान् प्रबन्ध और साहस दोनों को मिलाकर एक साधन 'संगठन' नाम का बताते हैं। इनके विचार से प्रबन्धक ही साहस करता है और हानि-लाभ का जोखिम उठाता है। किन्तु स्मरण रहे कि यह केवल उन्हीं के सम्बन्ध में ठीक है जो अकेले किसी प्रकार की दूकानदारी करते हैं या थोड़े से व्यक्ति साझेदारी में कोई व्यापार करते हैं। किन्तु बड़ी-बड़ी फर्मों (firms) और कम्पनियों के सम्बन्ध में यह ठीक नहीं है। सैकड़ों और सहस्रों की संख्या में किसी कम्पनी के हिस्सेदार (shareholders) होते हैं जो उस व्यवसाय विशेष का जोखिम उठाते हैं। किन्तु प्रबन्ध करने के लिये एक मैनेजर होता है, जिसे निश्चित वेतन मिलता है। अतः कम्पनियों में प्रबन्धक कोई दूसरा होता है और साहस या जोखिम उठानेवाला दूसरा होता है।

चौथा अध्याय

खेती (Agriculture)

भारतवर्ष एक कृषि-प्रधान देश है। खेती ही लोगों का मुख्य पेशा है। लगभग समस्त जन-संख्या का ७०% भाग प्रत्यक्ष रूप से कृषि पर आश्रित है। कृषि से उत्पन्न पदार्थों में खाद्य-पदार्थों का प्रमुख स्थान है। लगभग कृषि में लगी जमीन का चार-पाँचवा ($\frac{४}{५}$) भाग खाद्य पदार्थों के उत्पादन में लगाया

जाता है। किन्तु कुछ वर्षों से व्यवसायिक फसलों (Commercial crops) के उत्पादन में क्रमशः वृद्धि होती आ रही है।

भारतवर्ष में मुख्य दो फसलें होती हैं। एक फसल का नाम **'खरीफ'** और दूसरी का नाम **'रबी'** की फसल है। खरीफ की फसल को गर्मी की फसल और रबी की फसल को जाड़े की फसल कह सकते हैं। खरीफ की फसलों के लिये पानी की अधिक आवश्यकता होती है। इनकी बुवाई (sowing) दक्षिणी-पश्चिमी मानसून के आरम्भ के साथ होती है और फसलें सितम्बर और अक्टूबर तक कट जाती हैं। हिन्दुस्तानी महीनों के अनुसार जेठ-असाढ़ में बोई जानेवाली और क्वार-कार्तिक और अगहन तक कट जानेवाली फसलें 'खरीफ' की फसल कहलाती हैं।

रबी की फसलों के लिये अपेक्षाकृत कम पानी की आवश्यकता होती है। इनकी बोवाई अक्टूबर और नवम्बर के प्रथम सप्ताह तक समाप्त हो जाती है और मार्च-अप्रैल तक फसलें कट जाती हैं। हिन्दुस्तानी महीनों के अनुसार रबी की फ़सलों की बुवाई कार्तिक में प्रारम्भ होती है और अधिक से अधिक अगहन में कुछ दिन तक जाती है। फाल्गुन और चैत के महीनों तक फसलें कट कर खलिहान में चली आती हैं।

खरीफ की फसल में निम्नलिखित की फसलें शामिल हैं—धान, कोदो, सावाँ, अरहर, मूँग, उरद, तिल, ज्वार, बाजरा, मक्का इत्यादि। रबी की फसल में शामिल मुख्य फसलें गेहूँ, मटर, जौ, चना, सरसों, तीसी, मसूर इत्यादि की हैं।

संयुक्त प्रान्त के देवरिया जिले में 'खरीफ' और 'रबी' दोनों फसलें होती हैं। खरीफ की फ़सल को जेठ में बोना शुरू कर देते हैं। खेत को सूखा ही जोत कर धान छींट देते हैं और

हेंगा (खेत की मिट्टी को बराबर करने के लिये बाँस का बना हुआ लम्बा पटरा जैसी चीज) से उसे जमीन को बराबर कर देते हैं। बीज जमीन में छिप जाता है। पानी बरसने पर धान के पौदे निकल आते हैं। धान का कुछ ही हिस्सा ऐसा बोया जाता है। कुछ हिस्से को खेत सींच कर उसमें बीज डालते हैं और पानी बरसने पर खेत खूब जोत कर पौदों को उखाड़ कर उसमें रोप देते हैं। इसे धान की 'रोपिया' या 'रोपाई' (transplantation) कहते हैं। यह सब कारी धान की बात है। अगहन में होनेवाले धान का बीज बोकर पौदों को कुछ बड़ा कर लेते हैं। फिर उन खेतों में जहाँ कुछ गहराई होती है और पानी जमा रहता है जमीन जोतकर उसमें धान के पौदों को रोप (transplant) देते हैं। अगहनी धान के लिये अधिक पानी चाहिए। यह कारी धान से अच्छा होता है। देवरिया जिले में कारी धान और अगहनी धान दोनों होते हैं।

धान के अतिरिक्त खरीफ की फसलों में अन्य मुख्य फसलें अरहर, कोदो, साँवा हैं। कोदो बलुई जमीन पर बोया जाता है। अरहर धन-कोदई के साथ बो देते हैं और कार में धन-कोदई काट लेते हैं, अरहर के पौदों को उसी प्रकार छोड़ देते हैं। तिल की भी खेती कुछ हिस्सों में होती है। ज्वार, बाजरा और मक्का की भी कुछ खेती उन हिस्सों में होती है जहाँ पानी कम बरसता है।

रबी की फसल में इस जिले में पैदा होनेवाली मुख्य फसलें गेहूँ, जौ, चना और मटर की हैं। कहीं-कहीं मसूर भी बोया जाता है। बरसात के महीनों में गेहूँ बोए जानेवाले खेत परती पड़े रहते हैं और उनकी जुताई होती रहती है ताकि मिट्टी खूब भुरभुरी हो जाय। बरसात आरम्भ होने के पहले इन खेतों में

खाद के घूरे (ढेर) लगा दिए जाते हैं और बरसात बीतने पर खाद को पूरे खेत में छींटकर जोतकर मिट्टी में मिला देते हैं। उसके बाद दो या तीन बार जोतकर मिट्टी भुरभुरी करके बीज बो देते हैं। गेहूँ बोने के पहले मटर बोया जाता है। जिन खेतों में क्वारी धान होता है उसी को जोतकर कार्तिक के महीने में उसमें मटर बो देते हैं। मटर ही के साथ चना भी बो देते हैं। गेहूँ के साथ जौ बोया जाता है। ये फसलें फाल्गुन और चैत तक कट जाती हैं। मटर सबसे पहले कटता है। सरसों आदि की भी खेती इस जिले में खूब होती है।

रबी और खरीफ की वर्णन की हुई फसलों के अतिरिक्त एक मुख्य फसल इस जिले की ईख (sugar-cane) की है। यह फसल जनवरी के अन्तिम आधे से लेकर मार्च तक बोई जाती है और कार्तिक महीने से इसकी कटाई और गुड़ बनाना प्रारम्भ होता है। चीनी की मिलों की इस जिले में अधिकता है। ईख की पैदावार का अधिकांश भाग मिलों में जाता है जहाँ इसके रस से चीनी तैयार की जाती है। इसके कुछ हिस्से को कोल्हू में पेर कर देहातों में लोग इसके रस से गुड़ बनाते हैं।

ऊपर बताई गई फसलों के अतिरिक्त हरएक मौसिम में विभिन्न प्रकार की तरकारियाँ भी इस जिले में अधिकता से उत्पन्न की जाती हैं। रबी की फसल के साथ बोई जानेवाली तरकारियों में मुख्य आलू, गोभी, टमाटर, बैगन, मूली, गाजर, पालक इत्यादि हैं। खरीफ की फसलों के साथ बोई जानेवाली तरकारियाँ निम्नलिखित हैं—निनुआ, तोरई, लौकी, कुम्हड़ा, रामतरोई या भिण्डी, अरुई, वण्डा। प्याज की भी खेती यहाँ अच्छी होती है। यह पूस और माघ के महीने में रोपी जाती है। इसका बीज कार्तिक-अगहन में ही डाल देते हैं।

भारतीय भूमि की उपज की कमी और उसके कारण

इस अध्याय के आरम्भ में इस बात का संकेत किया जा चुका है कि हमारा देश भारतवर्ष एक कृषि-प्रधान देश है। जन-संख्या का अधिकांश भाग खेती पर ही आश्रित है। फिर भी हमारे यहाँ खेतों की उपज अन्य देशों की उपज की अपेक्षा कम है। अब इसी प्रश्न पर विचार करना है कि इस कमी का क्या कारण है तथा इसके दूर करने के लिए किन-किन उपायों को अपनाया जा सकता है।

खेती से पैदा होनेवाले पदार्थों के विचार से हमारे देश का महत्वपूर्ण स्थान दुनिया के खेती करनेवाले देशों में है। यहाँ लगभग हर प्रकार की चीजें पैदा होती हैं। तो फिर प्रश्न उठता है कि खेतों की उपज की कमी की समस्या कैसी? इस समस्या के दो पहलू हैं। सर्वप्रथम हमारे यहाँ के खेतों की उपज हमारे देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कम है। जो अन्न पैदा हो रहा है वह लोगों के खाने के लिए पर्याप्त नहीं होता। इसका दूसरा पहलू यह है कि दूसरे देशों की तुलना में हम उतनी ही भूमि से कम अन्न पैदा करते हैं। जैसे रूस, अमेरिका और आस्ट्रेलिया आदि अन्य देश एक एकड़ से हमारे देश की एक एकड़ की उपज की कई गुनी उपज उगाते हैं। प्रति एकड़ जितना गेहूँ हमारे देश में पैदा होता है उससे चौगुना अमेरिका में पैदा होता है। रूस तो इससे भी अधिक पैदा कर रहा है। जावा जो आजकल इण्डोनेशिया के नाम से अधिक पुकारा जाता है, हमारे यहाँ से अठगुना, नौगुना और उत्तम गन्ना प्रति एकड़ पैदा करता है। किसी भी पदार्थ को ले लीजिए, अन्य देशों की अपेक्षा हमारे यहाँ उसकी पैदावार

प्रति एकड़ या प्रति बीघा कम ही होती है। उपज की कमी के इस दूसरे पहलू पर ही हमें विचार करना है।

कमी के कारण

खेती, अन्य कार्यों की भाँति, उत्पत्ति का एक उदाहरण है। उत्पत्ति के कार्यों में उच्चकोटि की सफलता प्राप्त करने के लिए उत्पत्ति के साधनों का समुचित प्रयोग उत्पादन कार्य में होना चाहिए। विभिन्न साधनों की उत्तमता और उनके उचित अनुपात में संयुक्त करने पर ही श्रेष्ठ लाभ की आशा की जाती है। हमारे यहाँ की उपज कम है। इसका यह अर्थ है कि खेती के साधनों में कुछ न कुछ कमी अवश्य है। अतः सर्व प्रथम हमें पृथक् पृथक् हर एक साधन, उसकी वर्तमान दशा और उसकी त्रुटियों पर विचार करना होगा। तभी इस समस्या की तह तक पहुँचा जा सकता है।

सबसे पहले भूमि को ही लीजिए। प्रश्न यह है कि क्या हमारे यहाँ की भूमि अन्य देशों की भूमि से कम उपजाऊ है? हमारे यहाँ की भूमि अन्य देशों की अपेक्षा कम उपजाऊ नहीं है, बल्कि निरन्तर उपयोग तथा फसलों के शताब्दियों से उगाहते रहने तथा उससे नष्ट होनेवाले तत्त्वों को उसमें लाने के प्रश्न की ओर से उदासीन रहने के कारण कम उपजाऊ बना दी गई है। दूसरी बड़ी कमी हमारे यहाँ की भूमि के साथ यह है कि वह बहुत से छोटे छोटे खेतों में बँटी हुई है। आर्थिक दृष्टि से खेतों का बहुत छोटा-छोटा होना हानिप्रद होता है। इस प्रश्न पर आगे चलकर विस्तारपूर्वक दृष्टि डाली जायगी। यहाँ इसका उल्लेख मात्र पर्याप्त समझना चाहिए।

भूमि के बाद श्रम का नम्बर आता है। भारतीय किसान

में क्या कमी है? भारतीय किसान बहुत ही परिश्रम से काम करता है। किन्तु फिर भी उसकी **अशिक्षा के कारण बहुत सी खराबियाँ आ जाती हैं**। अशिक्षित होने के कारण वह अपने शताब्दियों के पुराने खेती के ढंग को अपनाए हुए है जो आज कल की अभूतपूर्व वैज्ञानिक प्रगति के युग में उपहास की चीज मालूम पड़ती है। उसकी अशिक्षा के अतिरिक्त दूसरी चीज जो इन नवीन पद्धतियों को अपनाने से उसे रोकती है वह है उसकी **निर्धनता**। निर्धन होने के कारण वह इन तरीकों को नहीं अपना सकता क्योंकि उसमें विशेष व्यय की आवश्यकता होती है जिसका प्रबन्ध करना उसके वश की बात नहीं। किसानों की **अशिक्षा और निर्धनता** दोनों मिलकर उसे अपने कार्य में किसी प्रकार का सुधार करने के लिये पंगु बना देती हैं। वह विवश और लाचार होता है। इसी निर्धनता का परिणाम है कि वह अस्वस्थ होता है। उसे स्वास्थ्यकर भोजन प्राप्त नहीं होता। खेती की विभिन्न क्रियाओं में उसे कस कर मेहनत करनी पड़ती है। फलतः वह बीमार पड़ जाता है। ऐसी दशा में उसकी कार्य-क्षमता अधिक कैसे हो सकती है!

श्रम के बाद पूँजी का नम्बर आता है। पूँजी के अन्दर हमें खेती के औजारों, बीज, खाद, सिंचाई, बैलों आदि का विचार करना होगा। **औजारों में मुख्य चीज हल है** जिससे खेतों की जुताई होती है। हमारे देशी हलों की सबसे बड़ी कमी यह है कि उससे अधिक गहराई तक खुदाई नहीं हो सकती और न तो मिट्टी ही अच्छी तरह पलटी जा सकती है। अतः जो पौदे निकलते हैं उनको अपनी खूराक खींचने के लिये उतनी जगह नहीं मिलती जितनी गहरी खुदाई की दशा में सम्भव है। नीचे की जमीन ज्यों की त्यों पड़ी रहती है।

हल के बाद हल खींचने वाले बैल की ओर एक सरसरी निगाह दौड़ाइए। बैलों की हालत नितान्त शोचनीय है। और उत्तरोत्तर उनकी दशा खराब होती जा रही है। उनसे आवश्यकता से अधिक काम लिया जाता है और परिश्रम की तुलना में खाना कुछ भी नहीं दिया जाता। चारे की बेहद कमी है और अपनी असीम निर्धनता के कारण भारतीय किसान उनको ठीक हालत में नहीं रख सकता।

अब जरा खाद की ओर ध्यान दीजिए। खेती की उन्नति के लिये खाद का प्रयोग नितान्त आवश्यक है। इससे खेतों की मिट्टी से फसलों के उगाहने के कारण जो तत्त्व नष्ट हो जाते हैं वे फिर से जमीन में पैदा हो जाते हैं, जिससे पौदों को पूरी खूराक मिलती है और उपज अच्छी होती है। पशुओं का गोबर एक उत्तम प्रकार की खाद है। किन्तु अपनी निर्धनता के कारण उसका प्रयोग उपले बनाने के लिए करते हैं जिससे पर्याप्त मात्रा में गोबर की खाद खेतों के लिए नहीं मिलती। शेष जो गोबर खाद के लिये रखते हैं उसे भी उचित और सही ढंग से नहीं रखते। किसान खाद डालने से पहले ही उसकी ढेरी लगा कर खेतों में धूप में छोड़ देते हैं जिससे उसमें के बहुत से उपयोगी तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। अपनी निर्धनता के कारण वह वैज्ञानिक खादों के प्रयोग से वंचित रह जाता है।

अब कृपया सिंचाई की ओर ध्यान दीजिये। हिन्दुस्तान में खेती की सफलता मानसून की कृपा पर निर्भर करती है। यदि ठीक समय से मानसून चली और आवश्यकतानुसार पानी बरसता गया तब तो फसलें अच्छी होती हैं, अन्यथा खेतों में पौदे सूख जाते हैं। इस कमी को सिचाई से दूर किया जा सकता है। सिंचाई का कुछ प्रबन्ध हुआ है किन्तु अभी तक

वह कुछ ही हिस्सों में हो पाया है। सरकार इधर विशेष ध्यान दे रही है और आशा है कि कुछ ही वर्षों में भारतीय किसान को मानसून पर निर्भरता समाप्त हो जायगी। पैदावार की कमी का मुख्य कारण उत्तम सिंचाई के साधनों की अपर्याप्तता है।

एक बात और इस सम्बन्ध में स्मरणीय है। जहाँ नहरों आदि का प्रबन्ध है वहाँ यह भी देखने में आया कि किसान आवश्यकता से अधिक पानी खेतों में दे देते हैं जिससे लाभ के बदले हानि हो जाती है। वे ऐसा क्यों करते हैं? एक कारण तो उनकी इस बात की अज्ञानता है कि कितना पानी देना चाहिए। दूसरी बात यह है कि नहर से सिंचाई करने की कीमत का पानी के परिमाण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। आवश्यकता से अधिक पानी देने से फसल का उतना ही नुक़सान होता है जितना आवश्यकता से कम पानी देने से।

अब बोए जानेवाले बीज की ओर ध्यान दीजिए। बीज भी उत्तम प्रकार का नहीं होता। घटिया दर्जे के बीज के प्रयोग से फसल अच्छी कैसे हो सकती है?

जब भारतीय खेती की भूमि, श्रम और पूँजी की यह दशा है तब खेतों की उपज का कम होना स्वाभाविक ही है। इन कारणों के अतिरिक्त कुछ और भी कारण हैं जो नीचे दिए जाते हैं। खेती का पैमाना हमारे यहाँ बहुत छोटा है। अन्य देशों में सामूहिक और सहकारी खेती बड़े पैमाने पर होती है, जिससे उपज अपेक्षाकृत अधिक होती है। कुछ प्राकृतिक कारण भी हैं जिनसे फसल को धक्का लगता है। ठीक समय से पानी न बरसना, आवश्यकता से अधिक या उससे कम पानी बरसना, पाला पड़ना, विविध प्रकार के जानवरों द्वारा लगी फसल को हानि पहुँचाना (इसमें चूहे, नीलगाय, वानर

मुख्य हैं) इन सब कारणों से भी फसल खराब हो जाती है। कभी कभी टिड्डियों के दल से विशेष क्षति हो जाती है। तरह-तरह की पौदों की बीमारियाँ और किसानों का उनके निराकरण का किसी प्रकार का कोई उपाय न कर पाना भी अपना महत्व रखता है। किन्तु सब कारणों एक कारण हमारी भूतकालीन ब्रिटिश सरकार का खेती की समस्याओं की ओर से बिल्कुल उदासीन रहना है। कृषि-विभागों की अकर्मण्यता को कौन नहीं जानता। हमारी राष्ट्रीय सरकार इन समस्याओं की ओर से जागरूक है और उन्हें सुधारने और हल करने का प्रयत्न कर रही है। आशा है कि निकट भविष्य में उत्तम सुधार हो जायगा और हम अन्य देशों का मुकाबिला इस दिशा में कर सकेंगे।

संक्षेप में यहाँ इस कमी के दूर करने उपायों का भी वर्णन कर देना आवश्यक है। यदि हमें खेती की दशा सुधारनी है तथा उसकी उपज को अन्य देशों की उपज की बराबरी में लाना है तो ऊपर बताई गई त्रुटियों को दूर करना होगा। भूमि के सम्बन्ध में **खेतों की चकबन्दी का हो जाना** नितान्त आवश्यक है। खेतों के उपजाऊपन को बढ़ाने के लिए **फसलों के हेर फेर** (rotation of crops) का समुचित प्रयोग किया जाय। भारतीय **किसानों की अज्ञानता दूर** करने के **लिए व्यापक शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए**। यह काम सरकार को पूरी दिलचस्पी से करना चाहिए। उन्हें खेती करने के **आधुनिकतम ढङ्गों से परिचित करा देना** चाहिये तथा उनका उपयोग करने के लिए उचित सहायता और सुविधाएँ देनी चाहिएँ। उनकी निर्धनता दूर करने के लिए उनको **कम सूद पर आवश्यक ऋण देने का प्रबन्ध होना चाहिए।**

इस काम को प्रान्तीय सरकारों का सहकारिता-विभाग (Department of Cooperation) अच्छी तरह से कर सकता है। इससे वे आधुनिक औजारों इत्यादि का प्रयोग कर सकते हैं।

सिंचाई का व्यापाक प्रबन्ध होना चाहिए। प्रान्तीय सरकारें इस ओर पर्याप्त ध्यान दे रही हैं। उन्हें और तीव्र गति से काम करना चाहिए।

उत्तम बीज का प्रबन्ध करना भी बहुत आवश्यक है। जैसा बीज होगा वैसा ही पौदा निकलेगा और उसी के अनुसार उसमें फल या दाने लगेंगे। यह काम भी कृषि-विभाग और सहकारी-विभाग को मुस्तैदी से अपने हाथ में लेना चाहिए। इन विभागों को अपनी अकर्मण्यता छोड़कर ईमानदारी और सचाई से काम करना चाहिए। **कृषि-विभाग को पौदों के विभिन्न रोगों** को वश में करने के लिए यथोचित प्रयत्न करना चाहिए।

उत्तम खाद का प्रबन्ध होना चाहिए। किसानों को गोबर का उपला बनाना छोड़ देना चाहिए। खाद को रखने के ढङ्ग में सुधार की आवश्यकता है। आधुनिक खादों का भी प्रयोग करना अनिवार्य है। किसानों के पास इनके पहुँचाने के लिए सरकार को व्यापक प्रबन्ध करना चाहिए तथा सुविधाएँ देनी चाहिएँ। **खली का प्रयोग खाद के लिए किया** जा सकता है। तेलहन के निर्यात में कमी करके खली की खाद की उत्पत्ति बढ़ाकर उसका उपयोग बढ़ाने का **प्रयत्न करना चाहिए। बैलों की नस्ल सुधारने का प्रयत्न करना** चाहिए। उनके लिए चारे का समुचित प्रबन्ध हो तथा उनकी

बीमारियों की चिकित्सा के लिए और अधिक व्यापक प्रबन्ध होना चाहिए। सरकार को इस ओर अत्यधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

इसके अलावा सहकारी और सामूहिक खेती की दिशा में भी हम लोगों को कदम उठाना है। सरकार इसके लिए भी किसान को विविध उपायों द्वारा प्रोत्साहित करे। कृषि-विभाग और सहकारी विभाग को अपना आलस्य छोड़कर देश-भक्ति की भावना से प्रेरित होकर अपने उत्तरदायित्व को उत्तम ढङ्ग से निभाना चाहिए।

यदि ऊपर बताए गए उपायों का सहारा लिया गया तो कोई कारण नहीं कि हमारे देश की खेती अन्य देशों की खेती की बराबरी में न आ जाय और वर्तमान कमी का शीघ्र अन्त न हो जाय।

खेतों का छोटा और दूर-दूर होना

भारतीय कृषि की प्रमुख समस्याओं में से एक समस्या खेतों का बहुत छोटा-छोटा और छिटका होना है। यदि गाँवों की जाँच की जाय तो पता चलेगा कि अधिकांश किसानों के खेतों का क्षेत्रफल एक-एक दो-दो एकड़ भी नहीं है। बहुत से खेतों का क्षेत्रफल तो आधे एकड़ से भी कम है। यह दशा किसी प्रान्त-विशेष की नहीं है, बल्कि सभी भारतीय प्रान्तों की है। खेतों का इतना छोटा-छोटा होना आर्थिक दृष्टिकोण से बहुत ही हानिकारक है। लाभप्रद उत्पादन ऐसी स्थिति में असम्भव होता है।

किसानों के खेत बहुत छोटे-छोटे हैं। केवल यही समस्या नहीं है। इस बुराई का उग्र रूप देनेवाली एक और समस्या

है। प्रायः प्रत्येक किसान के एक से अधिक खेत हैं, जो एक दूसरे से बहुत दूर-दूर स्थित हैं। यदि एक खेत यहाँ है तो दूसरा उससे चौथाई या आधे या कभी-कभी एक मील की दूरी पर पाया जाता है। एक खेत यदि गाँव की पूर्वी सीमा पर है तो दूसरा पश्चिमी सीमा और तीसरा उत्तरी सीमा पर। खेतों के इस प्रकार दूर-दूर छिटके होने से निर्धन और अपेक्षाकृत धनी, जिनकी संख्या नगण्य ही है यदि पूरी जन-संख्या का विचार किया जाय, दोनों प्रकार के किसानों की कृषि-सम्बन्धी बहुत-सी कठिनाइयाँ और दिक्कतें बढ़ जाती हैं। बेचारा किसान भी उनको दूर करने में असमर्थ होता है और निरन्तर उनके कुपरिणामों को चुपचाप भोगते रहने के सिवाय उसके पास कोई दूसरा चारा नहीं होता। यहाँ हमें इसी समस्या पर विचार करना है। **खेतों के दूर-दूर और छिटके होने के कारण उनसे होने वाली हानियों और अन्त में उनके दूर करने के उपायों** की ओर ध्यान देना है। खेती की दशा सुधारने के लिए इस भयानक और अत्यन्त हानिकारक समस्या को शीघ्रातिशीघ्र हल करना होगा।

सर्वप्रथम आइए इसके कारणों पर विचार किया जाय। इस समस्या के मुख्य कारणों में से एक कारण पिछली शताब्दी से व्यक्तिवादी प्रवृत्ति की उत्तरोत्तर वृद्धि तथा सम्मिलित परिवार की पुरानी प्रथा पर उसका विनाशक प्रभाव रहा है। सम्मिलित-परिवार की प्रथा हिन्दू-समाज की रीढ़ रही है। किन्तु पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क के कारण दिनों-दिन उसका बन्धन ढीला पड़ता गया। इसके साथ एक परिवार का बहुत से छोटे-छोटे परिवारों में विभाजन उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। इसके साथ सम्पत्ति का बँटवारा भी होता गया और

चूँकि जन-संख्या का अधिकांश भाग खेती पर ही आश्रित रहा है और अब भी है, इसलिए खेतों का भी निरन्तर बँटवारा होता गया और अब भी होता है।

इस कारण को सहायता प्रदान करनेवाली दूसरी मुख्य चीज़ हमारी जन-संख्या की तीव्र गति से वृद्धि रही है। वास्तव में जन-संख्या की वृद्धि ही इस समस्या की मुख्य जड़ है। क्योंकि इससे भूमि पर दबाव बढ़ता जाता है, जब तक कि अन्य प्रकार के उद्योगों और व्यवसायों की वृद्धि न की जाय। हमारे यहाँ जन-संख्या तो बड़ी तेजी से बढ़ती गई किन्तु उसके साथ अन्य प्रकार के उद्योगों का विकास नहीं हुआ (जिसका मुख्य कारण देश की परतन्त्रता रही है) और दिनों-दिन जन-संख्या का भूमि पर दबाव बढ़ता गया। ऐसी परिस्थिति में वही हुआ जो होना था।

इस सम्बन्ध में सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम को भी भुलाया नहीं जा सकता। हिन्दू-नियम के अनुसार यदि किसी व्यक्ति के चार लड़के हैं तो बाप के मर जाने पर उसकी सम्पत्ति चारों बेटों में बराबर-बराबर बँट जाती है, यदि वे एक साथ रहना न चाहें। और आजकल के व्यक्तिवादी (individualistic) युग में अधिकांश लोग सम्मिलित परिवार में रहना नहीं चाहते। खेतों के बँटवारे में इस कानून ने भी पर्याप्त मदद दी। इसके विपरीत यदि यह नियम होता कि ज्येष्ठ पुत्र ही बाप की सम्पत्ति का अधिकारी है और दूसरों को उसमें से बतौर जीविका के कुछ दिया जाय तो ऐसी दशा नहीं हुई होती।

इसके साथ ही साथ एक और बात स्मरण रखनी होगी। प्रायः देखा जाता है कि जब किसी परिवार में सम्पत्ति का

बँटवारा होने लगता है तब प्रत्येक हिस्सेदार, जितने खेत होते हैं उनमें से, प्रत्येक खेत में अपने हिस्से के अनुसार खेत लेना चाहता है। इस प्रवृत्ति से भी विशेष हानि हुई है और अब भी होती जा रही है। छोटे खेतों का और बहुत से छोटे-छोटे खेतों में बँट जाना अनिवार्य हो जाता है।

इस प्रकार खेतों के छोटे-छोटे छिटके होने के निम्नलिखित कारण मालूम हुए—

(१) व्यक्तिवादी प्रवृत्ति की लोगों में वृद्धि तथा सम्मिलित परिवार (joint-family) की प्रथा के बन्धन का उत्तरोत्तर ढीला पड़ता जाना।

(२) जन-संख्या की तीव्र गति से वृद्धि।

(३) जन-संख्या की वृद्धि के साथ अन्य प्रकार के उद्योगों का विकास न होना।

(४) उत्तराधिकार का हिन्दू-मुस्लिम नियम।

(५) लोगों की प्रत्येक खेत में हिस्सा लेने की हानिकारक प्रवृत्ति।

कारणों पर विचार कर लेने के बाद आइए इससे होने वाली हानियों पर विचार करें। इस सम्बन्ध में निम्नाङ्कित बातें स्मरणीय हैं—

(क) एक खेत से दूसरे खेत में आने-जाने में किसानों का बहुत-सा समय बेकार नष्ट हो जाता है।

(ख) खेतों के बहुत छोटे छोटे होने से वे आधुनिक औजारों का प्रयोग नहीं कर सकते। आजकल की वैज्ञानिक

ढंग की खेती के लिए खेतों का बहुत बड़ा बड़ा होना आवश्यक होता है, अन्यथा इनका लाभप्रद उपयोग नहीं किया जा सकता।

(ग) खेतों के छिटके होने के कारण किसानों को फसलों की देख-रेख में भी बहुत असुविधा होती है। जानवरों से फसलों को जो हानि पहुँचती है वे उसको इसी कारण पर्याप्त मात्रा में दूर नहीं कर पाते। यदि किसी किसान के सब खेत पास ही में हों तो वह एक ही जगह से उन सबकी देख-भाल कर सकता है।

(घ) उन खेतों में जाने के लिए रास्ता और सिंचाई के लिए नाली बनाने में भी बड़ी कठिनाइयाँ सामने आती हैं। नहर से पानी लाना हुआ तो मुसीबत और बढ़ जाती है।

(ङ) खेतों की संख्या अत्यधिक होने के कारण उनके लिए आवश्यक मेंड़ आदि बनाने में बहुत-सी भूमि निकल जाती है।

(च) किसानों में आए दिन खेत सम्बन्धी झगड़े हुआ करते हैं। इससे मुकदमेबाजी बढ़ती है और निर्धन किसानों के लाखों रुपए प्रति वर्ष इन्हीं झगड़ों को तय करने में व्यर्थ में व्यय हो जाते हैं।

इनके अलावे फसलों की बुवाई और कटाई में आवश्यकता से अधिक परिश्रम करना तथा कष्ट उठाना पड़ता है। यदि किसान के सब खेत एक जगह हों तो उसे शारीरिक आराम मिलेगा। किसान को ही क्यों ? खेती के काम में लाए जाने-वाले पशुओं को भी आराम होगा।

ऊपर के वर्णन से बिल्कुल स्पष्ट है कि किसानों की वर्तमान दयनीय आर्थिक दशा के कारणों में से एक मुख्य प्रबल कारण उसके खेतों का छोटा-छोटा होना और दूर दूर छिटका होना है।

इससे उसकी कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जाती हैं जिनके कारण वह खेती से पर्याप्त लाभ नहीं उठा पाता। भारतीय कृषि की दशा तब तक सन्तोषजनक नहीं हो सकती जब तक कि इस समस्या का समुचित हल नहीं निकाला जायगा।

अब प्रश्न यह है कि क्या किया जाय? इस समस्या को हल करने का केवल एक ही **उपाय है—खेतों की चकबन्दी।** प्रत्येक किसान द्वारा जोते जानेवाले सब खेतों की चकबन्दी कर दी जाय अर्थात् सब खेतों को मिलाकर एक जगह पर उनका चक बना दिया जाय। किन्तु इतना ही कर देना पर्याप्त नहीं होगा। इसका फल निरन्तर तभी प्राप्त होता रहेगा जब कि **भविष्य में चकों का छोटे छोटे खेतों में बाँटा जाना आवश्यक कानून का निर्माण करके रोक दिया जाय।** खेतों के बँटवारे का एक मुख्य कारण जैसा कि ऊपर संकेत भी किया जा चुका है, हिन्दू और मुसलमानों का दाय-विभाग कानून (law of inheritance) है। इसलिए इसमें ऐसे परिवर्तन की आवश्यकता है कि खेत के चार या पाँच एकड़ से कम का हिस्सा किसी हकदार को मिलना नियम-विरुद्ध समझा जाय और जब कभी ऐसी नौबत आवे तो पूरा खेत सब हकदारों में नीलाम कर दी जाय। जो हकदार उसके लिये सबसे अधिक रुपए देने के लिये तैयार हो, उसी को वह खेत मिले और अन्य हकदारों को उनके हिस्से के अनुसार रुपया दिला दिया जाय। सारी जमीन सबसे बड़े लड़के को ही दे देना ठीक नहीं होगा, क्योंकि यह हिन्दू-मुसलमान दोनों के धर्म-शास्त्रों के सिद्धान्तों के विरुद्ध होगा।

'चकबन्दी' ही इस रोग की मुख्य दवा है। इस कार्य

में शीघ्रता करने के लिये प्रान्तीय सरकार के सहकारी-विभाग को चाहिए कि वह प्रत्येक गाँव में **सहकारी चकवन्दी समितियों** (Consolidation of Holdings societies) का निर्माण करे। अशिक्षित किसानों को चकवन्दी से होनेवाले लाभों को समझावे तथा उन्हें स्वेच्छा से चकवन्दी कराने के लिये तैयार करे। वहुत से किसान तो तैयार हो ही जायेंगे। जो बार बार के समझाने पर भी न माने उस पर सरकार दवाव भी डाले। यदि प्रान्तीय सरकार इसमें विशेष दिलचस्पी नहीं लेतीं और विशेषकर सहकारी विभाग (Cooperative Department) तत्परता और सचाई के साथ काम नहीं करता तो स्वयं किसानों की ओर से इस दिशा में कुछ सुधार की आशा नहीं की जा सकती। चकवन्दी के सिलसिले में कुछ न कुछ काम प्रत्येक प्रान्त में हुआ है किन्तु वह पर्याप्त नहीं है। हमें अपने प्रयत्नों को गहरा और वहुत अधिक व्यापक वनाना होगा, यदि हम इस समस्या को शीघ्र हल करके खेती की दशा में सन्तोष-जनक परिवर्तन करना चाहते हैं।

खेती के तरीके (Agricultural Technique) खेतों की उपज की कमी के कारणों, उनके दूर करने के लिए आवश्यक उपायों तथा खेतों के छोटे-छोटे और विखरे होने के कारणों, उससे होनेवाली हानियों तथा उसके सुधारने के लिए किए जानेवाले प्रयत्नों का वर्णन कर लेने के वाद हमें 'खेतो के तरीके' (agricultural technique) का वर्णन करना है। "खेती के तरीके" से हमारा क्या तात्पर्य है? इससे हमारा तात्पर्य है खेती करनेके ढङ्ग से। किसी कार्य के करने का ढङ्ग ही उस कार्य का 'टेक्नीक' कहलाता है। अतः खेती के तरीके के वर्णन में हमें यह वतलाने का प्रयत्न करना

होगा कि खेती करनेवाला किसान क्या क्या और किस प्रकार करता है। खेती से सम्बन्धित क्रियाएँ निम्नलिखित हैं:—

(१) खेतों में खाद देना।

(२) खेतों की जुताई।

(३) पटेला या हेंगा चलाना (mulching)

(४) बीज बोना।

(५) उभाड़ना और निराई (harrowing and weeding)

(६) सिंचाई।

(७) फ़सल का काटना।

(८) सफ़ाई।

आइए अब हर एक क्रिया का अलग अलग संक्षिप्त वर्णन करें। सबसे पहले खेतों में खाद देने का काम होता है। खेतों में खाद देना मिट्टी के नष्ट हुए तत्वों को फिर से उसमें पैदा करने के लिए अनिवार्य होता है। भारतीय किसान साधारणतया बरसात के आरम्भ के पहले ही खेतों में जगह जगह पर गोबर और कूड़ा-करकट की ढेरियाँ लगा देता है। प्रायः देखा जाता है कि पहले वे इन कूड़ा-करकटों और गोबर को घर के सामने या पास में ही जमा रखते हैं और बाद में खेतों में पहुँचाते हैं। घर के पास में रखना यह स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत हानिकारक है। इससे मलेरिया आदि तरह तरह की बीमारियाँ पैदा होती हैं। दूसरी बात जिधर ध्यान देनी है यह है कि खाद का धूप और पानी में पड़ा रहना ठीक नहीं होता। इससे उसके कुछ आवश्यक तत्व नष्ट हो जाते हैं।

खाद को छोटे छोटे गड्ढों में रखकर वन्द कर दिया जाय तो सड़कर वह अच्छी खाद बन जायगी। तब उसको खेतों की मिट्टी में सिला लिया जाय।

कुछ पानी बरस जाने के पश्चात् खेत की जुताई आरम्भ होती है। जुताई के लिये प्रायः देशी हल का उपयोग होता है। देशी हल बहुत हल्का होता है और इससे अधिक से अधिक ६" से लेकर ८" की गहराई तक जुताई हो सकती है। विलायती हल का भी कहीं कहीं प्रयोग हो रहा है। 'देशी हल' का प्रयोग होना चाहिए या 'विलायती हल' का, इस प्रश्न के सम्बन्ध में अभी मतभेद है। साधारणतया लोगों का यह विचार है कि जहाँ की जमीन का ऊपरी भाग उपजाऊ नहीं है वहाँ विलायती हल का प्रयोग करना चाहिये ताकि जुताई अधिक गहराई तक हो सके और पौदों को अपनी खुराक खींचने के लिये अधिक जगह प्राप्त हो सके। जहाँ की जमीन की ऊपरी सतह ही पर्याप्त मात्रा में उपजाऊ है वहाँ देशी हल से ही काम लेना चाहिए।

जुताई के पश्चात् पटेला चलाकर मिट्टी को भुरभुरी बनाकर बराबर कर दिया जाता है। इस प्रकार खेत तैयार कर लेने के बाद बीज बोया जाता है। बीज दो प्रकार से बोया जाता है। पहले तरीके के अनुसार किसान अपनी मुट्ठी में बीज भर-भर कर इधर उधर छींट देता है। यह तरीका कुछ भद्दा सा है। इसमें सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि कहीं कहीं तो बहुत से बीजों के पास गिरने से बहुत घने पौदे उग आते और कहीं कहीं बीज के दूर दूर पड़ने से बहुत दूर दूर पर पौदे निकलते हैं। दूसरे तरीके अनुसार हल के पीछे एक लम्बा पोला बाँस लगा देते हैं। बाँस के ऊपर एक हैं बीज चिलम में

धीरे धीरे डालते जाते हैं। जैसे जैसे जमीन की खुदाई होती जाती है वैसे वैसे उसमें बीज पड़ता जाता है। इस तरीके में जितनी दूरी पर उचित हो बीज डाला जा सकता है और इसमें समय भी अधिक लगता है यही कारण है कि इसका प्रयोग अधिक कीमती पैदावारों के लिए किया जाता है। बीज बोने के बाद पटेला चलाकर मिट्टी बराबर कर दी जाती है इससे बीज मिट्टी में दब जाते हैं और चिड़ियों द्वारा इनके चुगे जाने का भय जाता रहता है।

बीज बो देने के बाद उसमें पौदे निकलते हैं। किन्तु पौदों के साथ तरह तरह के प्राकृतिक छोटे पौदे निकल आते हैं जिससे अन्न के पौदों को हानि पहुँचाती हैं क्योंकि वे उनकी खूराक में हिस्सा बँटाने लगते हैं। अतः उनको खुरपी आदि से निकाल दिया जाता है। इस क्रिया को निराई कहते हैं। निराई का काम मुख्यतः खरीफ की फसलों का होता है क्योंकि खरीफ की फसल बरसात में होती है जब कि गर्मी और पानी बरसने के कारण विभिन्न प्रकार के अनावश्यक पौदे खेतों में अपने आप उग जाते हैं। रबी की फसल जाड़े में होती है। जाड़े में कोई विशेष वर्षा नहीं होती अतः रबी की फसलों में अनावश्यक पौदे—घासें इत्यादि नहीं होतीं जिससे निराई की कोई कठिन समस्या नहीं होती।

निराई के पश्चात् सिंचाई का प्रश्न आता है। खरीफ की फसल के लिए सिंचाई की उतनी आवश्यकता नहीं होती क्योंकि प्रायः पानी बरसता है। जब पानी अधिक दिनों तक नहीं बरसता और पौदों के सूखने की नौबत उत्पन्न होती है तभी खरीफ की फसलों में पानी दिया जाता है। किन्तु रबी की फसल बिना सिंचाई के हो ही नहीं सकती क्योंकि जाड़े

में कोई विशेष वर्षा नहीं होती और जो थोड़ी होती भी है वह भी अनिवार्यरूपेण नहीं होती। उसका ठीक समय से होना भी निश्चित नहीं होता।

साधारणतया सिंचाई के तीन मुख्य साधन हैं—कुआँ, तालाब और नहर। संयुक्तप्रान्त में कुओं का प्रयोग अधिक होता है। कुओं से पानी निकालने के लिए तरह तरह के तरीके हैं। कहीं मोट का प्रयोग होता है, कहीं रहट का प्रयोग करते हैं। मोट और रहट में खींचने का काम बैलों से लिया जाता है। कहीं-कहीं विशेष कर इस प्रान्त के पूर्वी जिलों में ढेंकुली से पानी खींचते हैं। इसमें खींचने का काम आदमी स्वयं करते हैं। मोट में दो आदमियों की आवश्यकता होती है। एक बैलों को हाँकता है दूसरा कुएँ पर रहता है जो मोट के ऊपर आ जाने पर पानी को उँड़ेल देता है। रहट में केवल एक ही आदमी की बैलों के हाँकने के लिए आवश्यकता होती है।

तालाब से पानी निकालने के लिए प्रायः दौरी का प्रयोग करते हैं। दो आदमी दौरी में पानी भर कर ऊपर फेंकते हैं।

नहर से सिंचाई में बैलों की आवश्यकता नहीं पड़ती। नहर से खेत तक एक क्यारी-सी बना देते हैं जिसमें नहर से पानी आ जाता है। नहर प्रत्येक स्थान पर नहीं पहुँच सकती अतः नहर के पानी के वितरण के लिए नहर से छोटे-छोटे बम्बे निकाले जाते हैं और इन्हीं बम्बों के द्वारा पानी खेतों में पहुँचाया जाता है।

इस प्रकार जब फसल तैयार होती है और दाने पक जाते हैं तब फसल की कटाई की समस्या पैदा होती है। हमारे देश में प्रायः फसल काटने के लिए हँसिया का प्रयोग होता है। अन्य देशों में जहाँ खेती का यन्त्रीकरण (mechanisation of

Agriculture) हो गया है फसल काटने के लिये एक मशीन जिसका नाम हार्वेस्टर (harvester) है, काम में लाई जाती है। इससे काम शीघ्रता से होता है।

फसल कटने के बाद खलिहान में लाई जाती है। खलिहान उस साफ-सुथरी जगह को कहते हैं जहाँ से फसल खेतों से काट कर लाई जाती है तथा जहाँ फसल के ऊपर बैलों को चलाकर पौदों को माँड़ा जाता है ताकि भूसा और अनाज के दानें अलग हो जायँ। इसके बाद हवा चलने पर उड़ौनी की जाती है ताकि भूसा एक ओर हो जाय और अनाज उससे अलग बाहर निकल जाय। ऐसा करने के लिए माँड़ा हुआ अनाज दौरी में भरकर ऊपर से गिराते हैं। भूसा हल्का होने के कारण उड़ कर दाने से अलग हो जाता है। अन्त में अनाज और भूसे को किसान अपने घर ढोकर लाता है।

ग्रामीण उद्योग धन्धे

भारतवर्ष एक खेतिहर देश है। कृषि ही यहाँ के लोगों का मुख्य पेशा है। यहाँ की अधिकांश जनता गाँवों में ही रहती है। खेती ही उनकी जीविका का मुख्य साधन है। खेती के सम्बन्ध में कतिपय बातों की ओर पहले ध्यान दिया जा चुका है। किन्तु एक चीज का अब तक कोई जिक्र नहीं आया। खेती एक मौसमी (Seasonal) पेशा है। साल के कुछ ही महीनों में कृषि की बहुत-सी क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। खरीफ की फसल की बुआई जेठ-असाढ़ में और रबी की फसल की बुआई कार्तिक तथा पौदों की सिंचाई अगहन महीने में होती है जब किसानों को विशेष काम पड़ता है। पुनः इन दोनों फसलों की कटाई और सफाई के समय भी उन्हें बहुत काम करना होता है किन्तु

इन महीनों के अतिरिक्त अन्य महीनों में किसान के पास उतना काम नहीं रहता। प्रायः अर्थ-शास्त्र के आचार्यों का विचार है कि साल के बारह महीनों में लगभग चार-पाँच महीने के भारतीय किसान बेकार रहता है। भारतीय किसान निर्धन होता है। काम के महीनों में तो वह अपनी जीविका किसी प्रकार चला लेता है। किन्तु बेकारी के महीनों में उसकी कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। वह जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए शोकातुर रहता है। उसे इस भयावनी स्थिति का सामना करने के लिए किसी प्रकार के काम में लगा रहना चाहिए ताकि वह कुछ उत्पन्न करता रहे। उसे खेती से सम्बन्धित किसी न किसी प्रकार के उद्योग में लगा रहना चाहिए। उसकी आर्थिक दशा सुधारने के लिए बारहों महीने उसका कार्यरत रहना नितान्त आवश्यक है। निर्धन व्यक्ति बेकार रहने का स्वप्न नहीं देख सकता। अतः भारत के निर्धन किसान के लिये खेती के सहायक उद्योग-धन्धों का, जिनमें वह अपने को खेती के कार्यों से अवकाश पाने पर लगा सके तथा खेती से प्राप्त अपर्याप्त आय को कुछ अंशों में पूरा कर सके, विशेष महत्व है।

अब प्रश्न यह है कि ये सहायक उद्योग-धन्धे किस प्रकार के हों? इनके सम्बन्ध में सबसे पहली चीज जो स्मरणीय है, यह है कि इन उद्योग-धन्धों का खेती से सम्बन्ध हो या वे खेती पर किसी न किसी प्रकार आश्रित हों। दूसरी बात यह है कि ये उद्योग-धन्धे ऐसे हों कि उन्हें बिना विशेष हानि के आसानी से छोड़ा जा सके। उनमें विशेष पूँजी की आवश्यकता न हो अन्यथा उनके छोड़ने पर उनमें लगी हुई पूँजी के जकड़े रह जाने की विशेष सम्भावना है। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह है

कि ये उद्योग-धन्धे ऐसे हों कि उनके सफल सञ्चालन के लिए विशेष प्रकार की शिक्षा या ट्रेनिङ्ग की आवश्यकता न पड़े। उद्योग-धन्धे ऐसे हों जो फुरसत या अवकाश के समय चालू किए जा सकें और अवकाश के समाप्त होते ही बन्द किये जा सकें। इस प्रकार के उद्योग-धन्धों के कुछ उदाहरण निम्न-लिखित हैं—चावल कूटना, गुड़ बनाना, सूत कातना, दाल दलना, विभिन्न प्रकार के मिट्टी और लकड़ी के खिलौने बनाना, पशुओं का पालना तथा घी-दूध का व्यापार करना इत्यादि। पशुओं के पालने से एक विशेष महत्वपूर्ण लाभ यह होता है कि इनसे खेती के काम में आनेवाले बैल-भैंस प्राप्त होते हैं तथा उनके मल-मूत्र से बहुत ही उत्तम प्रकार की खाद प्राप्त हो सकती है। इस सम्बन्ध में बकरियों या भेड़ों का पालन करना तथा ऊन-उत्पादन का काम बड़ी सुगमता से किया जा सकता है। मुर्गी पालने का तथा अण्डे बेचने का भी काम किया जा सकता है। विभिन्न प्रकार की शाक-भाजी और तरकारियों की खेती भी विशेष प्रकार से उल्लेखनीय है। बागीचे लगाना और तरह-तरह के फलों की पैदावार का भी कम महत्व नहीं है। मधुमक्खी पालने और शहद के उत्पादन का भी व्यवसाय लाभप्रद हो सकता है। रेशम के उत्पादन के लिए शहतूत के वृक्षों को लगाना तथा रेशम के कीड़ों को पालना भी किसानों के लिए अपनी आय-वृद्धि का एक सुन्दर उपाय हो सकता है। इसके अतिरिक्त चटाई बुनने, रस्सी बनाने, पंखा बनाने, टोकरी बनाने आदि का काम किसान अपनी बेकारी की दशा में बड़ी सरलता के साथ कर सकता है। इस प्रकार से उसकी आर्थिक दशा में बहुत कुछ सन्तोषजनक परिवर्तन लाया जा सकता है। यहाँ केवल इतना ही संकेत मात्र किया गया है कि

निर्धन भारतीय किसान किस प्रकार अपनी बेकारी के समय का सदुपयोग करके अपनी आर्थिक दशा में सुधार के लिए अग्रसर हो सकता है। अगले अध्याय में इन उद्योग-धन्धों का कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन होगा।

पाँचवा अध्याय

घरेलू उद्योग-धन्धे

पिछले अध्याय में खेती और उससे सम्बन्धित कुछ समस्याओं पर विचार किया गया था। परन्तु मनुष्य की सब आवश्यकताओं की पूर्ति कृषि-जन्य पदार्थों से ही नहीं हो सकती है। उसे विभिन्न प्रकार के तैयार माल की आवश्यकता होती है। अतः उसका भी उत्पादन उसी प्रकार आवश्यक और महत्वपूर्ण है। किन्तु इससे इन दोनों को सर्वथा दो भिन्न वस्तुएँ नहीं समझना चाहिये। दस्तकारियों और उद्योग-धन्धों का कृषि से बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि इनके लिए आवश्यक कच्चा माल खेती ही के द्वारा मुख्यतः मिलता है। इस अध्याय में घरेलू उद्योग-धन्धों का ही विवेचन होगा।

घरेलू उद्योग-धन्धों से हमारा क्या तात्पर्य है ?

छोटे पैमाने पर वस्तुओं को उत्पन्न करनेवाले उद्योगों को घरेलू उद्योग-धन्धे कहते हैं। इसको उत्पादन की पारिवारिक प्रणाली (family system of production) भी कहते हैं। इसमें केवल साधारण श्रम-विभाजन (division of labour)

होता है जब कि फैक्ट्रियों के उत्पादन में श्रम-विभाजन का बड़ा ही जटिल रूप देखने को मिलता है। मिलों और बड़े-बड़े कारखानों में सैकड़ों और हज़ारों की संख्या में लोग एक ही जगह काम करते हैं। घरेलू उद्योग-धन्धों को चलानेवाले कारीगर होते हैं जो बहुत छोटे पैमाने पर उत्पादन करते हैं। अधिकांश कारीगर अपने घरों में ही काम करते हैं जिनमें उनके परिवार के और सदस्य उनकी सहायता करते रहते हैं। कभी-कभी वे लोग आवश्यकतानुसार एक-दो व्यक्तियों को नौकर भी रख लेते हैं। कुछ घरेलू उद्योग-धन्धे ऐसे हैं जिनके सञ्चालकों का वही मुख्य पेशा होता है और कुछ को निर्धन किसान अपनी अपर्याप्त आय को किसी प्रकार पूरा करने के लिए सहायक उद्योग के रूप में अपनी बेकारी के समय में करते हैं।

भारतवर्ष सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था से ही अपनी दस्तकारियों के लिए प्रसिद्ध रहा है। यहाँ के कारीगरों की कला की तुलना किसी भी देश के कारीगरों की कला से नहीं की जा सकती थी। आधुनिक उत्पादन-प्रणाली का जन्मदाता पश्चिमी योरप जिस समय असभ्य था, हिन्दुस्तान की कारीगरी की वस्तुएँ दुनिया के प्रत्येक बड़े शहरों में बिकती थीं तथा बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखी जाती थीं।

किन्तु औद्योगिक क्रान्ति (industrial revolution) जिसका श्रीगणेश सर्वप्रथम ग्रेट ब्रिटेन में अठारहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ तथा अंग्रेजों के भारत में आगमन के परिणाम स्वरूप सब नक्शा ही बदल गया। औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पादन-प्रणाली को बिल्कुल बदल दिया। दस्तकारियों की छोटी मात्रा की उत्पत्ति के स्थान में विशालकाय मिलों और कारखानों में वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा। मशीन की

बनी हुई वस्तुएँ सस्ती पड़ने लगीं। दस्तकारियों के लिए इनका सामना करना कठिन हो गया। दिनों-दिन दस्तकारियों की अवनति होने लगी। भारतीय दस्तकारियों की अवनति का एक और मुख्य कारण हमारे विदेशी शासकों की साम्राज्यवादी नीति रही है। मुगल बादशाहों के शासन-काल में इन्हें जो सुविधाएँ सरकार की ओर से प्राप्त थीं, उनका तो अन्त हो ही गया। इसके अलावे यहाँ की दस्तकारियों के बने हुए माल पर तरह-तरह के निषेधक कर लगाए गए। ऐसी दशा में इनका टिके रहना कैसे सम्भव हो सकता था। क्रमशः हमारे सारे घरेलू उद्योग-धन्धे नष्ट हो गए और हमारी जन-संख्या का दबाव दिनों-दिन भूमि और खेती पर बढ़ता गया। फिर भी हमारे कुछ उद्योग-धन्धे बचे ही रहे। और प्रत्येक गाँव में कुछ न कुछ लोग इन धन्धों में लगे ही रहे। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से देश में धीरे-धीरे स्वदेशी भावनाओं का प्रचार होने लगा और उसके साथ इन बची-खुची दस्तकारियों में नए जीवन का सञ्चार होने लगा और क्रमशः उनकी दशा में धीमी गति से सुधार होने लगा। आज भारत स्वतन्त्र है और हमारी राष्ट्रीय सरकार इन धन्धों को उन्नतिशील दशा में लाने के लिए प्रयत्नशील है। आशा है, निकट भविष्य में हमारी दस्तकारियाँ अपने पुराने गौरव को प्राप्त हो जायँ। प्रत्येक भारतीय का यह परम कर्तव्य है कि वह इस स्थिति के लाने के लिए जो कुछ भी कर सके, करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहे।

घरेलू उद्योग-धन्धों का सङ्गठन

अब विभिन्न घरेलू उद्योग-धन्धों के वर्णन के पहले उनके सङ्गठन के सम्बन्ध में दो-चार शब्द लिख देना अनावश्यक न

होगा। उससे इनकी वर्तमान अवस्था तथा उनकी मुख्य समस्याओं का परिचय प्राप्त हो जायगा।

इनके सङ्गठन के सम्बन्ध में प्रथम स्मरण रखने योग्य बात यह है कि इनका कोई वास्तविक सङ्गठन नहीं है। ये उद्योग-धन्धे अपनी वर्तमान दशा में बिल्कुल असङ्गठित हैं और इनके कार्यों एवं प्रयत्नों में सम्बद्धकरण (Coordination) का कोई प्रबन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए कर्घे से कपड़ा बुनने के ही धन्धे को ले लीजिए। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण उद्योग है। लगभग ६० लाख से ऊपर श्रमिक इसमें काम करते हैं और देश की चौथाई आवश्यकता की पूर्ति इसी से होती है। किन्तु इस धन्धे का सङ्गठन बिल्कुल त्रुटिपूर्ण और अपर्याप्त है। कपड़ा बुननेवाला, जिसे प्रायः जुलाहा कहते हैं, यही व्यक्ति साहसी (entrepreneur), श्रमिक, भूमि-स्वामी (land-lord), विक्रता और क्रेता (buyer) और कभी-कभी पूँजीपति (capitalist) सब कुछ होता है। इसका परिणाम यह होता है कि इन विभिन्न क्रियाओं को उत्तम कार्य-क्षमता (efficiency) के साथ करने में वह असमर्थ होता है। प्रायः वह अशिक्षित भी होता है तथा व्यावसायिक सिद्धान्तों का उसे कुछ भी ज्ञान नहीं होता। इन उद्योगों की दूसरी बड़ी समस्या आवश्यक धन या रुपए-पैसे (finance) की है। इसका कोई समुचित प्रबन्ध नहीं है। न तो आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति (supply) का ही कोई सन्तोषजनक प्रबन्ध है। इनके अतिरिक्त तैयार माल की बिक्री का भी कोई प्रशंसनीय प्रबन्ध नहीं है। प्रत्येक कार्य में सङ्गठन और सुविधाओं का बहुत ही अभाव है। इसका परिणाम यह होता है कि इनमें लगे हुए कारीगर अपने श्रम का पर्याप्त लाभ नहीं उठा पाते और न तो विभिन्न उद्योग-धन्धे

विशेष उन्नति ही कर पाते हैं। घरेलू उद्योग-धन्धों को नए सिरे से पुनस्सङ्गठन की आवश्यकता है तभी वे हरे-भरे हो सकते हैं और देश की आर्थिक उन्नति में सहायक हो सकते हैं।

अब कतिपय घरेलू उद्योग-धन्धों की ओर हमें दृष्टि डालना है। सबसे पहले आप **सूत कातने और कर्घे से कपड़ा बुनने** के धन्धे की ओर ध्यान दें। यह धन्धा हमारे यहाँ का सबसे मुख्य और महत्वपूर्ण धन्धा है। सन् १६२० से अर्थात् राष्ट्रपिता स्वर्गीय गांधीजी के भारतीय राजनीति में प्रवेश करने के बाद से और चर्खे तथा कर्घे के द्वारा स्वराज्य प्राप्त कर लेने के उनके सन्देश से इस उद्योग में, जो प्रायः मर चुका था, नई जान आ गई और इसकी उन्नति होने लगी। सूत कातने का काम भी किसानों के लिए विशेष प्रकार से महत्वपूर्ण है। अपने वेकार समय का सदुपयोग वड़े सुन्दर ढङ्ग से वे कर सकते हैं और अपनी आय में वृद्धि कर सकते हैं। इसी सूत से वे अपने परिवार के लिए कपड़ा बुन सकते हैं। इसमें कोई विशेष पूँजी की भी आवश्यकता नहीं। आजकल जब कि वस्तुओं का मूल्य अत्यधिक वढ़ गया है, ७ या ८ रुपए में एक चर्खा खरीद सकता है। घर में स्त्रियाँ भी प्रायः कुछ समय नित्य वेकार रहती हैं। वे भी अपने वेकार समय में सूत कातकर परिवार की आय-वृद्धि में सहायक हो सकती हैं। एक वह समय था जब कि प्रत्येक भारतीय घर में चर्खा चलता था और आज केवल कहीं-कहीं उसकी निशानी रह गई है। सूत कातने के उद्योग को खूब प्रोत्साहन देना चाहिए। कर्घे से कपड़ा बुनने का काम जुलाहों के हाथ में है। किन्तु वे भी मिल के बने हुए सूत का प्रयोग अधिक पसन्द करने लगे हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। हाथ से सूत कातने को भरसक बढ़ाया जाना चाहिए।

अपनी वर्तमान गिरी दशा में भी यह धन्धा देश की अनुपम सेवा कर रहा है। महायुद्ध के जमाने और उसके बाद में भी जब कि कपड़े पर विशेष नियन्त्रण था और जनता कपड़े के लिए परेशान थी, उस समय हाथ का बुना कपड़ा खुले बाजार मिल रहा था और अब भी मिलता जा रहा है। यदि यह धन्धा नहीं होता तो समाज की क्या दशा होती, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। हमारे देश में जितने कपड़े की खपत होती है, लगभग उसका एक तिहाई हाथ का बुना होता है। विशेष बारीक और विशेष भद्दे कपड़े की आवश्यकता हाथ से बुने कपड़े से ही हो सकती है। मध्यम कोटि का हाथ का बुना कपड़ा मिल के कपड़े के साथ प्रतियोगिता नहीं कर सकता। सूत कातने और हाथ से कपड़ा बुनने या उनसे सम्बन्धित कार्यों में देश के लाखों व्यक्ति लगे हुए हैं। वर्तमान अवस्था में भी लगभग २५ लाख के ऊपर केवल बुनकर (weaver) इसमें लगे हुए हैं। किन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, अन्य धन्धों की भाँति इसकी भी दशा कोई अच्छी नहीं है। प्रान्तीय सरकारों और केन्द्रीय सरकार को भी इस धन्धे को बढ़ावा देने के लिए हर प्रकार से तैयार रहना चाहिए। वे इधर कुछ ध्यान दे रही हैं, किन्तु वह पर्याप्त नहीं है। कुछ सार्वजनिक संस्थाएँ भी इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य कर रही हैं।

तेल पेरने का काम (Oil Crushing)

जिस प्रकार 'जुलाहा' भारतीय गाँवों का एक मुख्य अङ्ग होता है उसी प्रकार तेल पेरने का काम करनेवाला व्यक्ति, जिसे साधरणतया तेली कहते सुना जाता है, भी प्रत्येक गाँव में पाया जाता है। बहुत ही कम ऐसे गाँव मिलेंगे जहाँ तेल

पेरने का काम बिल्कुल न होता हो। प्रत्येक परिवार में तेल दैनिक आवश्यकता की वस्तु है। धार्मिक कार्यों में भी इसका प्रयोग होता है। तेली का मुख्य काम तेल पेरना और बेचना होता है। किन्तु वह कुछ खेती भी करता है। तेल कोल्हू में पेरा जाता है। तेल की मिलों के खुलने से इस काम को कुछ धक्का अवश्य लगा है, किन्तु ऐसा नहीं कि यह बिल्कुल नष्ट हो जाय। कोल्हू का तेल मशीन के तेल से अच्छा होता है। अतः इसका बाजार कभी बन्द नहीं हो सकता। स्वास्थ्य की दृष्टि से कोल्हू का ही तेल काम में लाना चाहिए। तेली प्रायः सरसों, तीसी, तिल, महुआ, नीम आदि से तेल निकालते हैं।

रस्सी बटना (Rope-making)

रस्सी दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं में से है। इसकी आवश्यकता कुएँ से पानी खींचने के लिए पड़ती है। पालतू पशुओं को भी इसी से बाँध कर रखते हैं। मोट आदि से सिंचाई में भी इसकी आवश्यकता पड़ती है। चारपाइयों को बुनने और इसी की 'ओरदावन' लगती है। अतः रस्सी हमारे विशेष काम की चीज है।

गाँव में लोग अवकाश के समय रस्सी बटने का काम करते हैं। रस्सी बनाने के लिये सन, मूँज, तरह तरह की घासें, नारियल की जटायें आदि काम में लाई जाती हैं। मोटी रस्सी को रस्सा कहते हैं और पतली रस्सी को रस्सी कहते हैं। रस्से का प्रयोग पानी खींचने, सिंचाई आदि काम में होता है। पतली रस्सी चारपाई बुनने, ओरदावन लगाने आदि के काम में आती है। सन और मूँज की पतली रस्सी जिसे चारपाई बुनने का काम लेते हैं, क्रमशः सुतली और बांध कहते हैं। जो

रस्सा घास या मूँज से वनती है इसके लिए घास या मूँज को पहले पानी में भिगो देते हैं और अच्छी तरह भींग जाने पर खूब कूटते हैं। इस प्रकार उनके लम्बे लम्बे पतली रेशे डोरे की तरह अलग हो जाते हैं। और इन्हीं रेशों को वट कर रस्सी वना लेते हैं। रस्सा वनाने के लिए पतली रस्सी को दोहरा, तेहरा, चोहरा लपेट कर मोटा कर लेते हैं।

सन की रस्सी वनाने के लिए पहले सन के पौदों को कुछ दिनों पानी में सड़ाते हैं। इसके वाद निकाल कर धूप में सुखाते हैं। सूखने के वाद सन को उसमें की लकड़ी से अलग कर लेते हैं। और फिर उसे वट कर रस्सी वनाते हैं।

मूँज की रस्सी मजबूत होती है और पानी पड़ने पर बिगड़ती नहीं है। किन्तु सन की रस्सी पानी पड़ने पर जल्द खराब हो जाती है।

रस्सी बनाने का धन्धा आसान है और इसमें किसी प्रकार के विशेष पूँजी की आवश्यकता नहीं है। भारतीय किसान इसे अपने खाली समय में अपना कर अपनी आर्थिक स्थिति ठीक कर सकते हैं। इसकी सबसे वड़ी विशेषता यह है कि जव चाहें इसे आरम्भ करें और जब चाहें छोड़ दें। इस दृष्टि से अन्य वहुत से धन्धों की तुलना में इसका पहला नम्बर आता है। अन्तिम वात इसके सम्बन्ध में यह है कि इस कार्य में अत्यधिक शारीरिक वल की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। अपेक्षाकृत दुर्वल और कमजोर व्यक्ति भी इसमें अपने को विना किसी प्रकार की हानि पहुँचाये लगा सकता है।

घी-दूध का काम

मानव-स्वास्थ्य के लिए घी, दूध और उनसे बनी विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ—दही, मलाई, रावड़ी, खोया इत्यादि—

कितनी उपयोगी और आवश्यक है इसे कौन नहीं जानता ? कृषि भारत का सदा से मुख्य पेशा रहा है। इसमें पशुओं की आवश्यकता होती है। अतः पशु पालन और विशेष कर गाय और भैंस पालना यहाँ का एक मुख्य सहायक पेशा रहा है। हिन्दू धर्म में 'गाय' का कितना महत्व है इसी से इसका अनुमान लगाया जा सकता है कि गाय को "माता" कहकर पुकारते हैं। प्रत्येक गाँव में छोटे बड़े सब अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार गाय-भैंस रखते हैं और रखने का यत्न करते हैं। लोगों का स्वास्थ्य और खेती की सफलता इन्हीं पशुओं पर निर्भर करती है।

किन्तु बड़े खेद की बात है कि इनकी वर्तमान दशा ठीक नहीं है बल्कि बहुत ही गिरी हुई है, देहातों में चरागाहों की कमी हो गई है क्योंकि अधिक से अधिक भूमि खेती के काम में लाई जा रही है। अतः पशुओं को भरपेट भोजन नहीं मिलता। ऐसी दशा में गायों और भैंसों से अधिक दूध की आशा कैसे की जा सकती है। इनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। उन्हें तरह तरह के रोग भी होते हैं जिनकी चिकित्सा का समुचित और व्यापक प्रबन्ध नहीं है। अतः इन खराबियों को दूर करने के लिए सरकार और जनता दोनों को प्रयत्न करना चाहिए।

घी-दूध की हमारे देश में बहुत कमी है। इसका कारण पशुओं की संख्या का कम होना नहीं है बल्कि उनकी अपेक्षाकृत अनुत्पादकता है (Unproductiveness)। जो लोग इन व्यवसायों में लगे होते हैं वे ईमानदारी से काम नहीं करते। ग्वाले प्रायः दूध में पानी मिलाकर बेंचते हैं। घी में भी लोग तरह तरह की मिलावटें करते हैं। शुद्ध घी मिलना तो आजकल असम्भव-सा हो गया है।

दूध से दही, मलाई, रावड़ी इत्यादि के अलावे मक्खन भी तैयार किया जाता है। देहातों में तो मक्खन नहीं तैयार किया जाता किन्तु शहरों में होता है। देहात में प्रायः दूध से दही और दही से घी बनाते हैं। दूध तरह-तरह की मिठाइयाँ बनाने में भी प्रयोग किया जाता है। जिस दूध से मक्खन निकाल लिया जाता है उसे मखनिया दूध कहते हैं।

इस धन्धे के सम्बन्ध में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—
(१) दूध आदि का काम करने वाले सफाई रक्खें। जहाँ गाय या भैंस को दूहा जाता है वह जगह साफ सुथरी होनी चाहिये, दूध दूहने का बर्तन भी साफ हो तथा दूध हमेशा ढँक कर रक्खा जाय। दूध जितने ही लाभ की वस्तु है उतनी ही हानि-कारक भी हो जाती है यदि ठीक ढंग से वह नहीं रक्खा जाय और उसमें रोग के कीटाणुओं का प्रवेश हो जाय। तरह-तरह की भयानक बीमारियाँ खराब दूध के कारण ही फैलती हैं।

दूध और घी में किसी प्रकार की कोई मिलावट न की जाय। सरकार को इसके लिए विशेष प्रयत्न करना चाहिए। उसका ध्यान इधर गया है किन्तु अब तक कुछ हो नहीं पाया है। आशा है इस दिशा में शीघ्र ही कोई कदम सरकार उठाएगी।

गाय-भैंसों की दशा सुधारने के लिए तथा उनका उत्पादन बढ़ाने के लिए उनके लिए पर्याप्त चारे का प्रबन्ध करना होगा तथा उनके रोगों की चिकित्सा के लिए व्यापक प्रबन्ध सरकार की ओर से होना चाहिए। समय-समय पर इन पशुओं की प्रत्येक जिले में प्रदर्शनी हुआ करे और जिस व्यक्ति की गाय या भैंस स्वास्थ्य और दूध की दृष्टि से बहुत अच्छी हो उसे सरकार की ओर से पुरस्कार मिलना चाहिए। यह अन्य लोगों

के लिए अपने पशुओं को ठीक दशा में रखने के लिए प्रोत्साहन का कार्य करेगा। अन्त में यह भी स्मरण रहे कि इनकी नस्ल सुधारने का भी प्रयत्न सरकार को करना होगा। यदि ये सब सुधार कर दिये जायँ तो यह काम बहुत फैल सकता है और इसमें बहुत से व्यक्तियों को लगा कर उनको बेकारी से मुक्त कर आर्थिक निश्चिन्तता प्रदान की जा सकती है। शुद्ध घी-दूध और उनके बने पदार्थों को प्राप्ति तथा उपभोग से हमारा राष्ट्रीय स्वास्थ्य भी सुधार की ओर अग्रसर होगा। इसके अतिरिक्त खेती में भी विशेष सुविधाएँ प्राप्त होंगी। अतः इस उद्योग को विशेष प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है।

लकड़ी का काम

प्रत्येक मनुष्य को लकड़ी की बनी बहुत-सी चीजों की आवश्यकता होती है। किसानों के लिए आवश्यक हल, जुआ, पीढ़ा चारपाई, बैलगाड़ी आदि वस्तुएँ लकड़ी ही से बनती हैं। इसके अतिरिक्त मेज, कुर्सी, चौकी, लकड़ी के बक्स, आलमारियाँ इत्यादि दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ लकड़ी ही से बनती हैं। लकड़ी से इन वस्तुओं के बनानेवाले को बढ़ई कहते हैं। देहात में बढ़ई प्रायः हल, बैलगाड़ियाँ और चारपाई के पाए आदि बनाने का काम करते हैं। किन्तु उनमें भी कुछ बड़े उत्तम कोटि के कारीगर होते हैं जो बढ़िया से बढ़िया कुर्सी, मेज, आलमारियाँ बना सकते हैं। लकड़ी पर तरह तरह के बेल बूटे बनाने में भी वे विशेष निपुण होते हैं। बेल-बूटे और नकाशी के काम में अधिकतर शीशम, आबनूस और शाल की लकड़ी काम में लाई जाती है। बनारस के लकड़ी के खिलौने मशहूर हैं। वहाँ लकड़ी के खिलौनों के ऊपर हल्के रंग से चित्रकारी की

जाती है। इसके बाद एक विशेष प्रकार की वारनिश कर दी जाती है जिससे इन खिलौनों की सुन्दरता और आकर्षण में बहुत वृद्धि हो जाती है।

लोहार का काम

बढ़ई लकड़ी से आवश्यक वस्तुयें तैयार करता है। लोहे की आवश्यक चीजें तैयार करने वाला व्यक्ति लोहार कहलाता है। बढ़ई की भांति लोहार लगभग प्रत्येक गाँव में पाया जाता है। लोहार का मुख्य काम खेती से सम्बन्धित लोहे की वस्तुएँ किसान को बना कर देना तथा उनकी मरम्मत करना होता है। हल का फाल, खुरपी, कुल्हाड़ी, कुदाल, हँसिया इत्यादि वही बनाता है। इसके अतिरिक्त लोहे का तवा, कलछुट, पल्टा, चाकू आदि भी बनाने का काम वह करता है। लोहार इन चीजों को बनाने के लिए लोहे को पहले आग में खूब तपाकर लाल कर लेता है। फिर उसे हथौड़े से पीट पीट कर अभीष्ट वस्तु की शक्ल में बदल देता है। लोहे के कारखानों के खुल जाने से लोहारों के काम को कुछ धक्का अवश्य पहुँचा है। फिर भी उनकी दशा अच्छी ही है। शहर के दूकानदारों के लिए भी वह चाकू, तवा इत्यादि छोटी-मोटी चीजें बनाता है।

मिट्टी के बरतन बनाना

लोहार, बढ़ई और जुलाहा की भांति कुम्हार भी भारतीय ग्रामों का एक मुख्य सदस्य होता है। लगभग प्रत्येक गाँव में कम से कम एक कुम्हार का परिवार अवश्य पाया जाता है जो गॉव के लिये मिट्टी के बरतन बनाता है। केवल मिट्टी के वर्तन ही बनाना उसका काम नहीं है। वह मकानों की छाजन के लिये खपरैल आदि भी बनाता है। वह साधारणतया हाँड़ी,

सुराही, तम्बाकू पीने के काम में आने वाली चिलमें, मिट्टी की कड़ाही, मिट्टी का घड़ा, सकोरे, बैलों को भूसा खिलाने के लिये नाद इत्यादि बनाता है। मिट्टी के कुछ खिलौने भी वह त्योहार के अवसरों पर और विशेष कर दिवाली के अवसर पर बनाता है। कुम्हार अधिकतर जाड़े और गर्मी के दिनों में ही काम करता है, बरसात में नहीं क्योंकि बर्तन सुखाने के लिये उसे धूप की आवश्यकता होती है।

अन्य उद्योग-धन्धे

जिन घरेलू उद्योग-धन्धों का ऊपर संक्षिप्त वर्णन किया जा चुका है उनके अतिरिक्त बहुत से उद्योग-धन्धे देश के विभिन्न भागों में पाए जाते हैं। ग्रामों का पुनस्सङ्गठन, ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन तथा उनमें आवश्यक सुधार करने के उद्देश्य से वर्धा (Wardha) में सन् १९३४ ई० में अखिल भारतीय ग्रामोद्योग सङ्घ की स्थापना हुई। इस सङ्घ की संरक्षता में निम्नलिखित ग्रामोद्योग या उनके प्रयोग चल रहे हैं—(१) धान से चावल निकालना, (२) आटा पीसना, (३) गुड़ बनाना, (४) मूँग-फली छीलना, (५) मधुमक्खी पालना, (६) मछली पकड़ना, (७) नमक बनाना, (८) कागज बनाना, (९) कालीन बनाना, (१०) चटाई बनाना, (११) चाकू-कैंची आदि बनाना, (१२) साबुन बनाना, (१३) चमड़ा तैयार करके उससे तरह-तरह की वस्तुएँ बनाना इत्यादि। इन सब का वर्णन इस पुस्तक के क्षेत्र के बाहर की बात है। किन्तु यह स्मरण रहे कि इन घरेलू उद्योग-धन्धों का देश के आर्थिक जीवन में बहुत बड़ा महत्व है। इनकी उन्नति पर देश की उन्नति बहुत कुछ अंशों में निर्भर है। आज इनकी दशा सन्तोषजनक नहीं। अतः

भारतीय सरकार, प्रान्तीय और केन्द्रीय दोनों, अन्य परोपकारी सार्वजनिक संस्थाओं तथा प्रत्येक भारतीय नागरिक का यह परम कर्तव्य है कि वह इनको इनकी वर्तमान असहाय दशा से निकालने तथा उन्नत दशा में लाने का भरसक प्रयत्न करे। देश की शोचनीय आर्थिक स्थिति को ठीक रास्ते पर लाने के मुख्य उपायों में से एक उपाय घरेलू उद्योग-धन्धों की ओर अधिक ध्यान देना तथा उनको उचित मार्ग पर सङ्गठित और विकसित करना है।

अन्त में हमें संक्षेप में इन उपायों पर भी दृष्टि दौड़ानी है जिनसे इन उद्योगों की उन्नति की जा सकती है।

घरेलू उद्योग-धन्धों की वृद्धि के उपाय

इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम कारीगरों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। अपनी अशिक्षा के कारण उसे विभिन्न प्रकार की हानियाँ उठाना पड़ती हैं जिनकी ओर आरम्भ में संकेत किया जा चुका है। उसकी अशिक्षा ही उसकी दकियानूसी प्रवृत्ति, उसके महत्वाकांक्षा के अभाव और असाहसी होने का मुख्य कारण है। उसके लिए सामान्य और विशिष्ट (technical) दोनों प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए।

इन उद्योग-धन्धों की आर्थिक सहायता भी पर्याप्त मात्रा में करनी होगी। सहकारी साख-समितियों तथा उद्योग-विभाग को इनको कम सूद पर रुपया उधार देने की समुचित व्यवस्था करनी होगी और उन्हें महाजनों के चंगुल से मुक्त करना होगा। इसके साथ ही साथ उत्तम प्रकार के औजारों तथा यन्त्रों की भी पूर्ति का प्रबन्ध इनके कारीगरों के लिए करना पड़ेगा।

इन उद्योगों के लिए बाजार का प्रबन्ध करना होगा। इस समस्या के दो पहलू हैं। सर्वप्रथम इन उद्योगों में उपयोग में

आनेवाले कच्चे माल का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए ताकि प्रत्येक कारीगर को पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल उचित क़ीमत पर मिल सके तथा उसकी पूर्ति (supply) निरन्तर होती रहे। इस समस्या का दूसरा पहलू है इन उद्योगों के तैयार माल की विक्री का प्रबन्ध करना। बिक्री-सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की असुविधाओं के कारण कारीगरों को उचित लाभ नहीं हो पाता। उनके बीच मध्यवर्ती व्यक्तियों (middle men) को निकाल बाहर करने के लिए भरसक प्रयत्न होना चाहिए। इन उद्योगों के तैयार माल की खपत के लिए जनता में प्रचार करने तथा उनकी स्वदेशी एवं देशभक्ति की भावनाओं को जाग्रत करना होगा। इस प्रकार इनके माल की माँग में वृद्धि होगी।

इसके अतिरिक्त समय-समय पर इन कारीगरियों के बने माल की प्रदर्शनियों की व्यवस्था करनी होगी। इससे यह लाभ होगा कि सर्वसाधारण को यह भली भाँति मालूम हो जायगा कि कौन-कौन-सी वस्तुएँ कहाँ बनती हैं। उत्साही व्यक्तियों को इनके उत्पादन के लिए प्रेरणा भी मिलेगी।

अन्त में सरकार को इन उद्योग-धन्धों की ओर अत्यधिक ध्यान देना होगा तथा हर प्रकार से इन्हें प्रोत्साहित करना होगा। इन उद्योगों के तैयार माल को सर्वप्रिय अथवा जनप्रिय बनाने के लिए प्रचार की शरण लेनी होगी और किसी भी प्रकार के निश्चित तथा ठोस सुधार के सुझाव को कार्यान्वित करने के लिए आर्थिक सहायता देनी होगी। प्रान्तीय सरकारें इधर ध्यान दे रही हैं, किन्तु उन्हें और तीव्र गति से काम करना होगा। प्रत्येक प्रान्तीय सरकार अपने प्रान्त के लिए एक पञ्चवर्षीय योजना तैयार करे। प्रान्तीय योजनाओं के पारस्परिक सम्बद्धीकरण (coordination) के लिए केन्द्रीय सरकार की एक

समिति का निर्माण होना चाहिए जो विभिन्न प्रान्तीय योजनाओं में अखिल भारतीय आधार पर मेल बैठा सके। योजनाओं के बन जाने पर उनको शीघ्र कार्य-रूप में परिणत करने का प्रयत्न होना चाहिए। यही इन उद्योगों के स्वस्थ्य विकास का सर्वोत्तम उपाय है।

छठवाँ अध्याय

उपभोग

'उपभोग' का अर्थ-शास्त्र में वास्तविक अर्थ क्या है? जैसा कि आरम्भ में ही बताया जा चुका है, प्रत्येक व्यक्ति को विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता होती है। यदि मानव को 'आवश्यकताओं' का समूह मात्र कहें तो अनुचित न होगा। उपभोग इन्हीं आवश्यकताओं तथा धन के उपभोग या इस्तेमाल से किस प्रकार उनकी तृप्ति की जाती है, का विवेचन करता है।

उपभोग (consumption) का साधारण बोल-चाल में विनाश (destruction) से अर्थ लगाया जाता है। किन्तु अर्थ-शास्त्र में इसका अर्थ नष्ट करना नहीं है। इससे तात्पर्य वस्तु के इस प्रकार के उपयोग से है कि उपयोगकर्ता को उससे सन्तुष्टि प्राप्त हो। उत्पत्ति के सिलसिले में बताया जा चुका है कि मनुष्य भौतिक पदार्थ उत्पन्न नहीं कर सकता। वह तो हमें प्रकृति से प्राप्त होता है। मनुष्य केवल उसके रूप और स्थान आदि में परिवर्तन कर सकता है। जिस प्रकार मनुष्य भौतिक पदार्थ उत्पन्न नहीं कर सकता है उसी प्रकार वह भौतिक

पदार्थ को नष्ट नहीं कर सकता, क्योंकि पदार्थ का नाश नहीं होता। केवल उसका रूप बदल जाता है। अँधेरे में प्रकाश के लिए मोमबत्ती जलाई जाती है। मोमबत्ती जलकर समाप्त हो जाती है और हम समझते हैं कि मोमबत्ती नष्ट हो गई। किन्तु रासायनिक विश्लेषण से पता चलेगा कि मोमबत्ती का केवल पानी और कार्बन-डाई-आक्साइड में रूपान्तर हो गया। एक दूसरा उदाहरण लीजिए। कागज जला देने से हम समझते हैं कि वह नष्ट हो गया। किन्तु जिस पदार्थ से कागज बना हुआ था वह नष्ट नहीं हुआ। जलाने के कारण उसका रूपान्तर हो गया, उसका कुछ भाग धुएँ की शक्ल में आकाश में उड़ गया और कुछ अंश राख की शक्ल में रह गया। कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य न तो भौतिक पदार्थ उत्पन्न कर सकता है और न तो उसे नष्ट ही कर सकता है। वह अपनी विभिन्न क्रियाओं द्वारा केवल उसके रूप को बदल देता है। अतः उपभोग का अर्थ पदार्थ के विनाश से नहीं लगाया जा सकता।

उत्पत्ति पदार्थ या वस्तु के इस प्रकार के रुपान्तर को कहते हैं कि उस वस्तु की उपयोगिता में वृद्धि हो जाय अर्थात् वह वस्तु किसी मानवी आवश्यकता को तृप्त करने की शक्ति प्राप्त कर ले। उपभोग इसका ठीक उल्टा है। वस्तुओं के इस प्रकार के रुपान्तर को कहते हैं कि उससे उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाय। अतः उपभोग का अर्थ यदि हम नष्ट होने से ही लगाएँ तो कहा जा सकता है कि वस्तु की उपयोगिता नष्ट करना ही उसका उपभोग है। किन्तु यहाँ एक बात और स्मरण रखनी होगी। हर प्रकार से उपयोगिता नष्ट करने को उपभोग नहीं कहेंगे। वस्तुओं की उपयोगिता कई प्रकार से नष्ट की जा सकती है। उन्हें तोड़-फोड़ कर या जलाकर या उनका इस प्रकार

उपयोग करके कि उससे हमारी कोई आवश्यकता सन्तुष्ट होती हो इत्यादि किसी भी प्रकार से उसकी उपयोगिता नष्ट की जा सकती है। अर्थ-शास्त्र में जब किसी वस्तु की उपयोगिता मानवी आवश्यकता के तृप्त करने में नष्ट को जाती है तभी उस वस्तु का उपभोग करना कहलाता है। एक उदाहरण लीजिए। रोटी खाई भी जा सकती है और आग में जलाई भी जा सकती है। खाने से भूख शान्त होती है और सन्तुष्टि प्राप्त होती है। आग में डाल देने से किसी आवश्यकता की तृप्ति नहीं होती। अतः रोटी का आग में जलाया जाना उपभोग नहीं कहलाएगा यद्यपि उसकी उपयोगिता नष्ट हो गई। किन्तु रोटी का खाया जाना जिससे भूख मिट जाय उपभोग का उदाहरण है। अतः उपभोग की हम निम्नांकित परिभाषा दे सकते हैं—

उपभोग वस्तुओं की उपयोगिता इस प्रकार नष्ट करने को कहते हैं जिससे मनुष्य की कोई आवश्यकता पूरी होती हो तथा उसे सन्तुष्टि प्राप्त होती हो। संक्षेप में, मानवी आवश्यकताओं को तृप्त करने के लिये वस्तुओं के उपयोग को ही उपभोग कहते हैं।

आवश्यकताएँ (Wants)

'आवश्यकताओं' का उल्लेख आरम्भ से ही होता चला आ रहा है। वे ही मनुष्यों के प्रयत्नों का मूल कारण होती हैं। किन्तु अब तक इनके सम्बन्ध में कुछ विचार नहीं किया गया। अब हमें आवश्यकताओं के वास्तविक अर्थ, उनकी प्रमुख विशेषताओं, उनके भेद और उनकी सन्तुष्टि आदि के सम्बन्ध में कुछ विस्तारपूर्वक विचार करना है।

आवश्यकता का अर्थ

आवश्यकता से हमारा क्या तात्पर्य है ? जिस अर्थ में 'आवश्यकता' शब्द का प्रयोग अर्थ-शास्त्र में होता है साधारणतया उससे भिन्न अर्थ दैनिक बोल-चाल में लगाया जाता है। जन-साधारण के लिए 'आवश्यकता और 'इच्छा' में कोई भेद नहीं होता। किन्तु एक अर्थशास्त्री इन दोनों में भेद समझता है। उसके लिए प्रत्येक 'आवश्यकता' 'इच्छा' होती है लेकिन प्रत्येक 'इच्छा' अनिवार्यतः 'आवश्यकता' नहीं होती। 'इच्छा' की तुलना यदि एक वृक्ष से की जाय तो 'आवश्यकता' की उसको एक 'प्रमुख' शाखा कह सकते हैं। अतः 'आवश्यकता' का अर्थ-शास्त्रीय अर्थ समझने के लिये हमें 'इच्छा' की उस मुख्य विशेषता या लक्षण को समझना होगा जिसके कारण वह आवश्यकता कही जाती है।

जब हम किसी वस्तु को देखते हैं और उससे आकर्षित हो जाते हैं या हमें वह वस्तु पसन्द आ जाती है तो हमारे अन्दर उस वस्तु को प्राप्त करने की प्रवृत्ति का उदय होता है। किसी भी पदार्थ या वस्तु, जो हमारे पास नहीं होती, उसके प्राप्त करने की मनोवृत्तियाँ या उत्सुकता का अनुभव जब हम करते हैं तो यह कहा जाता है कि हम उसे प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि इच्छा उत्पन्न होने के दो मूल कारण हैं। सर्व प्रथम किसी वस्तु या पदार्थ का हमारी दृष्टि में रुचिकर जँच जाना जिससे हम उसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। दूसरा हमारे पास उस वस्तु का न होना। इन्हीं दो कारणों से हमारे अन्दर किसी वस्तु के प्राप्त करने की मनोवृत्ति या प्रवृत्ति

का उदय होता है इसी को कहते हैं कि हमें अमुक वस्तु की 'इच्छा' है।

किन्तु नित्य प्रति हमें नाना प्रकार की आकर्षक, मन को लुभानेवाली वस्तुएँ, जिनसे हम वंचित होते हैं तथा जिनका उपयोग दूसरे करते होते हैं, देखने को मिलती हैं और उनके देखते समय साधारणतया अधिकांश लोगों के अन्दर यह प्रवृत्ति जाग उठती है कि क्या ही अच्छा होता कि हमारे पास भी वह वस्तु होती। इसी प्रकार की बहुत-सी वस्तुओं के सम्बन्ध में लोगों के मस्तिष्क में विचार उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं। ये सब उनकी 'इच्छाएँ' कहलाती हैं।

किन्तु इन्हीं इच्छाओं में से कतिपय इच्छाएँ ऐसी प्रबल होती हैं कि हम उस अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति के लिए प्रयत्न-शील हो जाते हैं। हम उस पदार्थ के अभाव को सहन नहीं कर पाते और उसके हासिल करने के लिए आवश्यक उद्योग और यत्न करते हैं। जब कोई इच्छा यह रूप धारण कर लेती है तो वह आवश्यकता कहलाने लगती है। अतः मनुष्य की **आवश्यकता से तात्पर्य उसकी उस इच्छा से होता है जिसे पूरा करने के लिए वह किसी न किसी प्रकार का उद्योग या प्रयत्न करता है।** एक उदाहरण लीजिए। एक किसान एक धनी व्यक्ति को मोटर कार में बैठकर भ्रमण करते हुए देखता है। उसके अन्दर यह इच्छा होती है कि उसके पास भी मोटर कार हो जाती तो वह भी इसी प्रकार भ्रमण करता। उसकी इस इच्छा के सम्बन्ध में दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं। एक सम्भावना यह है कि जब तक मोटरकार उसकी दृष्टि में रही तब तक उसे प्राप्त करने का विचार उसके मस्तिष्क में

रहे और उसके आँख से ओझल हो जाने पर वह विचार भी हट जाय तथा मोटरकार प्राप्त करने के लिए वह किसी प्रकार का कोई प्रयत्न न करे। यदि उसकी 'इच्छा' यहीं तक सीमित रही तब तो वह कोरी 'इच्छा' ही रह जायगी। दूसरी सम्भावना यह है कि उसकी मोटरकार प्राप्त करने की 'इच्छा' उसे इतनी बेचैन कर दे कि वह उसके लिए धन इकट्ठा करने के प्रयत्न में लग जाय ताकि उससे वह मोटरकार खरीद सके। उसकी वही 'इच्छा' इस दशा में उसकी 'आवश्यकता' कहलाने लगेगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि **'आवश्यकताएँ' मनुष्य की उन बलवती इच्छाओं को कहते हैं जो अभीष्ट पदार्थों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार के आवश्यक उद्योग यत्न करने के लिये प्रेरित और बाध्य कर उससे प्रयत्न कराती हैं।**

आवश्यकताओं के प्रमुख लक्षण

मनुष्य की आवश्यकताओं की गणना नहीं की जा सकती। वे व्यक्ति विशेष की आदतों, सामाजिक प्रथाओं तथा आदर्शों पर निर्भर करती हैं। देश, जाति, समय के अनुसार उनमें भिन्नता होती है। किन्तु इस भिन्नता के होते हुए भी उनमें कतिपय ऐसी विशेषताएँ हैं जो सार्वभौमिक हैं अर्थात् जो प्रत्येक देश, प्रत्येक समाज और हर समय के प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं में पाई जाती हैं। इन्हें मानव आवश्यकतों की प्रमुख विशेषताएँ कहते हैं। ये विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

मानवी आवश्यकताएँ अपरिमित होती हैं। असभ्य मानव की आवश्यकताएँ कम थीं। मनुष्य जैसे-जैसे सभ्य होता

गया उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती गईं। यह प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव होगा कि एक आवश्यकता के पूरा होते ही दूसरी आवश्यकता महसूस होने लगती है। यह मानव प्रकृति है कि वर्तमान आवश्यकताओं के तृप्त होते ही नई आवश्यकताओं का उदय होने लगता है और इन आवश्यकताओं के गुण और प्रकार में भी वृद्धि होती जाती है। उदाहरण में एक भूखे आदमी का उदाहरण यहाँ दिया जा सकता है। एक क्षुधा से परेशान व्यक्ति की कल्पना कीजिए। उसकी भूख केवल रूखा-सूखा भोजन द्वारा मिट सकती है। किन्तु जब वह उस रूखे-सूखे भोजन के बारे में निश्चिन्त हो जाता है तो वह उत्तम प्रकार का भोजन चाहने लगता है। पहले यदि केवल बाजरे की रोटी और दाल से उसका काम चल जाता था तो अब वह चाहता है कि गेहूँ की सुन्दर रोटी और बढ़िया दाल तथा कुछ तरकारी भी मिले। इन वस्तुओं के प्राप्त कर लेने तथा उनके सम्बन्ध में निश्चिन्त हो जाने पर वह चाहने लगता है कि घी-दूध भी प्राप्त हो तो बहुत ही अच्छा होगा। इनके लिए भी प्रयत्न करता है। ज्योंहि उसकी यह आवश्यकता तृप्त होती है कि विभिन्न प्रकार की तरकारियाँ, मेवे और फल आदि मिलने चाहिए। इसी प्रकार यदि पहले मिट्टी के बर्तन से काम चला लेता था, तो उसके बाद धातु के बर्तनों की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि आवश्यकताओं का कोई अन्त नहीं। एक आवश्यकता ज्योंही तृप्त होती है त्योंही दूसरी आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। संक्षेप में आवश्यकताए असंख्य और अपरिमित होती हैं।

आवश्यकताओं की संख्या अपरिमित है किन्तु प्रत्येक आवश्यकता की तृप्ति कुछ मात्रा में आवश्यक धन से की

जा सकती है। भूखे व्यक्ति की भूख और प्यास एक निश्चित परिमाण में भोजन और पानी से शान्त की जा सकती है। अन्य आवश्यकताओं के सम्बन्ध में भी यही बात है। यथेष्ट साधन के होने पर प्रत्येक 'आवश्यकता' सन्तुष्ट की जा सकती है।

मनुष्य की कतिपय आवश्यकताएँ आपस में प्रतियोगिता या स्पर्द्धा करती है। प्रत्येक आवश्यकता पहले तृप्त होने का प्रयत्न करती है। कभी कभी दैनिक जीवन में मनुष्य के सामने एक ही समय कई आवश्यकताएँ उपस्थित हो जाती हैं और वह विचार करने लगता है कि किस आवश्यकता को वह पहले सन्तुष्ट करे। अन्त में कोई एक आवश्यकता वह चुन लेता है और अन्य आवश्यकताओं को भविष्य के लिए छोड़ देता है। यह वह इसलिए करता है कि उसके साधन परिमित होते हैं और सब की पूर्ति वह एक साथ नहीं कर सकता।

कुछ आवश्यकताएँ एक दूसरे की पूरक होती हैं। कुछ आवश्कताएँ एक साथ उत्पन्न होती हैं और उनको एक साथ ही तृप्त भी करना होता है। फाउन्टेन पेन और उसमें काम में लाई जानेवाली स्याही की आवश्यकताएँ एक दूसरे की पूरक हैं। दोनों की तृप्ति साथ-साथ होनी चाहिए।

आवश्यकताएँ, चाहे वह अर्जित हों या कृत्रिम हों, आदतों का रूप धारण करने का प्रयत्न करती हैं। दूसरे शब्दों में वे अनिवार्य बनने का प्रयत्न करती हैं। समय की प्रगति के साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ उसके रहन-सहन के स्तर का मुख्य अङ्ग बन जाती हैं और वह उन्हें आसानी से नहीं छोड़ता। किन्तु इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि जब हमारी

किसी वस्तु की आवश्यकता आदत के रूप में बदल जाती है तो वह हमारी स्थायी आवश्यकता हो जाती है। जिस प्रकार आदतें छोड़ी जा सकती हैं और छोड़ी जाती हैं उसी प्रकार आवश्यकताएँ भी। यह तभी सम्भव है जब कि उससे अधिक बलवती कोई आवश्यकता उत्पन्न हो जाय जिसकी तृप्ति से अधिक सन्तुष्टि प्राप्त हो सके।

मानव-आवश्यकताओं की ये ही मुख्य विशेषताए हैं। इनके वर्णन के बाद अब हमें आवश्यकता और प्रयत्न के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करना है।

आवश्यकता और प्रयत्न (Wants & Etpost)

पहले कई बार इसका उल्लेख किया जा चुका है कि 'आवश्यकता' ही मनुष्य के सब प्रकार के आर्थिक प्रयत्नों का मुख्य कारण है। उसी से प्रेरणा पाकर मनुष्य प्रयत्न करता है जिसके फलस्वरूप वस्तुओं का उत्पादन होता है। जैसे ही किसी वस्तु की आवश्यकता मनुष्य को प्रतीत होती है वैसे ही वह उसके लिए आवश्यक प्रयत्न करता है तथा उसे तृप्त करता है। इस प्रकार सब आर्थिक प्रयत्नों का उद्देश्य उपभोग (consumption) ही होता है जिसका मुख्य साधन उत्पत्ति (production) है।

प्रारम्भिक असभ्य मानव का रहन-सहन जानवरों के रहन-सहन की ही भाँति था। जब तक वह अपनी बुनियादी आवश्यकताओं (जैसे भोजन इत्यादि) से बाध्य नहीं हो जाता था तब तक वह किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करता था। भूख लगने पर ही वह भोजन की खोज करता था। अन्य जानवरों की भाँति वह भी अपनी इन आवश्कताओं को पूरा करने के

लिए जङ्गली जानवरों का शिकार करता था या जङ्गली फल-मूल से अपनी भूख शान्त कर लेता था। पानी जहाँ नदी-नालों में मिलता था, पी लेता था और प्यास बुझा लेता था। बहुत दिनों तक उसको यही दशा रही। किन्तु जैसे-जैसे आबादी बढ़ती गई तथा जङ्गली फल-फूल और जानवरों के शिकार से उसकी आवश्यकताओं की उचित और पर्याप्त मात्रा में तृप्ति होने में बाधा पड़ने लगी, वह इन आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए अन्य साधनों और वस्तुओं की तलाश करने लगा। क्रमशः वह नई-नई बातों का पता लगाता गया। इस प्रकार सभ्यता के पथ पर वह दिनों-दिन अग्रसर होता गया तथा समयोपरान्त वह खेती करना तथा कुएँ खोदकर पानी निकालना जान गया। पुनः जलवायु-सम्बन्धी कठिनाइयों (वर्षा, गर्मी, जाड़ा इत्यादि) का भली भाँति सामना करने के लिए आरम्भ में जहाँ वृक्षों के पत्ते तथा छाल या खाल का प्रयोग करता था और झोपड़ी बनाता या जमीन के अन्दर गुफा बनाता था वहाँ धीरे-धीरे कपड़े और तरह-तरह के मकान बनाना सीख गया, इससे यह मालूम पड़ता है कि सभ्यता की शैशवावस्था में 'आवश्यकताएँ' ही प्रयत्नों की प्रेरक और मूल कारण होती हैं और उन्हीं आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के ही उद्देश्य से सब प्रकार के प्रयत्न किए जाते हैं।

किन्तु जैसे-जैसे वह सभ्य होता जाता है उसकी आवश्यकताओं की संख्या तथा प्रकार में वृद्धि होती जाती है। अब केवल रूखा-सूखा भोजन उसे सन्तुष्ट नहीं कर पाता। उसके स्थान पर वह बढ़िया और उत्तम प्रकार का भोजन उत्तम ढङ्ग से तैयार किया हुआ चाहता है। धातु के सुन्दर बर्तनों में भोजन परोसा जाना चाहिए। अब मिट्टी के बर्तनों से उसका

काम नहीं चलने का। उन्नतिशील मानव समाज में मनुष्य अपनी बुनियादी आवश्यकताओं (भोजन, वस्त्र, गृह) की तृप्ति के बाद, अपने को दूसरों की निगाह में बड़ा दिखाना चाहता है तथा अपनी निपुणता या कार्य-क्षमता (efficiency) में वृद्धि करना चाहता है। वह अपनी इस प्रकार की इच्छाओं से प्रेरित होकर प्रसन्नता के साथ अपने को नए प्रयत्नों में लगाता है।

मानव इतिहास के प्रारम्भ से ही 'आवश्यकताओं' और प्रयत्नों में क्रिया-प्रतिक्रिया होती चली आ रही है। वे एक दूसरे को प्रभावित करते चले आ रहे हैं। आरम्भ में शारीरिक आवश्यकताएँ, भूख-प्यास, मालूम पड़ती हैं और इनकी तृप्ति के लिए मनुष्य उद्योग करता है। किन्तु बाद में इन्हीं आवश्यकताओं को उत्तम ढङ्ग से तृप्त करने के प्रयत्नों के फलस्वरूप नई आवश्यकताएँ उत्पन्न होने लगती हैं। एक उदाहरण लीजिए। प्यास मनुष्य की एक अनिवार्य मुख्य आवश्यकता है। इसके लिए आरम्भ में नदी और तालाबों के जल का उपयोग किया गया। किन्तु धीरे-धीरे इसमें कठिनाई प्रतीत होने लगी। सब स्थानों पर नदी और तालाब होते भी नहीं। अतः इस कमी को पूरा करने के लिए क्रमशः कुओं की खुदाई और उनसे पानी प्राप्त करने का ढङ्ग मानव को मालूम हुआ। किन्तु कुओं से पानी निकालने के लिए रस्सी और बाल्टी की जरूरत होती है। इस प्रकार प्यास बुझाने के लिए मनुष्य द्वारा किए गए कुओं के निर्माण-सम्बन्धी प्रयत्न के कारण रस्सी और बाल्टी की आवश्यकताओं का उदय हुआ। एक और उदाहरण लीजिए। शरीर ढँकने के लिए वस्त्र चाहिए इस एक आवश्यकता से अनेक नई आवश्यकताएँ निकल आती हैं तथा उनकी सन्तुष्टि के लिए नए प्रयत्न करने

पड़ते हैं। कपास की खेती के लिए विभिन्न प्रकार के लोहे और लकड़ी के औजारों की आवश्यकता होती है, कपड़ा बनाने के स्थान तक इसे पहुँचाने के लिए रेलवे या मोटर लारी या भाप से चलनेवाले जहाजों इत्यादि की आवश्यकता होती है। रूई को कपड़े में बदलने के लिए बड़ी-बड़ी मिलों की आवश्यकता होती है। मनुष्य की आवश्यकताओं को कोई माप नहीं सकता। उनकी कोई सीमा नहीं होती।

तो फिर हमारा निष्कर्ष क्या रहा? **सभ्यता के विकास के साथ साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ तीव्र गति से बढ़ती जाती हैं और इन आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए किए जाने वाले प्रयत्नों के फलस्वरूप नई आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं जिनके लिए पुनः प्रयत्न करने होते हैं और यही क्रम चलता रहता है। इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट है कि सभ्यता की आरम्भिक अवस्था में आवश्यकताएँ ही प्रयत्नों को जन्म देती हैं। किन्तु आर्थिक उन्नति के बाद की अवस्थाओं में प्रयत्नों के कारण ही नई आवश्य-ताएँ उत्पन्न होती जाती हैं जिनके कारण आर्थिक उन्नति होती चली जाती है।**

आवश्यकताओं का वर्गीकरण
(Classification of wants)

आवश्यकताओं का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। एक वर्गीकरण उनकी विशेषताओं के आधार पर किया जा सकता है। कुछ आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जिनको

सबसे पहले सन्तुष्ट करना होता है जैसे भोजन-वस्त्रादि सम्बन्धी आवश्यकताएँ क्योंकि इनके बिना मानव जीवन ही असम्भव है। मनुष्य अपना जीवन बचाने के लिए सब कुछ देने को तैयार हो सकता है। अतः इन आवश्यकताओं की तृप्ति के बाद ही वह अपनी आय की बचत को इनसे कम आवश्यक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि में व्यय करेगा।

आवश्यकताओं का एक दूसरा भेद उनकी तृप्ति के लिए प्राप्त वस्तुओं की संख्या के आधार पर किया जा सकता है। कुछ आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जिनको तृप्त करने के लिए अनेक पदार्थ उपलब्ध होते हैं। धूम्रपान की आवश्यकता को पूरा करने के लिए बीड़ी, तम्बाकू, सिगरेट, गाँजा, भाँग और चरस आदि किसी का प्रयोग कर सकते हैं। किन्तु इस प्रकार के भेद का कोई विशेष महत्व नहीं। अर्थ-शास्त्र में आवश्यकताओं का एक निश्चित वर्गीकरण है जो विशेष महत्वपूर्ण है। यहाँ हमें उसी का वर्णन करना होगा।

एक अर्थ-शास्त्री 'आवश्यकताओं' को मुख्यतः तीन वर्गों में रखता है। ये तीनों वर्ग निम्नलिखित हैं—(१) **आवश्यक आवश्यकताएँ** (necessaries) (२) **आराम सम्बन्धी आवश्यकताएँ**, (३) **विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताएँ**। इन तीनों का अलग अलग विस्तार पूर्वक वर्णन आवश्यक है।

(१) आवश्यक आवश्यकताएँ (necessaries) इनसे तात्पर्य मनुष्य की उन आवश्यकताओं से होता है जिनकी सन्तुष्टि उसके जीवित रहने के लिए बहुत जरूरी होती है और जिनकी तृप्ति के बिना उसे पीड़ा का अनुभव होता है। ये आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जिनको तृप्त करना ही होगा। इन

आवश्यकताओं के भी तीन भेद किए गए हैं—(क) जीवन-रक्षा सम्बन्धी आवश्यक आवश्यकताएँ, (ख) निपुणता के लिए आवश्यक आवश्यकतायें (necessaries for comforts) (ग) कृत्रिम आवश्यक आवश्यकताएँ (conventional necessaries) जिन आवश्यकताओं की तृप्ति मनुष्य को मृत्यु से वचाने के लिए जरूरी और अनिवार्य होती है उनको जीवन रक्षा सम्बन्धी आवश्यक आवश्यकताएँ कहते हैं। इसके अन्दर निम्नलिखित आवश्यकताएँ आती हैं—शरीर-प्राण एक साथ रखने के लिए न्यूनतम आवश्यक मात्रा में भोजन, पानी, और वस्त्र। विना इनके मानव-जीवन ही असम्भव है। देश की स्थिति और जलवायु के अनुसार इसकी मात्रा भिन्न-भिन्न देशों के लिए अलग अलग होती है। ठंडे देशों में अधिक भोजन-वस्त्र की आवश्यकता होती है अपेक्षाकृत गर्म देशों के।

इसके वाद उन आवश्यक आवश्यकताओं का नम्बर आता है जो किसी व्यक्ति को अपनी निपुणता या कार्यक्षमता वनाए रखने के लिए आवश्यक होती हैं। शारीरिक, मानसिक और विशिष्ट गुणों को उत्पन्न करने वाली वस्तुएँ इसके अन्तर्गत आती हैं। जीवन रक्षा के लिए आवश्यक न्यूनतम मात्रा में अधिक भोजन-वस्त्र का मिलना मनुष्य को ठीक प्रकार से स्वस्थ और कार्य करने के योग्य रखने के लिए आवश्यक है। निम्नलिखित वातें इसके अन्तर्गत आती हैं—

(१) भरपेट स्वास्थ्य-वर्द्धक भोजन।

(२) पर्याप्त मात्रा में शरीर ॅकने के लिए वस्त्र।

(३) रहने के लिए स्वास्थ्यकर घर।

(४) चिकित्सा की सुविधाओं का प्राप्त होना।
(५) बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध उस स्तर तक जहाँ तक उनके संरक्षक शिक्षित हों।

रोटी, चावल और दाल का प्रयोग जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक होता है। घी, दूध, मक्खन, मलाई के बिना मनुष्य जीवित रह सकता है। इसलिए इन्हें जीवन-रक्षा की आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तुएँ नहीं कह सकते। किन्तु इनके उपभोग से मनुष्य का स्वास्थ्य ठीक रहता है जिससे उसकी निपुणता या कार्य क्षमता बनी रहती है। अतः इन्हें निपुणता या कार्य क्षमता के लिए आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तुएँ कहते हैं।

कृत्रिम आवश्यक आवश्यकतायें (Conventional necessaries) से तात्पर्य उन आवश्यकताओं से होता है जिनकी सन्तुष्टि व्यक्ति का मान समाज में बनाए रखने के लिए या व्यक्ति की आदत के कारण आवश्यक होती है। धूम्रपान करनेवाले के लिए तम्बाकू या बीड़ी एक कृत्रिम आवश्यकता है। इससे न तो उसकी जीवन-रक्षा होती है और न तो निपुणता की ही रक्षा होती है, सम्भव है कि उसके प्रयोग से उसकी निपुणता कम हो जाय, क्योंकि धूम्रपान का बुरा प्रभाव मनुष्य के स्वास्थ्य पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति बहुत-सी उन वस्तुओं को भी आवश्यक समझता है जो उसकी जाति के लोगों या जिनके सम्पर्क में वह आता है उनके समाज में जरूरी समझी जाती है। व्याह-शादी के अवसर पर इष्ट-मित्रों को निमन्त्रण देना, घर पर मिलने आनेवाले किसी आगन्तुक को पान-सिगरेट देना आदि कार्य लोग क्यों करते हैं? यह इसलिए आवश्यक है कि सभ्य समाज में यह सब होता है। कोई व्यक्ति यदि ऐसा नहीं करता तो उसका सम्मान समाज

में नहीं रहेगा। इसलिए सामाजिक अप्रतिष्ठा के डर के कारण इन आवश्यकताओं की भी तृप्ति करनी पड़ती है। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसलिए उसे सामाजिक नियमों, प्रथाओं और रीति-रिवाज को मानना ही पड़ता है। बहुत से तो ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो इन कृत्रिम आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए अपनी निपुणता के लिए जरूरी वस्तुओं को भी छोड़ देते हैं और कुछ तो इन सामाजिक परम्पराओं और प्रथाओं के दबाव के कारण जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक वस्तुओं को भी कुछ अंशों में छोड़ देते हैं।

आराम सम्बन्धी आवश्यकताएँ

अपनी बुनियादी या आवश्यक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट कर लेने के पश्चात् मनुष्य आराम और सुख के पदार्थों को इकट्ठा करना चाहता है। आराम की वस्तुओं के उपभोग से मनुष्य को सुख और आराम ही केवल नहीं मिलता। बल्कि उसकी निपुणता या कार्य-क्षमता में भी वृद्धि होती है। किन्तु इन पर जितना व्यय किया जाता है उस अनुपात में इनके उपभोग से कार्य-क्षमता में वृद्धि नहीं होती। परन्तु आरामदायक वस्तुओं का सेवन यदि बन्द कर दिया जाय तो व्यक्ति की कार्य-क्षमता घट जाती है। आरामदायक वस्तुओं के उपभोग के अन्तर्गत निम्नलिखित का होना जरूरी है—(१) उत्तम प्रकार का पर्याप्त मात्रा में भोजन, वस्त्र तथा स्वास्थ्यवर्द्धक घर, (२) मनोरञ्जन के कुछ साधन तथा (३) बौद्धिक आवश्यकताओं के पूरा करने का प्रबन्ध। संक्षेप में, व्यक्ति के रहन-सहन का स्तर सन्तोषजनक हो।

विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताएँ

जिन आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए विलासिता की वस्तुओं का उपभोग किया जाता है उन्हें विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताएँ कहते हैं। जिस आवश्यकता के पूरा करने में बहुत अधिक व्यय करना पड़े तथा व्यय की तुलना में कार्य-क्षमता में नाम-मात्र को वृद्धि हो उस आवश्यकता को अर्थ-शास्त्र की भाषा में विलासिता सम्बन्धी आवश्यकता कहते हैं। कभी-कभी तो विलासिता की वस्तुओं के सेवन से कार्य-क्षमता कम होती है। विलासिता की वस्तुओं के उदाहरण के तौर पर अत्यधिक क़ीमतवाले रेशमी और ऊनी-सूती वस्त्र, रहने की भव्य अट्टालिकाएँ, विख्यात चित्रकारों के चित्रों से कमरे की दीवारों को सजाना, विभिन्न प्रकार के सोने-चाँदी के गहने इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है। विलासी जीवन मनुष्य को निकम्मा बना देता है। वह शारीरिक परिश्रम करना नहीं चाहता। वह मनुष्य को आलसी बना देता है। विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करनेवाला व्यक्ति घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।

इस प्रकार उपभोग की तीन प्रकार की वस्तुएँ हुईं--**आवश्यक, आरामदायक** और **विलासिता** की वस्तुएँ। इन तीनों प्रकार की वस्तुओं के पारस्परिक अन्तर का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। किन्तु इनके सम्बन्ध में एक बात जो बहुत जरूरी है, स्मरण रखनी होगी। कोई भी वस्तु सबके लिए आवश्यक आवश्यकता की वस्तु नहीं हो सकती। एक ही वस्तु जो एक व्यक्ति के लिए आवश्यक आवश्यकता की वस्तु है, दूसरे व्यक्ति के लिए विलासिता की वस्तु हो सकती है। एक सुविख्यात डाक्टर या वैद्य के लिए मोटरकार आवश्यक वस्तु

है, किन्तु एक किसान के लिए वह विलासिता की वस्तु होगी। मोटरकार के उपयोग से डाक्टर अधिक संख्या में मरीज़ों को जा-जाकर देख सकता है। उससे समय की पर्याप्त बचत होगी। इससे डाक्टर की कार्य-क्षमता में वृद्धि होती है। किन्तु मोटर-कार का उपयोग किसान को उसके कार्य में किसी विशेष प्रकार का लाभ नहीं पहुँचा सकता। उसी प्रकार एक धनी परिवार के विद्यार्थी के लिए बिजली या गैस लैम्प आवश्यक पदार्थ है किन्तु एक निर्धन विद्यार्थी के लिए वह आराम की वस्तु होगी। समय के परिवर्तन के साथ लोगों के फैशन आदि में भी परिवर्तन होता जाता है। जो वस्तु आज आवश्यक है, कल वही वस्तु फैशन के बदल जाने से आवश्यक नहीं रह जाती है कोई दूसरी वस्तु जो पहले आरामदायक समझी जाती थी, फैशन में आ जाने से आवश्यक हो जाती है। कुछ वर्षों पहले भारतीय किसान मज़दूर के लिए कुर्ता, जूता इत्यादि आराम की वस्तुएँ थीं, किन्तु आज वे आवश्यक वस्तुओं की श्रेणी में हैं। इसी प्रकार अन्य कारणों से भी वस्तुओं का एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में आना-जाना लगा रहता है। वास्तव में वस्तुओं के इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में विचार करते समय सदैव व्यक्ति की परिस्थिति की ओर ध्यान देना चाहिए। और चूँकि व्यक्ति की परिस्थिति सदैव एक-सी नहीं रहती, अतः उसी प्रकार एक ही वस्तु उसके लिए सदैव आवश्यक या आरामदायक या विलासिता सम्बन्धी नहीं रह सकती। जो आज विलासिता की वस्तु है, कल वही आरामदायक और कुछ दिनों के बाद वही आवश्यक वस्तु हो सकती है।

————

आय-व्यय और आवश्यकताओं की सन्तुष्टि

(Income, Expenditure and Satisfaction of wants)

मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रयत्न करता है। उसकी आवश्यकताओं के ऊपर तीन मुख्य भेद बताए जा चुके हैं। प्रत्येक व्यक्ति सर्वप्रथम अपनी आवश्यक आवश्यकताओं की तृप्ति करता है, क्योंकि वे बहुत जरूरी होती हैं। इनके सम्बन्ध में निश्चिन्त हो जाने पर वह आराम की वस्तुओं की ओर ध्यान देता है। यदि सौभाग्यवश वह आराम-दायक पदार्थों की पूर्ति (supply) के सम्बन्ध में सफल हो गया तो विलासिता की वस्तुएँ उसका ध्यान आकर्षित करती हैं। साधारणतया यही क्रम होना चाहिए। किन्तु कभी-कभी बल्कि अपेक्षाकृत असभ्य और अशिक्षित समुदाय में प्रायः इस क्रम का उल्टा देखने को मिलता है। एक साधारण मजदूर या श्रमिक की कल्पना कीजिए। अपनी जीवन-रक्षक आवश्यक-ताओं की तृप्ति के बाद उसे निपुणतदायक पदार्थों का सेवन करना चाहिए। किन्तु वह ऐसा नहीं करता। घी-दूध का उपयोग न करके पान-बीड़ी-सिगरेट आदि वस्तुओं का सेवन करना इसका प्रमाण है। निर्धन भारतीय किसान भी नङ्गा रहकर अपनी पत्नी के लिए आभूषण खरीदते हुए पाया जाता है। कालेजों और विश्वविद्यालयों के बहुत से छात्रों में भी यह हानि-कारक टेव पाई जाती है। अपनी आवश्यक वस्तुओं को न खरीदकर आराम और विलासिता की वस्तुएँ खरीदते हैं। पुस्तकों का रुपया अनावश्यक कपड़ों, जूतों तथा अन्य टीम-टाम की वस्तुओं पर व्यय किया जाता है।

अब हमें इस प्रश्न पर विचार करना है कि इन 'आवश्य-

कताओं' की सन्तुष्टि किस प्रकार से होती है। आवश्यकताओं की 'सन्तुष्टि' के लिए मनुष्य प्रयत्न करते हैं जिसके फलस्वरूप 'धनोत्पत्ति' होती है। उत्पन्न वस्तुओं का उपभोग करके मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को तृप्त करता है।

आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने का यह प्रारम्भिक ढंग है जब कि मनुष्य प्रायः स्वावलम्बी था अर्थात् अपनी आवश्यकताओं की सब वस्तुयें प्रत्येक मनुष्य पैदा करता था। किन्तु सभ्यता के क्रमिक विकास के साथ-साथ समाज में श्रम-विभाजन (division of labour) उत्तरोत्तर बढ़ता गया। एक मनुष्य एक ही वस्तु के उत्पादन में कार्य करने लगा। इसी के साथ-साथ मुद्रा के आविष्कार से उत्पादन कार्य में भाग लेने वालों को उत्पन्न वस्तु का निश्चित हिस्सा न मिलकर उसकी क़ीमत रुपए-पैसे की शक्ल में मिलने लगी। वस्तुओं की अदला-बदली भी बन्द हो गई और विनिमय कार्य दो कार्यों—क्रय और विक्रय के रूप में बदल गया। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी सेवाओं का उचित मूल्य रुपये में मिलता है। यही उसकी आय होती है। आय-प्राप्ति के बाद उससे आवश्यक वस्तुयें खरीद करके उनके उपभोग द्वारा मनुष्य अपनी आवश्यकता में पूरी करता है। आय को विभिन्न आवश्यक वस्तुओं के खरीदने में खर्च करना उसका व्यय कहलाता है। अतः मनुष्य अपनी आय-व्यय के द्वारा अपनी आवश्यकताओं को तृप्त करता है। अतः आवश्यकताओं के तृप्त होने का निम्न लिखित क्रम है:—

आवश्यकता का उदय होना—तत्पश्चात् मनुष्य का प्रयत्न करना—प्रयत्न द्वारा धनोत्पादन—आय की प्राप्ति—पुनः आय के व्यय द्वारा आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करना और अन्त में उनके उपभोग द्वार आवश्यकता की सन्तुष्टि।

बचत (saving)

ऊपर बताया जा चुका है कि प्रयत्नों द्वारा प्राप्त आय के व्यय द्वारा मनुष्य आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध कर उनके उपभोग से अपनी आवश्यकताओं को तृप्त करता है। किन्तु साधारणतया यह देखने में आता है कि मनुष्य अपनी पूरी आय को तुरन्त ही आवश्यकताओं की सन्तुष्टि में व्यय नहीं कर देता है बल्कि उसका कुछ भाग सामाजिक, धार्मिक या अन्य परोपकारी कार्यों में, जो उसे समाज के सदस्य होने के नाते करने पड़ते हैं, व्यय होता है। इसी प्रकार आय का कुछ भार सरकारी कोष में कर या टैक्स के रूप में देना पड़ता है ताकि सरकार देश की बाहरी और भीतरी संकटों से रक्षा कर सके तथा समाज में शान्ति-व्यवस्था बनाये रख सके। इस प्रकार किसी भी नागरिक के आय के व्यय के दो मुख्य पहलू हुए—व्यक्तिगत (personal) और सामाजिक (social)। व्यक्तिगत व्यय से तात्पर्य उस प्रकार के व्यय से होता है जो व्यक्ति अपनी वैयक्तिक आवश्यकताओं की तृप्ति करने के लिए करता है। सामाजिक व्यय के अन्दर धार्मिक, परोपकारी, तथा राज्य-सम्बन्धी उत्तरदायित्वों के उपलक्ष्य में व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला व्यय शामिल होता है।

वैयक्तिक व्यय के भी दो भाग किये जा सकते हैं—वर्तमान और भविष्य। वर्तमान व्यय वास्तव में व्यय कहलाता है जिसके द्वारा व्यक्ति तुरन्त अपनी आवश्यकताओं को तृप्त करता है। दूसरे को 'बचत' कहते हैं जिसके द्वारा मनुष्य अपने धन का एक भाग भविष्य की आवश्यकताओं के लिए अलग रख छोड़ता है।' अतः अर्थशास्त्र में व्यय से तात्पर्य

आय के उस भाग से होता है जो वर्तमान आवश्यकताओं की सन्तुष्टि में खर्च किया जाता है। आयका वह भाग जो भविष्य की आवश्यकताओं के लिए पृथक् रख दिया जाता है 'बचत' कहलाता है।

बचत का यह अर्थ साधारणतया ठीक है। किन्तु 'बचत' का अर्थशास्त्रीय अर्थ समझने के लिए एक बात और स्मरण रखनी होगी। आयका जो भाग व्यक्ति-भविष्य की आवश्यकताओं के लिए अलग छोड़ रखता है उसका उपयोग दो प्रकार से हो सकता है। सर्वप्रथम धन का वह भाग व्यक्ति-ज़मीन के अन्दर गाड़कर रख सकता है या जिस किसी प्रकार से हो उसे ज्यों-का-त्यों रखता है। उस भाग का उपभोग केवल भविष्य के लिए स्थगित कर देता है। द्वितीय स्थान में, वह धन के उस भाग को किसी अन्य उत्पादन के कार्य में लगावे जिससे और धन की उत्पत्ति हो सके। एक अर्थशास्त्री की दृष्टि से पहले प्रकार की 'बचत' को बचत नहीं कहते। उसे रुपया जोड़कर या धन जमा करके रखना (hoarding of wealth) कहते हैं। दूसरे प्रकार की बचत को वास्तविक बचत कहते हैं। अतः बचत (saving) को निम्नांकित परिभाषा दी जा सकती है:—'बचत' (saving) **व्यक्ति की आय का वह भाग है जो वर्तमान आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये आवश्यक व्यय करने के बाद बच रहता है तथा जिसका उपयोग अन्य उत्पादन-कार्यों में किया जाता है।**

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'बचत' के लिए दो बातें अनिवार्य हैः—(१) वर्तमान उपभोग का भविष्य के लिए स्थगित किया जाना। (२) उस धन को पूँजी की शक्ल में

बदल देना और उत्पादन कार्य में लगा देना। उत्पन्न धन का केवल उपभोग न करने से 'बचत' की कल्पना नहीं की जा सकती। उसके साथ-साथ उस धन का उत्पादन कार्य में लगाना अनिवार्य होता है। एक उदाहरण लीजिए। एक किसान १२ मन गेहूँ पैदा करता है। उसमें से ८ मन के द्वारा वह अपनी वर्तमान आवश्यकताओं की तृप्ति करता है। शेष ४ मन को बीज और मजदूरी के काम में लाता है। अतः ४ मन गेहूँ को उसकी बचत कहेंगे किन्तु उसका यही ४ मन गेहूँ यदि इस प्रकार के उत्पादन कार्य में न लगाया जाता और भविष्य में केवल उपभोग के लिये रक्खा रहता तो बचत न कहला कर जमा करके रखना (hoarding) कहलाता।

व्यय (Spending) और 'बचत' (saving) दोनों का आर्थिक दृष्टिकोण से बहुत महत्व है। यह सच है कि धनोत्पादन उपभोग के लिए ही होता है। किन्तु धनोत्पादन के लिए 'पूँजी' अनिवार्य होती है और 'पूँजी' 'बचत' का परिणाम है। अतः धन वर्तमान उपभोग में ही व्यय नहीं होना चाहिए बल्कि उसका कुछ भाग पूँजी की शक्ल में बदल जाना चाहिये।

'बचत' का आर्थिक महत्व बहुत बड़ा है। इससे उत्पादन कार्य के लिए आवश्यक पूँजी निरन्तर मिलती रहती है। यदि किसी समाज में उत्पन्न धन का सब भाग वर्तमान आवश्यकताओं की तृप्ति में कुछ वर्षों तक व्यय किया जाता रहे तो शीघ्र ही उत्पादन कार्य बन्द कर देना पड़ेगा क्योंकि ऐसी दशा में पूँजी के लिये आवश्यक धन शेष नहीं रहेगा। अतः आर्थिक मशीन को निरन्तर चालू रखने के लिए उत्पन्न धन का कुछ भाग हमेशा बचाते रहना होगा।

इसके अतिरिक्त भविष्य हमेशा अनिश्चित होता है। वैयक्तिक दृष्टिकोण से इसका विशेष महत्व है। कोई नहीं जानता कि आगे चलकर कैसा समय आयेगा, किन-किन प्रकार की आर्थिक समस्याओं का सामना करना होगा। भविष्य की इन अनिश्चितताओं से अपने को सुरक्षित रखने के लिये मनुष्य को पहले से ही कुछ न कुछ प्रबन्ध करना चाहिए। जो लोग ऐसा नहीं करते और अपनी अदूरदर्शिता के कारण कुछ प्रयत्न भविष्य को निश्चिन्त बनाने के लिये नहीं करते उनको आ चलकर बहुत सी कठिनाइयों को झेलना पड़ता है। अतः बचत का आर्थिक महत्व आर्थिक निश्चिन्तता के दृष्टिकोण से विशेष है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आमदनी का कुछ भाग बचाना चाहिए और उसको अन्य उत्पादक कार्य में लगाते रहना चाहिए।

सातवाँ अध्याय

पारिवारिक आय-व्यय पत्र अथवा बजट

(Family Budget)

पहले बताया जा चुका है कि मनुष्य अपनी आय को विभिन्न वस्तुओं पर व्यय करके अपनी वर्तमान आवश्यकताओं को तृप्त करता है। वह विभिन्न वस्तुओं को विभिन्न मात्रा में खरीदता है, किसी को अधिक और किसी को कम। इसके अतिरिक्त विभिन्न वस्तुओं की क़ीमत भी विभिन्न हुआ करती

है। कोई व्यक्ति अपनी मासिक या वार्षिक आय किन-किन वस्तुओं पर और प्रत्येक वस्तु पर उसका कौन सा भाग, व्यय करता है—इन सब बातों का पूरा लिखित विवरण ही उस व्यक्ति का पारिवारिक आय-व्यय पत्र अथवा बजट कहलाता है। किसी परिवार के आय-व्यय का लेखा ही उसका पारिवारिक बजट कहलाता है। पारिवारिक बजट के अन्तर्गत हमें यह देखना होता है कि उस परिवार में कुल कितने सदस्य (मर्द, औरत और बच्चे हैं, उसमें से कितने कमाने वाले हैं और प्रत्येक कितनी आमदनी करता है। कमाने वाले सब सदस्यों की कमाई को जोड़कर उस परिवार की आय मालूम कर ली जाती है। परिवार की आमदनी मालूम हो जाने के बाद हमें देखना होता है कि किन-किन मुख्य वस्तुओं का उपभोग किस मात्रा में उस परिवार में होता है। प्रत्येक पारिवारिक बजट में साधारणतया निम्नलिखित वस्तुओं का होना बहुत ही आवश्यक है:—

(१) भोजन, (२) वस्त्र, (३) गृह, (४) ईंधन, (५) रोशनी या दिया बत्ती (६) बालकों की शिक्षा तथा चिकित्सा का प्रबन्ध (७) सामाजिक, धार्मिक और अन्य खर्चे, (८) फुटकर खर्च (धोबी, नाई, पत्र-व्यवहार आदि सम्बन्धी व्यय) और अन्त में (९) बचत। एक पारिवारिक बजट इन्हीं विभिन्न मदों पर आय के व्यय होने वाले अंश पर प्रकाश डालता है। उसके अध्ययन से हमें यह भलीभाँति मालूम हो जाता है कि उस परिवार में आय का कौन सा भाग भोजन में खर्च होता है; कितना हिस्सा वस्त्र में व्यय होता है। इसी प्रकार अन्य मदों पर अलग-अलग कितना खर्च होता है। अन्त में कुछ बचत होती है या नहीं यह भी मालूम पड़ जाता है।

रामराज किसान के माहवारी खर्च का बजट

(Monthly budget of consumption of Ram Raj farmer)

परिवार के सदस्य—पुरुष—२
स्त्री—२
बच्चे—२

परिवार की माहवारी आय—५०) रु०

वस्तु का नाम	उपभोग की मात्रा	दर प्रति रु०	कुल व्यय	प्रतिशत
(१) भोजन	सेर में	सेर	रु० आ० पा०	
गेहूँ	७½ सेर	२½ सेर	३—०—०	५०%
चावल	६ ,,	२ ,,	३—०—०	,,
जौ	३२ ,,	४ ,,	८—०—०	,,
बाजरा	२० ,,	४ ,,	५—०—०	,,
दाल (अरहर)	७½ ,,	२½ ,,	३—०—०	,,
तरकारी	६ ,,	४ ,,	१—८—०	,,
नमक, मसाला इत्यादि			१—८—०	,,
		कुल	२५—०—०	
(२) कपड़ा			रु० आ० पा०	
धोती				
कुर्ता				
दुपट्टा			६—४—०	१२½%
ओढ़नी				
सलूके				
		कुल	६—४—०	

(३) घर मरम्मत छप्पर ठीक कराई			१—०—०	२%
		कुल	१—०—०	
(४) ईंधन			३—०—०	६%
		कुल	३—०—०	
(५) रोशनी या दिया वत्ती			२—४—०	४%
		कुल	२—४—०	
(६) बालकों की शिक्षा चिकित्सा।			५—०—०	१०%
		कुल	५—०—०	
(७) सामाजिक, धार्मिक आदि खर्चे			२—५—०	४%
		कुल	२—४—०	
(८) फुटकर खर्च धोवी, नाई इत्यादि			३—०—०	६%
		कुल	३—०—०	

(६) बचत			२—४—०	५१/२%
		कुल	२—४—०	

व्यय का सारांश

व्यय की वस्तु	व्यय की मात्रा	कुल व्यय का प्रतिशत
	रु० आ० पा०	
१—भोजन	२५—०—०	५०%
२—कपड़ा	६—४—०	१२१/२%
३—घर	१—०—०	२%
४—ईंधन	३—०—०	६%
५—रोशनी या दिया बत्ती	२—४—०	४%
६—शिक्षा, चिकित्सा इत्यादि	५—०—०	१०%
७—सामाजिक, धार्मिक, इत्यादि खर्चे	२—४—०	४%
८—फुटकर खर्च (धोबी, नाई आदि)	३—०—०	६%
६—बचत	२—४—०	५१/२%
कुल व्यय	५०—०—०	१००%

भारत के किसान अधिकतर निर्धन हैं। उन्हें न तो खाने को पर्याप्त मात्रा में भोजन ही मिलता है और न तो शरीर ढकने के लिये वस्त्र ही। यदि दिन में दो बार रूखा-सूखा भोजन मिल जाय तो वे इसी में अपने को धन्य समझते हैं। इनमें से अधिकांश का पहनने का कपड़ा बहुत ही साधारण,

फटा और गन्दा रहता है। इनके रहने के मकान भी मिट्टी के बने होते हैं तथा छप्पर से छाए होते हैं। इनमें अधिकतर नमी होती है क्योंकि फर्श कच्चा होता है। इनके घरों में रोशनी और हवा का भी समुचित प्रबन्ध नहीं होता। बेचारा किसान अपने परिवार का साल भर का खर्च चलाने में असमर्थ होता है। उसे प्रायः ऋण लेना पड़ता है। ऊपर जिस किसान के माहवारी बजट का नमूना दिया गया है वह एक साधारणतया सम्पन्न किसान का बजट है। किन्तु करोड़ों भारतीय किसानों में ऐसे कुछ सहस्र ही किसान होंगे। अधिकांश किसान ऐसे ही हैं जिनकी वार्षिक आय १०० रु० से भी कम है। इतनी कम आमदनी से बेचारा किसान अपनी पारिवारिक आवश्यकताओं की तृप्ति सन्तोषजनक ढंग से कैसे कर सकता है।

गाँव के मजदूर और उनका व्यय

इन किसानों से भी खराब दशा उन ग्रामीण मजदूरों की होती है जिनके पास अपनी निजी भूमि नहीं होती है और जो खेती के कार्यों में किसानों के यहाँ मजदूरी करते हैं। इन मजदूरों की दशा बेकारी के समय में विशेष शोचनीय हो जाती है। खेती एक मौसमी पेशा (seasonal occupation) है जिसमें बारहों महीने लगातार एक तरह से काम नहीं होता। फसलों की बुवाई, कटाई और निराई तथा सिंचाई के समय को छोड़कर बाकी समय में इन मजदूरों की दशा बेकारी के कारण बड़ी दयनीय हो जाती है। अपनी दयनीय आर्थिक परिस्थिति के कारण वह अपनी मजदूरी के सम्बन्ध में किसानों और जमींदारों के साथ मोल-भाव (bargaining) करने में भी असमर्थ होता है। उसे जो मजदूरी वे दे दें उसी से अपने

को सन्तुष्ट कर लेना होता है। किसान, जिनके यहाँ वे मजदूरी करते हैं, स्वयं आर्थिक दृष्टि से असन्तोषजनक स्थिति में होता है। वह इनको कम से कम मजदूरी देने का प्रयत्न करता है और अपने इस कार्य में इन बेचारे असहाय भूमिरहित श्रमजीवियों के अरक्षित दशा से अत्यधिक लाभ उठाता है।

गाँव के कारीगर का व्यय

किसानों और मजदूरों की तुलना में गाँव के कारीगरों—बढ़ई, लुहार, सोनार इत्यादि—की दशा अच्छी है। इसका मुख्य कारण यह है कि किसानों की भाँति वह अपने पेशे में सफलता के लिये प्रकृति के ऊपर आश्रित नहीं होता और न तो भूमिरहित श्रमजीवियों की तरह किसान लोग उसका शोषण ही कर पाते हैं। विना इन कारीगरों की सहायता के उनका खेती का कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकता। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आर्थिक दृष्टि से वे भली-भाँति सम्पन्न होते हैं। उन्हें भी रूखा-सूखा ही भोजन प्राप्त होता है। रहने के मकान भी उसी प्रकार के होते हैं जिस प्रकार के किसानों और मजदूरों के होते हैं। अपनी आय का आधे से अधिक भाग वे भोजन पर व्यय करते हैं, वस्त्रादि पर लगभग १० प्रतिशत व्यय करते हैं। इन कारीगरों में शराब, ताड़ी इत्यादि नशीली वस्तुओं के सेवन की आदत अधिकतर पाई जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि इन कारीगरों के रहन-सहन का दर्जा भी किसानों के रहन-सहन के दर्जे से बहुत भिन्न नहीं होता। इनका भी काम विना महाजन के यहाँ से कर्ज लिए नहीं चल पाता। शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यय

इनके भी बहुत ही अल्प होते हैं। अपनी वर्तमान दशा में वे इसकी ओर अधिक ध्यान देने में अपने को असमर्थ पाते हैं।

पारिवारिक बजट का महत्व

पारिवारिक बजट का रखना कई दृष्टिकोणों से लाभप्रद होता है। सर्व प्रथम इसके द्वारा हमें किसी परिवार की वास्तविक आर्थिक दशा का परिचय प्राप्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में किसी भी परिवार के रहन-सहन के स्तर का सर्वोत्तम द्योतक उसका पारिवारिक बजट होता है। दूसरी बात जो स्मरणीय है यह है कि पारिवारिक बजट के अध्ययन से यह पता चल जाता है कि उस परिवार का आय-व्यय सन्तोषजनक ढंग पर हो रहा है या नहीं। बिना बजट के अध्ययन किए यह नहीं कहा जा सकता कि व्यय अनावश्यक वस्तुओं पर हो रहा है या आवश्यक वस्तुओं पर। सम्भव है कि किसी परिवार में अनावश्यक वस्तुओं पर व्यय अधिक हो रहा हो और भोजन-वस्त्र आदि पर अपेक्षाकृत कम व्यय हो रहा हो। इन बातों के पता लग जाने पर उनमें आवश्यक सुधार के लिए प्रयत्न किया जा सकता है।

पारिवारिक बजट का महत्व वस्तुओं के उत्पादकों के लिए भी विशेष है। इससे यह पता चल जाता है कि किन-किन वस्तुओं का उपभोग समाज के किस-किस भाग में विशेष हो रहा है। इससे वस्तुओं की माँग का अनुमान लगाने में पर्याप्त सुविधा होती है और उसी के अनुसार वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा भी निर्धारित और निश्चित की जा सकती है। पारिवारिक

व्यय के उपर्युक्त आँकड़े उद्योग-धन्धों के विकास सम्बन्धी निर्णय में भी सहायक होते हैं।

ऊपर के विवेचन से पारिवारिक बजट रखने और उसके अध्ययन का महत्व स्पष्ट हो जाता है। सन् १८५७ ई० में डा० एंजिल (Dr. Enjel) ने जर्मनी के सैक्सनी (Saxony) प्रान्त के कुछ पारिवारिक बजट एकत्र किए। जिन परिवारों के बजट उन्होंने एकत्र किए थे उनमें निर्धन, धनी और विशेष प्रकार से धनी सब प्रकार के परिवारों का प्रतिनिधित्व था। इन बजटों के अध्ययन के आधार पर उन्होंने कुछ ठोस निष्कर्ष निकाले जो "एंजिल का नियम" (Enjel's law) के नाम से प्रसिद्ध हैं। डाक्टर एंजिल के द्वारा निकाले गये चार मुख्य निष्कर्ष हैं:—

(१) जैसे-जैसे किसी परिवार की आय बढ़ती जाती है, उस परिवार के भोजन सम्बन्धी व्यय का प्रतिशत घटता जाता है।

(२) वस्त्रादि के व्यय का प्रतिशत लगभग पूर्ववत् बना रहता है।

(३) मकान, लकड़ी, रोशनी आदि का व्यय भी लगभग पूर्ववत् रहता है।

(४) शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन इत्यादि के व्यय का प्रतिशत निरन्तर बढ़ता जाता है। डाक्टर एंजिल के अनुसार विभिन्न आर्थिक स्थिति के परिवारों की आय का औसत प्रतिशत व्यय विभिन्न वस्तुओं पर निम्नलिखित के अनुसार था:—

कुल आय का व्यय किया जानेवाला प्रतिशत

व्यय का मद	मज़दूर परिवार का खर्च	मध्यमश्रेणी के परिवार का खर्च	सम्पन्न परिवार का खर्च
भोजन	६२ प्रतिशत	५५ प्रतिशत	५० प्रतिशत
वस्त्र	१६ ,,	१८ ,,	१८ ,,
ईंधन-दिया बत्ती	५ ,,	५ ,,	५ ,,
घर—	१२ ,,	१२ ,,	१२ ,,
शिक्षा	२ ,,	३·५ ,,	५·५ ,,
स्वास्थ्य	१ ,,	२ ,,	३ ,,
मनोरंजन इत्यादि	२ ,,	४·५ ,,	६·५ ,,

आठवाँ अध्याय

रहन-सहन का स्तर या दर्जा (standard of living)

पिछले अध्याय में "रहन-सहन का स्तर" का प्रयोग कई बार आ चुका है। पारिवारिक आय-व्यय के अध्ययन से हमें उस परिवार के रहन-सहन के स्तर का अन्दाजा लगता है। इस अध्याय में इसी से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करना है। सर्व प्रथम रहन-सहन के स्तर से हमारा क्या तात्पर्य होता है, यही समझने का प्रयत्न किया जायगा।

रहन-सहन के स्तर का अर्थ

जैसा कि आवश्यकताओं के सिलसिले में बताया जा चुका

है, मनुष्य की आवश्यकताएँ अपरिमित होती हैं, किन्तु प्रत्येक आवश्यकता यथेष्ट साधन होने पर तृप्त की जा सकती है। आवश्यकताओं के तीन मुख्य भेद भी बताए जा चुके हैं—आवश्यक आवश्यकताएँ (necessaries), आरामदायक आवश्यकताएँ (comforts) और विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताएँ। प्रत्येक मनुष्य की आर्थिक स्थिति दूसरों से भिन्न होती है। सबको अपनी आवश्यकताओं को तृप्त करने के लिए समान साधन प्राप्त नहीं होते। कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो केवल अपनी आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तुओं की प्राप्ति के लिए शोकातुर रहते हैं। कुछ व्यक्ति अपनी इन आवश्यक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तो कर लेते हैं किन्तु आरामदायक या विलासिता सम्बन्धी किसी भी आवश्यकता की तृप्ति नहीं कर पाते। कतिपय व्यक्ति इन बुनियादी आवश्यकताओं के साथ-साथ अपनी आरामदायक आवश्यकताओं की भी सन्तुष्टि करने में समर्थ होते हैं। इन सबके अलावे कुछ लोगों के पास साधनों की इतनी विपुलता होती है कि वे अपनी तीनों प्रकार की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट कर सकते हैं। इस प्रकार मनुष्य को अपनी तीनों प्रकार की आवश्यकताओं-आवश्यक, आराम दायक और विलासिता सम्बन्धी—को सन्तुष्ट करने के लिये जरूरी साधनों के स्वामित्व के आधार पर चार वर्गों में बाँटा जा सकता है:—

(१) एक वर्ग उनका होता है जो अपनी आवश्यक आवश्यकताओं को ही सन्तुष्ट नहीं कर पाते।

(२) दूसरा वर्ग उनका होता है जो इन बुनियादी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए पर्याप्त साधन-सम्पन्न होता है।

(३) तीसरे वर्ग में वे आते हैं जो प्रथम प्रकार की आवश्यकताओं के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की आवश्यकताओं अर्थात् आरामदायक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने में भी समर्थ होते हैं।

(४) अन्तिम वर्ग में वे लोग आते हैं जो अपनी हर प्रकार की आवश्यकताओं—आवश्यक, आरामदायक और विलासिता सम्बन्धी को पूरा करने के लिए यथेष्ट साधनों से सम्पन्न होते हैं।

यह वर्गीकरण मोटे तौर से किया गया है। यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रत्येक वर्ग में आनेवाले सब मनुष्यों का स्तर एक-सा नहीं होता। सबकी आर्थिक अवस्था भिन्न-भिन्न होती है। अतः प्रत्येक वर्ग के मनुष्यों के रहन-सहन के स्तर में भी काफी भिन्नता होती है।

तो फिर 'रहन-सहन' के स्तर से हमारा क्या तात्पर्य रहा? किसी व्यक्ति या वर्ग के रहन-सहन के स्तर से तात्पर्य उस व्यक्ति या वर्ग द्वारा उपभोग की जानेवाली आवश्यक, आराम दायक और विलासिता सम्बन्धी वस्तुओं के परिमाण या मात्रा से होता है। जब किसी व्यक्ति के रहन-सहन का अनुमान हमें लगाना होता है तो हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि वह इन तीनों प्रकार की वस्तुओं में किस-किस प्रकार की वस्तुओं को कितनी मात्रा में उपभोग करने का आदी होता है। ऊपर बताए गए चार वर्गों में प्रथम वर्ग में आने वाले व्यक्तियों के रहन-सहन का स्तर बहुत ही नीचा होता है। दूसरे वर्ग में आनेवाले व्यक्तियों के रहन-सहन को साधारण कहा जा सकता है। तृतीय श्रेणी में गिने जाने वाले मनुष्यों के रहन-सहन का

स्तर ऊँचा कहा जा सकता है और अन्तिम श्रेणी के व्यक्तियों का स्तर 'उच्चतम' की उपाधि के योग्य होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रहन-सहन के निम्न स्तर होने का अर्थ यह है कि उस स्तर के व्यक्ति अपनी आवश्यक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने में ही समर्थ होते हैं। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति इनके अतिरिक्त अपनी आरामदायक आवश्यकताओं को भी सन्तुष्ट कर लेता है तो उसका स्तर उच्च गिना जाता है। इससे ऊँचा स्तर उनका होता है जो इन दोनों प्रकार की आवश्यकताओं के अलावे अपनी विलासिता की आवश्यकताओं को भी तृप्त कर लेते हैं। जैसे-जैसे रहन-सहन का दर्जा ऊपर उठता जाता है आरामदायक और विलासिता की वस्तुओं पर किया जानेवाला व्यय उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है।

किन्तु इस सम्बन्ध में एक बात याद रखने योग्य है। सबसे अधिक खर्चीला स्तर (most expensive standard) अनिवार्यतः सर्वोत्तम स्तर नहीं होता। न तो सबसे अधिक संख्या में आवश्यकताओं की तृप्ति को ही, बिना उनके सन्तुष्टि से उत्पन्न प्रभावों का विचार किए, युक्ति संगत स्तर (rational standard) कह सकते हैं। रहन-सहन का स्तर तभी उत्तम कहा जा सकता है जब कि उपभोग की जाने वाली वस्तुओं का प्रभाव व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य पर अच्छा पड़े तथा उसकी कार्य-क्षमता में वृद्धि हो। इसके विपरीत यदि वह दुर्व्यसन की वस्तुओं का अधिक उपभोग करता हो जिससे दिनोंदिन उसका शारीरिक, नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ता जाता हो तो उसका स्तर ऊँचा होते हुए भी उत्तम और प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। अतः रहन-सहन

के स्तर की ऊँचाई से ही उसकी वांछनीयता नहीं समझी जानी चाहिए। उसकी ऊँचाई के साथ तज्जनित परिणामों की ओर भी दृष्टि डालनी होगी। वही स्तर अनुकरणीय कहा जायगा जो ऊँचा हो और जिसका अच्छा प्रभाव समाज के ऊपर पड़े तथा जिसके अपनाने से अपनानेवालों का पूर्ण आर्थिक, नैतिक और शारीरिक विकास हो सके।

यह सच है कि 'रहन-सहन के स्तर' की कल्पना, जैसा कि ऊपर इसका रेखाचित्र दिया गया है, अनिश्चित-सी मालूम पड़ती है। किन्तु इतना निश्चित अवश्य है कि विभिन्न व्यक्तियों का विभिन्न स्तर होता है। यह बिल्कुल व्यक्तिगत चीज है और प्रत्येक व्यक्ति अपने स्तर को भलीभाँति समझता है। इसके साथ ही साथ प्रत्येक व्यक्ति अपने स्तर को ऊँचा उठाने की फिराक में रहता है। वह पहले की अलभ्य वस्तुओं को प्राप्त करने की निरन्तर कोशिश करता है। उसे अपने स्तर के नीचा होने का भय भी सदा रहता है। इससे दो प्रकार की हानि की सम्भावना रहती है। एक तो उसके कुछ वस्तुओं, जिनके उप-भोग का वह आदी होता है, से वंचित रह जाने की सम्भावना हो जाती है। दूसरी सम्भावना यह होती है कि इससे उसके सामाजिक स्थान, प्रतिष्ठा आदि में भी कमी आ जाती है। वैयक्तिक दृष्टिकोण से रहन-सहन के स्तर का महत्व तो है ही। औद्योगिक दृष्टिकोण से भी इसका विशेष महत्व है। सामाजिक और राजनैतिक संगठन पर भी इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। संक्षेप में रहन-सहन के स्तर का प्रभाव देश और राष्ट्र की उन्नति पर भी पड़ता है।

रहन-सहन के स्तर का अर्थ जान लेने के बाद अब हमें भारतीय रहन-सहन के स्तर की ओर ध्यान देना है।

भारतीय रहन-सहन का स्तर

भारतीय जनता के अधिकांश भाग का रहन-सहन का स्तर बहुत ही निम्न कोटि का है। लगभग जन-संख्या का तीन-चौथाई भाग किसानों से बना है। यदि अपने यहाँ की खेती की दशा की तुलना विदेशों से की जाय तो अपने यहाँ की दयनीय स्थिति का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। जिन परिस्थितियों में भारतीय किसान जीवन-यापन करता है उसकी कल्पना योरप या अन्य उन्नतिशील देशों का किसान नहीं कर सकता। अन्य उन्नत राष्ट्रों के किसान को खाद्य-पदार्थों के सम्बन्ध में कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती, बल्कि वह विभिन्न प्रकार की आरामदायक तथा सुख-समृद्धि को बढ़ाने वाली वस्तुओं की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्नशील रहता है। किन्तु हमारे भारतीय किसानों की बात ही और है। उनमें से अधिकांश को दिन में दो बार भरपेट भोजन तक नहीं मिलता। और जो कुछ उन्हें मिलता है वह भी बिलकुल रुखा-सूखा होता है। उनके भोजन में दो प्रकार की कमी होती है। सर्व प्रथम उन्हें पर्याप्त मात्रा में भोजन नहीं मिलता। भोजन की मात्रा या परिमाण आवश्यकता से कम होती है। दूसरी बड़ी कमी यह होती है कि उनके भोजन में उन पौष्टिक तत्त्वों का अभाव होता है जो स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत ही जरूरी होते हैं। यह रही भोजन की बात। अब ज़रा उनके वस्त्र की ओर ध्यान दीजिए। भोजन के सम्बन्ध में जो लिखा जा चुका है वही शत-प्रतिशत कपड़े के सम्बन्ध में भी सही उतरता है। साधारण भारतीय के शरीर पर फटा-पुराना कपड़ा ही देखने को मिलता है। जाड़े की ठंडी रात में भी उसके पास एक धोती, कुर्ता और एक अंगोछा के सिवा कुछ नहीं होता। कुछ के पास

तो वह भी नहीं होता। वे पेड़ों की पत्तियाँ जला-जलाकर आग तापते और किसी प्रकार से ठंडी रात सी-सी करते व्यतीत करते हैं। कुछ ही लोग ऐसे होते हैं जिन्हें ओढ़ने के लिए रजाई या कम्बल प्राप्त होता है। बहुत से व्यक्ति वस्त्राभाव के कारण तरह-तरह के रोगों के शिकार बन जाते हैं। भोजन-वस्त्र के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है वही उनके निवास स्थान के बारे में भी देखने को मिलता है। उनके घर मिट्टी के बने होते हैं और छप्परों से छाए होते हैं। स्वास्थ्य के विचार से इन घरों की बात मत पूछिए। रोशनी और हवा का कोई प्रबन्ध नहीं होता। इन्हीं घरों में अधिकांश अपने पशुओं को भी रखते हैं जिसके कारण इन घरों की दशा और भी शोचनीय हो जाती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय जन-समुदाय के अधिकांश भाग को न तो पर्याप्त भोजन ही मिलता है और न तो उनके कपड़े और गृह ही स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से सन्तोष-जनक होते हैं। साधारणतः हमारे देश में दरिद्रता का साम्राज्य फैला हुआ है। देश के अधिकांश निवासियों का भोजन बहुत ही घटिया दर्जे का होता है, वस्त्र भी अपर्याप्त ही होता है और निवास-स्थान प्रायः गन्दा और अस्वास्थ्यकर होता है। हमारे समाज का प्रमुख भाग बारहों महीने अपने जीवन-रक्षक पदार्थों की पूर्ति के ही लिए शोकातुर रहता है। आरामदायक और विलासिता की वस्तुओं के सम्बन्ध में सोचने-विचारने का अवकाश उन्हें नहीं होता। जब इन पदार्थों की यह दशा है तो मनोरंजन के साधनों, वाचनालयों, पुस्तकालयों, उद्यानों, व्यायामशालाओं और क्रीड़ाशालाओं सम्बन्धी सुविधाओं का प्रश्न ही नहीं उठता। इन सब सुविधाओं से भारतीय समाज का अधिकांश भाग वंचित ही रह जाता है।

स्वदेशी या विदेशी ऐश और आराम की वस्तुओं के खरीदने की उनकी सामर्थ्य विल्कुल नहीं होती। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि औसत भारतीय का जीवन घोर नारकीय जीवन से किसी प्रकार अच्छा नहीं होता।

यह सच है कि प्रत्येक समाज में निर्धन साधारण और धनवान्, सब प्रकार के आदमी पाए जाते हैं। भारतीय समाज के सम्बन्ध में भी यह बात लागू है। किन्तु हमारी जनसंख्या का ९० प्रतिशत भाग निर्धनों का जीवन व्यतीत कर रहा है उनकी संख्या इनकी तुलना में नगण्य ही हैं। दस-पन्द्रह प्रतिशत व्यक्तियों के रहन-सहन से स्तर के ऊँचा होने से किसी देश के रहन-सहन का स्तर ऊँचा नहीं कहा जा सकता। देश के सब नागरिकों का जीवन सुखमय होना चाहिए। समाज में कोई भी ऐसा व्यक्ति न हो जिसे अपने जीवन-रक्षक पदार्थों के लिए शोकातुर रहना पड़े। तभी वास्तव में देश के रहन-सहन के स्तर का ऊँचा होना माना जा सकता है।

भारतीय जनता के रहन-सहन के स्तर के बहुत नीचा होने के कारण भारतीय श्रम के उत्पादन पर बहुत ही हानिकारक प्रभाव पड़ता है। इससे उसके शारीरिक, मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य का निरन्तर ह्रास होता चला जाता है। अस्वस्थ्य माँ-बाप से अस्वस्थ्य बच्चे उत्पन्न होते हैं जिनमें बहुत से साल-भर के अन्दर ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। जो जीवित रहते हैं उनकी दशा भी विशेष सन्तोषजनक नहीं होती। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित आँकड़े शिक्षाप्रद तथा स्मरणीय हैं :—

प्रत्येक १००० उत्पन्न शिशुओं में से मृत्यु को प्राप्त हो जानेवाले बच्चों की अवस्था के अनुसार विवरण :—

	श्रमजीवी वर्ग	गैर श्रमजीवी वर्ग
१ दिन के अन्दर	८	८
१ से लेकर ७ दिन के अन्दर	२६	३८
७ से लेकर ३० दिन के अन्दर	२६	२३
१ माह से लेकर ३ माह के अन्दर	२१	२२
३ माह से लेकर ६ माह के अन्दर	२२	२७
६ माह से लेकर १ वर्ष के अन्दर	९९	८५
कुल	२०२	२०३

इस प्रकार जन्म लेनेवाले प्रत्येक १००० शिशुओं में से उसका पाँचवाँ भाग साल-भर के अन्दर ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। एक भारतीय की औसत आयु भी केवल २३·२ वर्ष है।

ऊपर के विवेचन से भारतीय जनता के रहन-सहन के स्तर के ऊँचा करने की तीव्र आवश्यकता स्पष्ट है। अतः अब उसके ऊपर उठाने के लिए आवश्यक उपायों की ओर हमें दृष्टि डालनी है।

रहन-सहन का स्तर ऊँचा करने का उपाय

यदि हम भारतीय रहन-सहन के स्तर के नीचा होने के कारणों पर विचार करें तो इसका मुख्य कारण हमारे किसानों की आमदनी का बहुत ही कम होना है। खेती से वे अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त आमदनी कर नहीं पाते। अतः सर्वप्रथम हमें खेती की दशा सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए! खेती के अध्याय में इस प्रश्न पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया। पाठकों का ध्यान उस ओर दिलाया जाता

है। अतः किसानों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए खेती को उन्नत अवस्था में लाना है। भारतीय जनता, जिसका अर्थ होता है भारतीय किसान की अर्थिक दशा सुधारने के लिए खेती से सम्बन्धित घरेलू उद्योग-धन्धों की वृद्धि आवश्यक है जिससे भारतीय किसान अपनी वेकारी के समय में भी कुछ पैदा कर सके। इसके अलावे विभिन्न प्रकार क छोटे-वड़े उद्योगों की वृद्धि देश में होनी चाहिए ताकि जनसंख्या का अधिक भाग इन उद्योगों में लग जाय और उसका अत्यधिक वर्तमान दवाव भूमि पर से हट जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि पूरी भारतीय अर्थनीति (Indian Economy) को पुनस्संगठित और व्यवस्थित करने की आवश्यकता है ताकि उसके मानवी और भौतिक साधनों का सर्वोत्तम उपयोग हो सके, देश की आय अधिकतम हो सके और जिसके फलस्वरूप हमारे यहाँ की प्रति-व्यक्ति आय (percapita income) अधिकतम हो सके। तभी व्यक्तियों को पर्याप्त मात्रा में उपभोग की वस्तुएँ मिलेंगी। हर प्रकार की वेकारी के दूर हो जाने तथा अधिकतम उत्पादन की दशा में प्रति-व्यक्ति आय अधिकतम होगी ही। आय-वृद्धि के कारण लोगों की क्रम-शक्ति में वृद्धि होगी। क्रय-शक्ति की वृद्धि का अर्थ होगा अधिक मात्रा में वस्तुओं का उपभोग अर्थात् ऊपर उठता हुआ रहन-सहन का स्तर।

एक वात यहाँ स्मरण रखनी होगी। केवल अधिक उत्पादन से ही काम न चलेगा। अत्यधिक उत्पादन के साथ उसका समाज में न्यायोचित और न्याय-संगत वितरण होना अनिवार्य है। वर्तमान घोर वैषम्यपूर्ण धन-वितरण को उचित प्रकार से अपने यहाँ की कर-प्रणाली (taxation system) को पुनर्व्यवस्थित करके दूर करनी होगी।

दूसरी प्रमुख आवश्यकता यह है कि भारतीय समाज में फैले वर्तमान अशिक्षा के साम्राज्यवाद को समूल उखाड़ कर नष्ट कर देना है। इससे लोगों की कार्यक्षमता में भी वृद्धि होगी तथा वे प्राप्त वस्तुओं को ठीक ढंग से रख और सुन्दर ढंग से उनका उपभोग भी कर सकेंगे। शिक्षित व्यक्ति साधारणतया सफाई की ओर अधिक ध्यान देते हैं। अतः यदि शिक्षा का पर्याप्त प्रचार हो जाय तो बहुत-सी गन्दगी जो आजकल पाई जाती है लोग बिना विशेष खर्च के अपने आप दूर कर लेंगे। यदि लोग थोड़ा-सा ध्यान अपने घरों की गन्दगी और पड़ोस की गन्दगी की ओर देने लगें तो अपने आप ये सब खराबियाँ दूर हो जायेंगी। सरकार को भी यथासम्भव इस समस्या की ओर ध्यान देना चाहिए। उसे किसानों और मजदूरों के लिए स्वास्थ्यकर घर का प्रबन्ध करना चाहिए।

अन्त में हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि बड़ी तीव्र गति से बढ़ती हुई अपनी जन संख्या को भी रोकना होगा। इसके लिए विभिन्न प्रकार के सन्तति-निग्रह के उपायों को अपनाना होगा। बाल-विवाह को सर्वथा बन्द करना होगा। इसके अतिरिक्त यात्रा और स्थानान्तर-गमन (migration) के महत्व को भी ध्यान में रखना है। यात्रा से मनुष्य विभिन्न प्रकार का अनुभव प्राप्त करता है और दूसरों के सद्गुणों का अनुकरण करना सीखता है। इससे भी धीरे-धीरे रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता है। इसी प्रकार यदि किसी जगह एक पेशे के आदमी अधिक हों और उनकी आय कम हो, तो कुछ आदमियों के वहाँ से बाहर, उपर्युक्त देश या स्थान में, जाकर बसने से उनकी आय बढ़ेगी एवं उनके रहन-सहन का दर्जा

ऊँचा हो जायगा। इसी प्रकार के उपायों से भारतीय रहन-सहन का स्तर ऊँचा किया जा सकता है।

नवाँ अध्याय

सन्तुलित आहार (Balanced diet)

भोजन की आवश्यकता मानवीय आवश्यकताओं में सबसे प्रमुख आवश्यकता है। अधिकांश मानवीय प्रयत्नों का मुख्य कारण वही होती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकता का प्रमुख भाग भोजन पर व्यय करता है। भोजन के पर्याप्त और उत्तम होने पर ही व्यक्ति का स्वास्थ्य निर्भर होता है। उत्तम स्वास्थ्य ही से उत्तम कार्यक्षमता की आशा की जा सकती है। अतः भोजन का प्रश्न आर्थिक दृष्टि से विशेष महत्व पूर्ण है। इस अध्याय में भोजन और उससे सम्बन्धित समस्याओं पर विचार होगा।

इस सम्बन्ध में सबसे पहला प्रश्न जो हमारे सामने आता है वह है कि हम **भोजन क्यों करते हैं?** इसके उत्तर के लिए अपनी उस दशा की कल्पना कीजिए जब आपको भूख लगी होती है। भूख लगने पर यदि कुछ घण्टों तक आपको या किसी भी व्यक्ति को भोजन न मिले तो क्या दशा होती है? आपकी तबीयत परेशान हो उठती है, किसी कार्य में आपका मन नहीं लगता तथा शरीर के सब अंग शिथिल पड़ने लगते हैं, आप कमज़ोरी महसूस करने लगते हैं। आखिर इन सब प्रकार के अनुभव आपको क्यों होते हैं? भोजन न मिलने के

कारण। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भोजन से मनुष्य अपनी एक प्रकार की शारीरिक पीड़ा, जो भूख लगने पर होती है, को दूर करता है। इसके साथ ही साथ उसी के द्वारा वह अपने शरीर के विभिन्न अवयवों को कार्य करने की शक्ति प्रदान करता है। स्वस्थ्य-जीवन के लिए उपयुक्त भोजन की समस्या बड़े महत्व की है। भोजन के द्वारा मनुष्य का शरीर स्वस्थ्य तथा शक्तिशाली रहता है।

अब प्रश्न यह है कि क्या किसी प्रकार के भोजन से मानव शरीर स्वस्थ्य और शक्तिशाली रह सकता है? प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तिगत अनुभव से इस प्रश्न का उत्तर देगा कि नहीं। इससे अब हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि भोजन के पदार्थों में निश्चित गुण या विशेषताएँ होनी चाहिएँ। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि हमारा भोजन कितना और किस प्रकार का होना चाहिए ताकि उसके उपभोग से हमारा स्वास्थ्य ठीक रहे? इस प्रकार आहार या भोजन की समस्या के दो मुख्य पहलू हुए—(१) भोजन की मात्रा या परिमाण (२) भोजन का प्रकार, जिससे तात्पर्य उसके पौष्टिक तत्वों से होता है। अब इन दोनों पहलुओं पर अलग अलग विचार किया जायगा।

भोजन की मात्रा क्या होनी चाहिए?

एक व्यक्ति को कितने परिमाण में भोजन की आवश्यकता होती है? देखने में यह प्रश्न बहुत ही सीधा और आसान मालूम पड़ता है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जिसको जितनी भूख होगी वह स्वयं उतना ही भोजन कर लेगा। जब तक उसकी भूख शान्त नहीं होती तब तक वह भोजन माँगता

रहेगा। साधारणतया यह उत्तर ठीक मालूम पड़ता है। किन्तु यह सही नहीं है। यदि किसी व्यक्ति को कुछ दिनों तक निरन्तर कम मात्रा में भोजन मिले तो उसे उतनी ही कम मात्रा में भोजन करने की आदत सी पड़ जाती है। आदत के पड़ जाने पर वह बिलकुल इस बात का अनुभव नहीं कर पाता है कि पर्याप्त मात्रा में उसे भोजन नहीं मिल रहा है।

आहार के विशेषज्ञों ने भोजन की पर्याप्तता या अपर्याप्तता के माप के लिए एक पैमान निकाला है जिसे "कैलोरीज" (calories) कहते हैं। जिस प्रकार वस्तुओं की लम्बाई नापने के लिए इञ्च, फुट, गज, दूरी नापने के लिए फर्लाङ्ग, मील इत्यादि, तौल नापने के लिए छटाँक, सेर, मन इत्यादि की इकाई निश्चित कर ली गई है उसी प्रकार भोजन की मात्रा नापने के लिए कैलोरीज का प्रयोग किया जाता है। कैलोरीज (calories) है क्या? यह ताप की इकाई (heat unit) है। विशेषज्ञों के अनुसार शारीरिक परिश्रम न करनेवाले साधारण व्यक्तियों के लिए २४०० कैलोरीज प्रतिदिन खानी चाहिए। इसके पश्चात् जो जितना ही अधिक परिश्रम करे उसे उतना ही अधिक कैलोरीज खानी होगी।

भोजन की मात्रा निश्चित करने में हमें एक और बात का ध्यान रखना होगा। वह है जलवायु। गर्म देशों के लिए ठंडे देशों की अपेक्षा कम मात्रा में भोजन चाहिए। जहाँ की जलवायु बहुत गर्म होती है वहाँ कम, जहाँ की जलवायु ठंडी होती है वहाँ उससे अधिक और जहाँ बहुत ही अधिक सर्दी पड़ती है वहाँ बहुत ही अधिक भोजन की आवश्यकता होती है। प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव होगा कि वह जाड़े के दिनों में गर्मी की अपेक्षा अधिक भोजन करता है।

इस प्रकार हमें भोजन की मात्रा निश्चित करने में दो मुख्य बातों की ओर ध्यान देना होगा। सर्वप्रथम व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले शारीरिक परिश्रम का ख्याल करना होगा। अधिक परिश्रम करनेवाले व्यक्ति को अधिक और कम परिश्रम करने वाले को अपेक्षाकृत कम भोजन की आवश्यकता होती है। प्रायः देखने में आता है कि जो लोग बिल्कुल शारीरिक परिश्रम नहीं करते उनको पाचन सम्बन्धी तरह-तरह की शिकायतें होती हैं। उनकी सामान्य शिकायत होती है कि उनको भूख नहीं लगती। क्यों? कारण बिल्कुल स्पष्ट है। जितनी मात्रा में उनको भोजन की आवश्यकता होती है उससे अधिक मात्रा में वे भोजन करते हैं जिससे वे उसे पचा नहीं पाते। वे ही लोग यदि शारीरिक परिश्रम करना शुरू कर देते हैं तो उनकी यही शिकायतें प्रायः अपने आप दूर हो जाती हैं।

दूसरी बात जिसकी ओर ध्यान देना होगा वह है जल-वायु। गर्म देशों के निवासियों के लिए ठंडे देशों के निवासियों की तुलना में कम मात्रा में भोजन दिया जाना चाहिए।

हमारा देश भारतवर्ष एक गर्म मुल्क है। इसलिए यहाँ के निवासियों को ठंडे देशों के निवासियों की अपेक्षा कम भोजन चाहिए। लेकिन देश के कृषि-प्रधान होने के कारण यहाँ के अधिकांश व्यक्तियों को शारीरिक परिश्रम अधिक करना पड़ता है इससे कम परिश्रम करने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा उनको अधिक मात्रा में भोजन चाहिए। विशेषज्ञों का अनुमान है कि साधारण भारतीय किसान या श्रमिक को २५०० से २६०० कैलोरीज प्रतिदिन मिलनी चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि जो भोजन हम करते हैं उससे हमें आवश्यक मात्रा में कैलोरीज प्राप्त होती हैं या नहीं इसकी जाँच

किस प्रकार करें? यह भी कोई कठिन कार्य नहीं है। सर्व प्रथम हमें अपने भोजन के प्रत्येक पदार्थ की तालिका बना लेनी चाहिए। अर्थात् किन खाद्य पदार्थों का किस परिमाण में हमारे भोजन में समावेश होता है इसकी सूची तैयार कर लें। तत्पश्चात् डाक्टरी पुस्तक से प्रत्येक खाद्य पदार्थ की कैलोरीज मालूम करें। अपने भोजन में सम्मिलित सब पदार्थों की कैलोरीज के इस प्रकार अलग-अलग मालूम हो जाने पर सबका योग निकाल कर हम यह जान सकते हैं कि हमारे दैनिक भोजन से हमें कुल कितनी कैलोरीज (calories) प्राप्त होती हैं। कुल कैलोरीज के आवश्यक मात्रा से कम होने की दशा में हमें अपने भोजन में जरूरी प्रकार के परिवर्तन कर देने चाहिएँ ताकि पर्याप्त मात्रा में कैलोरीज प्राप्त हो सके और शरीर स्वस्थ्य रहे।

भोजन का प्रकार

भोजन की मात्रा के प्रश्न पर विचार कर लेने के बाद अब हमें तत्सम्बन्धी दूसरे प्रश्न की ओर विचार करना है। वह प्रश्न है :—हमारा भोजन किस प्रकार का हो? इस प्रश्न का भी संक्षिप्त उत्तर यह है कि भोजन ऐसा हो जिससे शरीर के लिए आवश्यक सब तत्व प्राप्त हो सकें। स्वास्थ्य और शक्ति के लिए आवश्यक तत्वों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) शारीरिक वृद्धि के लिए आवश्यक तत्व, (२) शरीर को शक्ति प्रदान करनेवाले तत्त्व।

मनुष्य का आकार जन्म लेने के क्षण से लगभग ५० साल की उम्र तक बढ़ता रहता है। शारीरिक वृद्धि से तात्पर्य मनुष्य के डील-डौल की वृद्धि से होता है। शरीर और मस्तिष्क की उचित वृद्धि के लिए भोजन में कुछ आवश्यक तत्त्वों का पर्याप्त

मात्रा में होना नितान्त आवश्यक होता है। इस प्रकार के तत्त्वों में निम्नलिखित तीन मुख्य हैं :—

(१) प्रोटीन (Protein); (२) विटामिन या जीवन-सत्व (Vitamins); और (३) खनिज क्षार पदार्थ (Minerals and acids)। इन तत्त्वों और जिन खाद्य-पदार्थों में वे पाए जाते हैं उनका वर्णन नीचे दिया जाता है।

प्रोटीन (Protein) शारीरिक वृद्धि करनेवाले तत्त्वों में यह एक मुख्य तत्त्व है। मज्जा-तन्तुओं (tissues) का निर्माण इसीसे होता है। इसके अतिरिक्त शक्ति उत्पन्न करने में भी यह सहायक होता है। निम्नलिखित पदार्थों में प्रोटीन पाई जाती है:—दूध, मछली, गेहूँ, चावल, विभिन्न प्रकार की दालें, पत्तीदार और जड़दार तरकारियाँ जैसे पालक, आलू, इत्यादि, बादाम मूँगफली, माँस इत्यादि। दूध, मछली, गोश्त इत्यादि में बहुत अधिक मात्रा में पाई जाती है। अनाज के चोकर में आटे से अधिक प्रोटीन होती है। अतः चोकरदार आटे का प्रयोग स्वास्थ्य के लिए अधिक उपयुक्त होता है। प्रोटोन के सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि बच्चों को इसकी आवश्यकता प्रौढ़ों की अपेक्षा अधिक होती है क्योंकि बच्चों का शारीरिक विकास तीव्र गति से होता है।

जीवन-सत्व या विटामिन

मानव-स्वास्थ्य के लिए यह बहुत ही आवश्यक तत्त्व है। इसके चार मुख्य भेद हैं। विटामिन ए, विटामिन बी, विटामिन सी और विटामिन डी।

विटामिन ए—यह मानव फेफड़े, पेट, अँतड़ियों और आँख के लिए विशेष लाभदायक होता है। दूध, दही, मक्खन,

घी, अण्डे और मछली में इसकी मात्रा अधिक होती है। पत्तीदार भाजी जैसे पालक, पातगोभी, पके हुए फलों जैसे आम, टमाटर, पपीता, नारङ्गी में भी यह पाया जाता है।

विटामिन बी—यह मनुष्य की पाचन-क्रिया को ठीक रखने के लिए बहुत ही आवश्यक है। यह मस्तिष्क को भी ठीक रखता है और मांस-पेशियों को शक्ति देता है। दूध, अण्डों, दाल, फल आदि में अधिकतर पाया जाता है।

विटामिन सी (Vitamingc) इसका काम दाँत और हड्डियों को मजबूत बनाना है। इससे रक्त भी साफ़ होता है। यह ताजे फलों, तरकारियों, नीबू, नारङ्गी, टमाटर और अंकुरित अनाज में अधिक मात्रा में पाया जाता है। तरकारियों के सूख जाने पर उनमें से यह नष्ट हो जाता है। गर्मी से यह नष्ट हो जाता है। अतः भोजन पकाने में, विशेषकर यदि पकाने की क्रिया बहुत अधिक देर तक की गई तो, यह नष्ट हो जाता है।

विटामिन डी (Vitamin D) इसके निरन्तर उपयोग से दाँत और हड्डियाँ काफी मजबूत रहती हैं। गर्भवती स्त्री को यदि यह उचित मात्रा में दिया जाय तो माँ को लाभ होता ही है तथा बच्चे की वृद्धि सन्तोषजनक ढङ्ग पर होती है। यह सूर्य की किरणों से उत्पन्न होता है। अतः सबसे सस्ता और सरल उपाय इसके प्राप्त करने का धूप-स्नान है। धूप में घूमते हुए हरी-हरी घासों को खानेवाले जानवरों के दूध में भी यह मिलता है। इसके अतिरिक्त मछली के तेल और अण्डे में भी यह मिलता है।

खनिज-क्षार पदार्थ (Minerals and acids)

इनका मुख्य काम मज्जा-तन्तुओं के निर्माण, हड्डियों की वृद्धि तथा रोगों को दूर रखने की शक्ति प्रदान करने में सहायक होना है। इनमें कैलशियम (calcium), फास्फोरस (phosphorous), और लोहा (iron) मुख्य हैं। **कैलशियम** से हड्डियों की वृद्धि होती है तथा दाँत स्वच्छ रहते हैं। दूध, दही, हरी-हरी पत्तीदार शाक-भाजियों में अधिक पाया जाता है। प्रौढ़ों की अपेक्षा बालकों को इसकी अधिक जरूरत होती है। **फ़ास्फोरस** रक्त की वृद्धि में सहायक होता है। इससे मांस-पेशियों को भी अच्छी वृद्धि होती है। गेहूँ, चावल, दाल इत्यादि में यह पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। दूध, गाजर, सोयाबीन आदि में भी यह पाया जाता है। **लोहा** (iron) रक्त बनाने के लिए बहुत जरूरी है। दाल, माँस आदि में लोहा पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। फलों में सेब (apple) और तरकारियों में बैगन में लोहा अधिक पाया जाता है।

शारीरिक वृद्धि के लिए आवश्यक तत्त्वों का वर्णन कर लेने के बाद अब हमें दूसरे प्रकार के तत्त्वों की ओर ध्यान देना है। विभिन्न कार्यों के करने से शारीरिक और मानसिक शक्ति में जो कमी आ जाती है उसकी पूर्ति हो जानी आवश्यक होती है। दूसरे प्रकार के तत्त्वों का काम परिश्रम में व्यय शक्ति को पुनः पूरा करना है। **इन तत्त्वों को शक्ति-जनक तत्त्व कहते हैं**। इनमें दो मुख्य हैं:—**चर्बी** (fat) और **कार्बोहाइड्रेट** (carbohydrates)। चर्बी का मुख्य काम शक्ति उत्पन्न करना, शरीर के सुकुमार भागों की रक्षा करना

और शरीर को रोग से बचाए रखना है। चर्बी में बिटामिन भी मिले होते हैं। घी, मक्खन, तेल, विशेषकर नारियल के तेल में चर्बी अधिक होती है। शक्ति के लिए प्रमुख **तत्त्व कार्बो-हाइड्रेट होता है।** यह अनाज और जड़दार तरकारियों में अधिक होता है। गुड़, शक्कर, चीनी, मिश्री, शहद, इत्यादि में यह बहुतायत से पाया जाता है। फलों में केला, अंगूर, अनार, गाजर इत्यादि में अधिक पाया जाता है।

सन्तुलित आहार

मानव-स्वास्थ्य के लिए खाद्य-पदार्थों के आवश्यक तत्त्वों के वर्णन के बाद हमें सन्तुलित आहार (balanced diet) की समस्या की ओर ध्यान देना है। 'सन्तुलित आहार' का क्या अर्थ है ? सन्तुलित आहार से तात्पर्य उस आहार से होता है जिसके उपभोग से ऊपर बताए गए आवश्यक तत्त्व उचित मात्रा में मिलते रहें ताकि व्यक्ति का स्वास्थ्य अच्छा रहे और वह देश तथा समाज की उन्नति में सहायक हो सके।

साधारणतया लोगों का भोजन किसी नियम-विशेष से निश्चित नहीं होता। मोटे दर से भोजन निश्चित करने में तीन प्रकार के प्रभाव दिखाई पड़ते हैं। (१) पुराने रीति-रिवाज का प्रभाव ; (२) वर्तमान फैशन का प्रभाव ; तथा (३) स्वाद (taste) का प्रभाव। प्रत्येक व्यक्ति या व्यक्तियों का समुदाय खाद्य-पदार्थों के चुनाव में इन्हीं तीनों बातों से प्रभावित होता है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि साधारण लोगों का भोजन असन्तुलित होता है, अर्थात् उसमें आवश्यक तत्त्वों की उचित मात्रा में उपस्थिति नहीं होती। कोई तत्त्व आवश्य-कता से अधिक मात्रा में होता है तो कोई कम मात्रा में और

किसी का सर्वथा अभाव ही होता है। असन्तुलित आहार के कारण व्यक्ति का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। वह तरह-तरह बीमारियों और रोगों का शिकार होता है जिससे उसकी कार्य-क्षमता उत्तरोत्तर घटती जाती है। एक युवा पुरुष को २४ घण्टे में निम्नांकित भोजन करना चाहिए :—

पदार्थ	परिमाण
(१) हाथ का पीसा चोकरदार आटा	६ छटाँक
(२) दाल	१ ,,
(३) चावल	२ ,,
(४) घी	½ ,,
(५) तरकारी	६ ,,
(६) फल	४ ,,
(७) दूध	८ ,,

भोजन के सम्बन्ध में अन्य स्मरणीय बातें

भोजन बनाने में सफ़ाई का विशेष ध्यान रखना चाहिए। भोजन बनाने की जगह, बर्तन इत्यादि सब साफ हों। भोजन जरूरत से ज्यादा अधिक देर तक आग पर नहीं पकाया जाना चाहिए। अन्यथा उसमें से बहुत से जरूरी तत्त्वों के नष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है। अधिक मसालों के प्रयोग से भोजन रुचिकर तथा स्वादिष्ट तो अवश्य बनाया जा सकता है किन्तु वह हानिकारक हो जाता है। विटामिन सी (vitamin c) थोड़ी गर्मी से नष्ट हो जाती है। इन सब बातों का ख्याल भोजन बनाने में करना चाहिये।

अब भोजन करते समय जरूरी सावधानियों की ओर ध्यान दीजिए। सर्वप्रथम भोजन खूब चबा-चबाकर करना चाहिए ताकि मुँह की पाचक लार (saliva) उसमें खूब मिल जाय। भोजन करते समय और विशेषकर जब कि मुँह में कौर या ग्रास चबा रहे हों, नहीं बोलना चाहिए, अन्यथा कभी-कभी खाद्य-पदार्थों के टुकड़े साँस की नली में चले जाते हैं और उससे कभी-कभी मृत्यु की नौबत तक आ जाती है। खाना खाते समय पानी नहीं पीना चाहिए। भोजन के उपरान्त थोड़ी देर के बाद पानी पीना चाहिए। भोजन करते समय अधिक पानी के प्रयोग से पाचन-क्रिया में बाधा पड़ती है। भोजन कर लेने के बाद हाथ-मुँह अच्छी तरह धो लेना चाहिए। पानी से खूब कुल्ली करके दाँतों को खूब साफ कर लेना चाहिए। ऐसा न करने से तरह-तरह की दाँतों की बीमारियाँ होती हैं जिनके कारण सारी पाचन-क्रिया बिगड़ जाती है और मनुष्य का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है।

अन्य बातें जिनकी ओर ध्यान देना है निम्नलिखित हैं:— भोजन समय पर करना चाहिए। ऐसा न हो कि एक दिन ९ बजे भोजन करें तो दूसरे दिन ११ बजे, तीसरे दिन १२ बजे और पाँचवें दिन ८ ही बजे। पाचन-क्रिया पर इस प्रकार से किए जानेवाले अनियमित भोजन का बुरा प्रभाव पड़ता है। भोजन भूख लगने पर करना चाहिए। हमेशा मुँह चलाते रहना स्वास्थ्य की दृष्टि से ठीक नहीं होता। यदि भोजन के सम्बन्ध में इन सब बातों की ओर विशेष ध्यान रक्खा जाय तो लोगों का स्वास्थ्य अवश्य ही ठीक रहे।

अन्त में हमें भारतीयों के भोजन की ओर भी सरसरी दृष्टि दौड़ा लेनी है। भारतीय समाज का अधिकांश भाग गाँवों

में रहता है तथा खेती पर आश्रित होता है। अतः गाँव के किसानों और मजदूरों का भोजन ही औसत भारतीय भोजन कहा जा सकता है। उनका भोजन असन्तुलित होता है। उसमें जीवन सत्वों का विशेष अभाव होता है। दूध, घी आदि तो बिल्कुल नहीं मिलता मांस और मछली जो खरीदकर खाते हैं, वह प्रायः सड़ी हुई चीज होती है। गाँव में मजदूरों को जो अनाज मिलता है वह प्रायः घुना और रद्दी होता है। इनके दैनिक आहार में एक जबरदस्त कमी तरकारियों का अभाव है। किसानों के भोजन में किसी-किसी मौसम में तो तरकारी का नाम भी नहीं होता। आटे से चोकर बिल्कुल निकाल देना स्वास्थ्य की दृष्टि से ठीक नहीं होता। इसे दूर करना होगा। चावल से माँड़ का निकाल देना भी चावल की उपयोगिता कम कर देना है। इस प्रथा को भी मिटाना होगा। दूध और दही का प्रयोग अधिक करना होगा। चाय, कहवा आदि हानिकारक पदार्थों के उपयोग को क्रमशः कम करना चाहिए। फलों का और तरकारियों का अधिक सेवन करना चाहिए। फलों से तात्पर्य कीमती फलों जैसे अंगूर, सेव आदि से नहीं है, बल्कि फसल के अनुसार तरबूज, ककड़ी, खरबूजा, बेर इत्यादि से। गाजर बहुत ही स्वास्थ्यवर्द्धक चीज है। इसका उपयोग उत्तरोत्तर अधिक करना चाहिए। बिना भोजन में पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक पदार्थों का समावेश किए भारतीय जनता के स्वास्थ्य का स्तर ऊँचा नहीं किया जा सकता। देश देश की आर्थिक दशा सुधारने के लिए इस समस्या को समुचित ढङ्ग से हल करना ही होगा।

दसवाँ अध्याय

विनिमय (Exchange)

धनोत्पत्ति और उसके उपयोग के विवेचन के पश्चात् हमें उसके विनिमय की ओर ध्यान देना है। सर्व प्रथम हमें विनिमय के अर्थ और उसकी आवश्यकता पर विचार करना है।

विनिमय का अर्थ और उसकी आवश्यकता

मनुष्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में बिल्कुल असभ्य था। उसका रहन-सहन भी अन्य जानवरों की तरह ही था। भूख लगने पर वह भोजन की तलाश करने में लगता था और जंगली फल फूल तोड़ कर या जानवरों का शिकार करके उनके माँस से अपनी क्षुधा शान्त करता था। नदी-नालों से पानी पीकर प्यास बुझा लेता था। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रारम्भिक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक परिवार अपनी आवश्यकताओं की सब वस्तुओं को उत्पन्न करता था। इस युग में विनिमय की कोई आवश्यकता नहीं थी। किन्तु मनुष्य क्रमशः सभ्य होता गया। उसकी आवश्यकतायें दिनों-दिन बढ़ती गई तथा उनकी पूर्ति के लिए आवश्यक वस्तुओं की संख्या में भी तीव्र गति से वृद्धि होती गई। मानव समाज में सभ्यता के विकास के साथ श्रम-विभाजन (division of labour) उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। प्रत्येक मनुष्य के लिए अपनी दैनिक आवश्यकताओं की सब वस्तुओं का उत्पादन सम्भव नहीं रह गया। अतः कुछ लोगों ने एक वस्तु का उत्पादन अपने ऊपर लिया, दूसरे लोगों ने किसी दूसरी वस्तु का और इसी प्रकार अन्य लोगों ने अन्य वस्तुओं का। कुछ लोगों

ने खेती करने का काम लिया और खाद्य पदार्थों का उत्पादन ही उनका पेशा रहा। कुछ लोगों ने कपड़ा बनाने का पेशा अपनाया, कुछ ने बर्तन बनाने का, इत्यादि। इस तरह समाज में पेशे के आधार पर श्रम-विभाजन हुआ। सभ्यता के निरन्तर विकास के साथ प्रत्येक पेशे में भी श्रम-विभाजन होता गया और आजकल के मशीन युग में एक ही वस्तु के उत्पादन की विभिन्न क्रियाएँ विशिष्ट प्रकार के व्यक्तियों के द्वारा सम्पन्न होती हैं। कपड़ा तैयार करने की ही समस्या को ले लीजिए। आवश्यक रुई किसान उत्पन्न करता है, उसके बाद रुई साफ करके धुनने का काम कुछ लोग करते हैं जिन्हें धुनिया कहा जाता है, कुछ लोग धुनी हुई रुई से सूत कात कर तैयार करते हैं, सूत कातने के बाद कपड़ा बुनने का काम दूसरा व्यक्ति-समुदाय करता है। मिलों में तो यह श्रम-विभाजन और छोटी-छोटी क्रियाओं के अनुसार जटिल होता जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सभ्यता के क्रमिक विकास के साथ साथ मनुष्य का स्वावलम्बी जीवन क्रमशः परावलम्बी होता गया अर्थात् वह अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं के प्राप्ति के लिए उत्तरोत्तर अपने अन्य साथियों पर आश्रित होता गया। एक व्यक्ति को केवल अपनी ही उत्पन्न की हुई वस्तु की आवश्यकता नहीं रह गई बल्कि दूसरों की उत्पन्न की हुई बहुत-सी वस्तुओं की भी आवश्यकता उत्पन्न हो गई। यह कठिनाई किस प्रकार दूर की जाय? इसी को हल करने फलस्वरूप विनिमय के उपाय का आविष्कार हुआ। प्रत्येक व्यक्ति अपने तथा अपने परिवार के लिए आवश्यक मात्रा में अपनी उत्पन्न की हुई वस्तु रखकर शेष दूसरों की वस्तुओं से बदल कर अपना काम चलाने लगा। किसान अपने अनाज का एक भाग पारि-

वारिक उपभोग के लिए अलग करके शेष में से कुछ जुलाहे को देकर कपड़ा लेने लगा, कुछ भाग कुम्हार को देकर उससे वर्तन प्राप्त करने लगा, और इसी प्रकार अन्य आवश्यक वस्तुओं के सम्वन्ध में भी। विनिमय का यह प्रारम्भिक रूप रहा। इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी वस्तु के वदले में दूसरों की वस्तुओं को प्राप्त करता था। इसे वस्तुओं की **अदला-वदली की प्रथा** (barter system of exchange) कहते हैं।

सभ्यता की शैशवावस्था में जव कि श्रम-विभाजन का रूप विल्कुल साधारण था वस्तुओं की अदला-वदली की प्रथा से काम चला। किन्तु श्रम-विभाजन के जटिल रूप धारण करने के साथ उसकी त्रुटियाँ सामने आने लगीं और लोगों को तरह तरह की कठिनाइयाँ आवश्यक वस्तुओं के प्राप्त करने में होने लगीं। इस प्रथा की सवसे वड़ी त्रुटि यह थी कि इसकी दशा में प्रत्येक व्यक्ति को जो अपनी वस्तु के वदले दूसरे की वस्तु प्राप्त करना चाहता था, एक ऐसे व्यक्ति को ढूँढ़ना पड़ता था जिसके पास उसकी अभीष्ट वस्तु हो और उस व्यक्ति को भी प्रथम व्यक्ति की वस्तु की जरूरत हो। एक उदाहरण लीजिए। एक किसान के पास गेहूँ है और वह जूता चाहता है। मोची का ढूँढ़ निकलना मुश्किल नहीं है। उसे गेहूँ के वदले में जूता प्राप्त करने के लिए एक ऐसे मोची को ढूँढ़ना होगा जिसे गेहूँ की आवश्यकता हो। किन्तु इसकी क्या गारण्टी है कि मोची को उस समय गेहूँ की ही आवश्यकता होगी अन्य किसी वस्तु की नहीं। यदि मान लिया कि मोची को उस समय गेहूं की आवश्यकता न हो वल्कि कपड़े की आवश्यकता हो तव तो किसान को गेहूँ के वदले में जूते का मिलना कठिन हो जायगा और उसकी जूते की आवश्यकता अतृप्त ही रह जायगी। और यदि

ढूँढ़ने के पश्चात् उसे ऐसा मोची मिल भी गया तो उसमें उसे विशेष असुविधा होगी, व्यर्थ में बहुत सा समय नष्ट होगा और आवश्यकता की सन्तुष्टि में बहुत विलम्ब होगा। इसी एक उदाहरण से वस्तुओं की **अदला-बदली की प्रथा** की त्रुटि का अनुमान लगाया जा सकता है।

इसी तरह की अन्य त्रुटियों के दूर करने के लिए किए गए मानव प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप मुद्रा का आविष्कार हुआ। मुद्रा या रुपया पैसा विनिमय का एक सामान्य साधन हो गया। जब कभी किसी वस्तु की आवश्यकता किसी व्यक्ति को होती है तो वह अपनी वस्तु के बदले में मुद्रा प्राप्त करता है और फिर उस मुद्रा से अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार पहले की वस्तुओं की अदला-बदली की एक क्रिया दो क्रियाओं, **जिन्हें क्रय और विक्रय कहते हैं**, में बँट गई। **किसी वस्तु के बदले में मुद्रा या रुपया पैसा प्राप्त करना उस वस्तु का विक्रय कहलाता है। मुद्रा के बदले में किसी वस्तु को प्राप्त करना उस वस्तु का क्रय कहलाता है।** साधारण बोलचाल में 'क्रय' के बदले 'खरीदना' और 'विक्रय' के स्थान में 'बेचना' शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

विनिमय के भेद

ऊपर के विवेचन से हमें वस्तुओं के विनिमय के दो निश्चित रूप मालूम हुए। (१) **वस्तुओं की अदला-बदली की प्रथा** (barter system) जिसमें एक वस्तु देकर दूसरी वस्तु प्राप्त की जाती है। यह प्रथा सभ्यता के प्रारम्भिक अवस्था में ही अपनाई जा सकती है। (२) **क्रय-विक्रय द्वारा**

विनिमय (exchange by sale and purchase)। इस प्रकार के विनिमय में, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, मुद्रा या रुपए-पैसे की आवश्यकता होती है। यह प्रथा श्रम-विभाजन (division of labour) की जटिलतम स्थिति में भी अपनाई जा सकती है। यह पहली प्रथा के सब दोषों से शून्य है। इसके द्वारा वस्तुओं की प्राप्ति में अनावश्यक तथा व्यर्थ का समय नष्ट नहीं होता और न तो वस्तुओं के प्राप्त करने में ही विलम्ब होता है।

पहली और दूसरी प्रथा के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना होगा कि पहली प्रथा में वस्तुओं का मूल्य (value) दूसरी वस्तुओं में निश्चित होता है, जैसे यदि १ सेर गेहूँ के बदले में ५ मिट्टी के घड़े मिलें, तो १ सेर गेहूँ का 'मूल्य' ५ मिट्टी के घड़े हुए। दूसरी प्रथा की चलन में वस्तुओं का मूल्य मुद्रा या रुपए-पैसे में निश्चित होता है। जैसे यदि १ सेर गेहूँ के बदले ६ आने पैसे मिले तो १ सेर गेहूँ का मूल्य ६ आना हुआ। **मुद्रा या रुपए-पैसे में जब वस्तुओं का मूल्य निर्धारित होता है तो उसे 'मूल्य' न कहकर उस वस्तु की कीमत (price) कहते हैं।**

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि वस्तुओं की अदला-बदली अन्य वस्तुओं से या मुद्रा से होती है। इसी प्रकार की अदला-बदली को विनिमय कहते हैं।

यदि इस अदल-बदल की क्रिया का विश्लेषण किया जाय तो विनिमय की क्रिया के सम्बन्ध में कुछ निश्चित विशेषताएँ स्पष्ट हो जायँगी। सर्वप्रथम यह क्रिया दोतरफा होती है। प्रत्येक विनिमय के कार्य में एक व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय

अपनी वस्तु देता है जिसे कोई दूसरा व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय ग्रहण करता है और दूसरा व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय उस प्राप्त वस्तु के बदले में अपनी वस्तु या रुपया-पैसा पहले व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय को देता है। इस तरह यदि कोई व्यक्ति किसी की वस्तु छीन ले या चुरा ले तो यह विनिमय नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि वह क्रिया एकतरफा होगी। जिस व्यक्ति की वस्तु छिन जाती है या चोरी चली जाती है उसको अपनी वस्तु के बदले में कुछ नहीं मिलता।

दूसरी बात जो इस सम्बन्ध में स्मरणीय है यह है कि विनिमय-कार्य-स्वेच्छा या खुशी-रजामन्दी से होता है। उसमें किसी प्रकार का बाहरी दबाव नहीं होता। अतः यदि किसी बाह्य-कारण से विवश होकर किसी व्यक्ति को अपनी वस्तु दूसरे की वस्तु से बदलनी पड़े तो उसे अर्थशास्त्रीय दृष्टि से विनिमय नहीं कह सकते। तीसरी बात जो विनिमय के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है यह है कि विनिमय कानूनी (legal) होता है। धन परिवर्तन यदि कानून या नियम के विरुद्ध हुआ तो वह विनिमय नहीं कहा जा सकता है। किसी की चीज को जबरदस्ती छीन लेना या चुरा लेना नियम या कानून के विरुद्ध होता है। इस कारण से भी उसे विनिमय नहीं कह सकते।

इस प्रकार विनिमय की तीन मुख्य विशेषताएँ हुई :—

(१) विनिमय-कार्य दोतरफा होता है एकतरफा नही।

(२) विनिमय-कार्य-सम्बन्धी व्यक्तियों या व्यक्ति-समुदायों की खुशी-रजामन्दी से होता है। उसमें किसी प्रकार का बाहरी दबाव नहीं होता।

(३) विनिमय-कार्य नियम या कानून के विरुद्ध नहीं होता।

ग्यारहवाँ अध्याय

बाजार (Market)

पिछले अध्याय में विनिमय की आवश्यकता, उसका वास्तविक अर्थ तथा उसके भेद आदि का विवेचन हो चुका है। अब यदि आपसे पूछा जाय कि वस्तुओं का विनिमय होता कहाँ है ? तो फौरन उत्तर देंगे कि बाजार में। अतः बाजार से हम अर्थ-शास्त्र में क्या समझते हैं यह जानना आवश्यक है। इस अध्याय में बाजार और उसके क्षेत्र पर विचार किया जायगा।

बाजार का अर्थशास्त्रीय अर्थ

'बाजार' साधारण बोल-चाल का एक शब्द है। किन्तु जन-साधारण द्वारा लगाए जानेवाले इसके अर्थ तथा एक अर्थशास्त्री द्वारा लगाए जानेवाले अर्थ में बहुत भिन्नता है। बाजार शब्द का अर्थ अर्थशास्त्रीय अर्थ जानने के लिए इस भिन्नता को भली-भाँति समझ लेना होगा।

साधारण बोल-चाल में "बाजार" से तात्पर्य उस स्थान-विशेष से होता है जहाँ विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के खरीदने और बेचनेवाले वस्तुओं के क्रय-विक्रय (purchase and sale) के लिए एकत्रित होते हैं। अर्थ-शास्त्र में 'बाजार' शब्द

से किसी स्थान-विशेष, जहाँ वस्तुएँ खरीद-बिक्री के लिए प्रद-र्शित की जाती हैं, का बोध नहीं होता है। अर्थ-शास्त्र में बाजार से निम्नलिखित का बोध होता है:—

(१) कोई वस्तु विशेष;

(२) उस वस्तु-विशेष के सब खरीददार तथा बेंचनेवाले;

(३) उस वस्तु-विशेष के समस्त क्रेताओं तथा विक्रेताओं में स्वतंत्र स्पर्धा या प्रतियोगिता का होना;

(४) वह क्षेत्र (area) जिसमें उस वस्तु के क्रेता-विक्रेता फैले हुए होते हैं, तथा

(५) क्रेताओं और विक्रेताओं की पारस्परिक स्वतंत्र स्पर्धा के परिणाम-स्वरूप उस समस्त क्षेत्र में उस वस्तु की एक ही कीमत (price) का होना।

इन पाँचों चीजों का बोध 'बाजार' शब्द से होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक वस्तु का बाजार पृथक-पृथक होता है। इसके साथ ही साथ इससे यह भी स्पष्ट है कि किसी वस्तु का बाजार किसी स्थान-विशेष तक ही सीमित नहीं होता। बल्कि उसका बाजार विभिन्न स्थानों, या किसी पूरे जिले या प्रान्त या देश या समस्त दुनिया तक फैला हो सकता है यदि क्रेताओं और विक्रेताओं की स्पर्धा के कारण उस वस्तु की कीमत सर्वत्र एक ही हो। सम्भव है कि किसी वस्तु के खरीदनेवाले तथा बेचनेवाले किसी गाँव-विशेष तक ही सीमित हों और उनकी पारस्परिक स्पर्धा के कारण उस वस्तु की कीमत उस गाँव में एकही हो। ऐसी दशा में उस वस्तु का बाजार उसी गाँव तक सीमित होगा। यह भी सम्भव है कि उस वस्तु के क्रेता-विक्रेता किसी पूरे जिले भर में फैले हों और उस जिले भर के क्रेताओं-

विक्रेताओं की आपसी प्रतियोगिता के कारण समस्त जिले भर में उस वस्तु की एक ही कीमत हो। इस अवस्था में उस वस्तु का बाजार उस जिले तक सीमित रहेगा। इसी प्रकार किसी वस्तु का बाजार किसी देश के प्रान्त-विशेष तक फैला होगा यदि उस वस्तु के खरीदने और बेचनेवाले प्रान्त भर में पाए जाते हों और उनमें ऐसी स्पर्धा हो कि समस्त प्रान्त में उस वस्तु की एक ही कीमत हो। यह भी सम्भव है कि किसी वस्तु के क्रेता-विक्रेता किसी देश भर में हों या समस्त दुनिया में फैले हों। किन्तु यदि उन क्रेताओं-विक्रेताओं में ऐसी स्पर्धा न हो कि समस्त देश या दुनिया में उसकी एक ही कीमत (price) हो तो ऐसी दशा में उस वस्तु का 'बाजार' उस पूरे देश या दुनिया तक फैला नहीं कहा जायगा। उससे बोध उस देश के उसी भाग या दुनिया के उसी हिस्से से होगा जहाँ क्रेताओं-विक्रेताओं के आपसी प्रतियोगिता के कारण उस वस्तु की एक ही कीमत हो। इससे यह निश्चित हुआ कि किसी वस्तु की कीमत उसके बाजार में एक ही होती है। **अतः किसी वस्तु के 'बाजार' का अर्थ किसी स्थान-विशेष से नहीं होता जहाँ उस वस्तु की खरीद-बिक्री होती है बल्कि उस समस्त भू-भाग से होता है जहाँ उसके क्रेता-विक्रेता पाए जाते हैं तथा उनकी पारस्परिक स्वतंत्र स्पर्धा के कारण उसकी एकही कीमत होती है।**

बाजार का क्षेत्र

'बाजार' का अर्थ समझ लेने के बाद हमें उसके क्षेत्र की समस्या की ओर ध्यान देना है। ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि

प्रत्येक वस्तु का बाजार अलग अलग होता है। यह भी बिल्कुल सही है कि किसी वस्तु का बाजार छोटा होता है तो किसी वस्तु का बाजार बड़ा होता है। बाजार का छोटा-बड़ा होना ही उसके क्षेत्र की समस्या है। इस पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। इसका एक पहलू यह है कि **सामान्य तौर पर बाजार का विस्तृत होना किन किन बातों पर निर्भर करता है।** इसमें हम किसी वस्तु विशेष का ख्याल नहीं करते बल्कि उन बाह्य कारणों को समझने की चेष्टा करते हैं जिनके होने या न होने से किसी भी वस्तु के बाजार के क्षेत्र पर प्रभाव पड़ता है। **इसका दूसरा पहलू यह है कि किसी वस्तु विशेष में किन किन विशेषताओं के होने या न होने पर उसके बाजार का क्षेत्र निर्भर करता है।** यहाँ हमें जिस किसी वस्तु के बाजार के क्षेत्र के सम्बन्ध में विचार करना होगा उसके आकार (size) के सम्बन्ध में निर्णय देते समय यह भली भांति देखना होगा कि उसमें कतिपय विशेषतायें हैं या नहीं। यदि वे विशेषतायें उसमें होंगी तो उसका बाजार विस्तृत होगा और यदि उसमें उनका अभाव होगा तो उसका बाजार तंग (narrow) होगा। आइये अब इन दोनों विचार दृष्टियों से बाजार के क्षेत्र को समस्या पर बारी बारी से दृष्टि डालें।

प्रथम दृष्टिकोण—इस सम्बन्ध में सर्व प्रथम उल्लेखनीय चीज यातायात और संवादवाहन के साधनों (means of transport and communication) की वृद्धि है। इन साधनों की वृद्धि के साथ वस्तुओं के बाजार का क्षेत्र विस्तृत होता चला जाता है। अच्छी सड़कों, सस्ती रेलों, सुरक्षित

आप से चलने वाली जहाजों, टेलीफोन इत्यादि की सुविधाओं की अधिकता की दशा में वस्तुओं का बाजार अधिक व्यापक होता है तथा इनके अभाव में बाजार बहुत ही सीमित होता है। इन सुविधाओं के कारण विस्तृत भू-भाग में फैले हुए क्रेताओं विक्रेताओं को वस्तुओं की वर्तमान और भावी क़ीमत के सम्बन्ध में विश्वसनीय सूचना सुगमता से प्राप्त हो जाती है तथा वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने में बहुत ही कम समय लगता है। इन सुविधाओं की अनुपस्थिति में वस्तुओं के स्थान परिवर्तन में अधिक समय तो लगता ही है। इसके अलावे उसमें अपेक्षाकृत अधिक व्यय होता है, परेशानी अधिक होती है और उसमें विशेष खतरा या जोखिम भी होता है। इन सबका नतीजा यह होता है कि अधिकांश वस्तुओं का बाजार उनके उत्पादन के स्थानों के इर्द गिर्द तक ही सीमित रह जाता है। पहले जब इन सुविधाओं की वृद्धि नहीं हुई थी माल के एक स्थान से दूसरे स्थान में भेजने में विशेष खर्च पड़ता था तथा विभिन्न स्थानों के बाजार-भाव का कुछ पता न होने के कारण पास ही पास के स्थानों पर वस्तुओं की कीमत में बहुत अन्तर पाया जाता था। आजकल इनकी वृद्धि के कारण अधिक व्यापक क्षेत्र के क्रेताओं विक्रेताओं को आपसी स्वतन्त्र स्पर्धा के लिए अवसर प्राप्त हो गया है। यही कारण है कि प्राचीन समय से आजकल प्रत्येक वस्तु के बाजार का क्षेत्र बहुत ही बढ़ गया है।

वस्तुओं के बाजार के विस्तृत होने के लिए दूसरी सामान्य आवश्यक चीज़ देश में शान्ति, और सुरक्षा का होना है। यदि चोरी, डकैती या धोखेबाजी के सम्बन्ध में शासन के सुप्रबन्ध के कारण क्रेताओं और विक्रेताओं को किसी प्रकार की चिन्ता

न हो तथा साखदाताओं (creditors) के हक और अधिकार का सरकारें तथा उनके कर्मचारी समुचित ख्याल रखते हों तो व्यापारी लोग अपना माल दूर से दूर स्थान में भेजने तथा वहाँ से माल मँगाने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं करेंगे। अतः व्यावसायिक सच्चाई तथा ईमानदारी और शासन-प्रदत्त सुरक्षा वस्तुओं के बाजार को विस्तृत बनाने के लिए बहुत ही जरूरी होती हैं।

अन्तिम चीज, जिसका विशेष प्रभाव वस्तुओं के बाजार के क्षेत्र पर पड़ता है, देश के अन्दर उत्तम प्रकार की बैङ्क-व्यवस्था की वृद्धि तथा साख की सुविधाओं का होना है। व्यापारिक दुनिया में साख की जितनी ही अधिक व्यापक सुविधायें प्राप्त होंगी तथा जितने ही अधिक ठोस और आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली तथा विश्वसनीय बैङ्क होंगे उतनी ही अधिक मात्रा में वस्तुओं के बाजारों को विस्तृत होने की निश्चित सम्भावना और प्रवृत्ति होगी।

इनके अतिरिक्त अन्य बातें जिनका विशेष प्रभाव पड़ता है निम्नलिखित हैं—विज्ञापन के साधन, मेलों का लगना (fairs), समय समय पर प्रदर्शनियों का होना। इनके द्वारा वस्तुओं के क्रेताओं को उनके विभिन्न उत्पादन-क्षेत्रों की पूरी जानकारी हो जाती है।

दूसरा दृष्टिकोण—अब हमें उन कतिपय विशेषताओं का उल्लेख करना है जिनका होना किसी वस्तु-विशेष के बाजार के क्षेत्र को व्यापक या विस्तृत बनाने के लिए आवश्यक होता है। वे विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

वस्तु-विशेष की माँग की सार्वभौमिकता (universality of demand of the commodity)—जिन वस्तुओं

की माँग सार्वभौमिक होती है (अर्थात् दुनिया के सब देशों के निवासियों द्वारा जिनकी माँग की जाती है) उनका बाजार बहुत विस्तृत होता है। सोना, चाँदी, रूई, चोनी इत्यादि वस्तुओं की माँग दुनियाँ के प्रत्येक देश से की जाती है। अतः उनका बाजार अन्तर्राष्ट्रीय है। बहुत-सी भारतीय वस्तुएँ जैसे जूट और उसकी बनी वस्तुएँ, रूई, चमड़ा इत्यादि दुनिया के विभिन्न देशों द्वारा माँगी जाती हैं और उनका अन्तर्राष्ट्रीय बाजार है। धोतियाँ और साड़ियाँ सार्वभौमिक उपभोग की वस्तुएँ नहीं हैं। उनकी माँग केवल हमारे देश तक सीमित है। अतः उनका बाजार केवल राष्ट्रीय ही है। गाँव के बढ़ई या कुम्हार या अन्य कारीगरों द्वारा बनाई वस्तुओं का बाजार केवल स्थानीय होता है, क्योंकि उन वस्तुओं की माँग केवल कुछ गाँवों तक ही सीमित होती है। इससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि वस्तु की माँग जितनी अधिक होगी तथा जितने ही अधिक देशों के निवासियों द्वारा जिसकी माँग की जायगी उसका बाजार उतना ही अधिक विस्तृत होगा।

दूसरी मुख्य विशेषता जो किसी वस्तु में उसके बाजार-क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए नितान्त आवश्यक होती है, यह है कि वह वस्तु ऐसी हो कि वह सुगमता से तथा कम व्यय में एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जा सके। यह तभी सम्भव है जब कि वह वस्तु बोझ के हिसाब से काफी कीमती हो। जो वस्तुएँ वजन या बोझ में बहुत भारी होती हैं किन्तु उनकी कीमत बहुत कम होती है, आसानी से तथा कम खर्चे में एक जगह से दूसरी जगह नहीं भेजी जा सकतीं। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण ईंटों (bricks) का है। वे भारी होने के साथ-साथ कम दाम की होती हैं। अतः दूर तक ले जाने का व्यय वे सहन नहीं कर

सकतीं। यही कारण है कि ईंट जहाँ तैयार होती है वहीं उसकी विक्री तथा खपत भी होती है। उसका बाजार स्थानीय होता है। इसके विपरीत सोना-चाँदी और अन्य कीमती धातुएँ अपने भार की तुलना में बहुत ही अधिक कीमती होती हैं जिसके कारण वे दूर से दूर स्थानों तक भेजे जाने का व्यय बड़ी आसानी से सहन कर सकती हैं। अतः उनका बाजार अन्तर्राष्ट्रीय है।

तीसरी विशेष आवश्यक बात जो किसी वस्तु में उसके बाजार को व्यापक बनाने के लिए जरूरी है वह है उसका टिकाऊपन (durability)। थोड़े समय में खराब या नष्ट हो जानेवाली वस्तुएँ बहुत दूर तक अच्छी दशा में नहीं भेजी जा सकतीं, अतः उनका बाजार भो बहुत ही सीमित होता है। अपेक्षाकृत जल्द नष्ट होनेवाली वस्तुएँ जैसे ताजे फल, हरी तर-कारियाँ, मछली, दूध, माँस इत्यादि का बाजार प्रायः बहुत ही सीमित होता है। किन्तु टिकाऊ वस्तुओं का बाजार अधिक विस्तृत होता है। गेहूँ, जौ, तिलहन (Oil-seeds) इत्यादि के गुण (quality) में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, यदि वे बहुत लम्बे अर्से तक रखी रहें और सुदूर के देशों में भी भेजी जायँ। अतः उनका बाजार बहुत विस्तृत होता है। इस सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय है। यातायात के साधनों की अभूतपूर्व क्षमता (efficiency) तथा सामान बाँधने (packing) आदि के सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिक सुधारों और सुवि-धाओं (e. g. refrigerating vans and cold storage facilities) के कारण गैर-टिकाऊ वस्तुओं का भी बाजार आजकल अधिक विस्तृत हो गया है। यातायात के उत्तमोत्तम साधन के कारण ही हमें काबुल के अंगूर, बम्बई के केलों

आदि का स्वाद घर बैठे मिल जाता है। इन्हीं सुविधाओं के कारण भारत से आम विदेशों को भेजा जाता है जो पहले असम्भव था।

वस्तु की पूर्ति (supply) पर भी उसका वाजार-क्षेत्र निर्भर होता है। जिस वस्तु की पूर्ति बहुत ही सीमित होती है उसका वाजार विस्तृत नहीं हो सकता है। विस्तृत वाजार के लिए वस्तु की पूर्ति (supply) का अधिक होना अनिवार्य होता है।

अन्तिम विशेषता जो वस्तुओं में विस्तृत वाजार के लिए आवश्यक है, यह है कि वस्तुएँ ऐसी हों कि उनका नमूना (sample) दिया जा सके अथवा उनको उत्तम, मध्यम, निकृष्ट आदि आदि भागों में वाँटा जा सके तथा उनके सम्बन्ध में सारा हाल भलीभाँति वताया जा सके। इससे यह लाभ होता है कि दूर-दूर के विक्रेताओं को यह मालूम हो जाता है कि वे किस तरह का माल मोल ले रहे हैं।

इस तरह किसी वस्तु का वाजार-क्षेत्र पाँच वातों पर निर्भर करता है—

(१) उस वस्तु की माँग की व्यापकता
(२) उस वस्तु की वहनीयता (protability)
(३) उस वस्तु का टिकाऊपन (durability)
(४) उस वस्तु की पूर्ति की मात्रा
(५) उस वस्तु की वर्णनीयता (describability)

———

बारहवाँ अध्याय

वस्तुओं की कीमत किस प्रकार निश्चित होती है

'बाजार' शब्द का अर्थशास्त्रीय अर्थ समझाते समय बताया गया था कि प्रत्येक वस्तु की कीमत उसके बाजार में एक ही होती है। अब हमें इस बात पर विचार करना है कि इस कीमत के निर्धारण में कौन-कौन-सी शक्तियाँ काम करती हैं उन्हीं का वर्णन इस अध्याय में होगा।

वस्तुओं की खरीद-बिक्री व्यक्तियों के दो वर्गों द्वारा होती है। एक वर्ग क्रेताओं या खरीदनेवालों का होता है, दूसरा वर्ग विक्रेताओं या बेचनेवालों का होता है। क्रेताओं को वस्तुओं की आवश्यकता होती है और वे रुपया-पैसा देकर उन्हें प्राप्त करना चाहते हैं। विक्रेताओं को रुपए-पैसे की आवश्यकता होती है और अपनी वस्तुओं को देकर उसे प्राप्त करना चाहते हैं। वस्तु की कीमत इन दोनों वर्गों के सौदा करने की सापेक्षिक शक्ति (relative strength) द्वारा निश्चित होती है। यदि क्रेताओं की उस वस्तु की माँग अधिक हुई और विक्रेताओं की उस वस्तु की पूर्ति (supply) माँग की तुलना में कम हुई उस दशा में क्रेताओं में वस्तु के खरीदने के लिए कड़ी प्रतियोगिता होगी। प्रत्येक क्रेता अपनी माँग को पूरा करने के लिए जरूरी मात्रा में उस वस्तु को खरीदने का प्रयत्न करेगा। क्रेताओं की इस प्रतियोगिता के कारण उस वस्तु की कीमत बढ़ जायगी। एक उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए कि कोई मछुआ एक बड़ी टोकरी मछली लेकर किसी गाँव में बेचने के लिए आता है। यदि उस गाँव में मछली खानेवालों की संख्या अधिक हुई तो सब मछली खरी-

दना चाहेंगे। मछली की गाँव-भर की पूरी माँग (demand) उसकी पूर्ति (supply) की तुलना में बहुत कम पड़ेगी। इसका परिणाम यह होगा कि मछली खरीदनेवाले एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करेंगे कि हमें मछली मिल जाय। अतः मछली की कीमत बढ़ जायगी। इसके विपरीत यदि उस गाँव में मछली खानेवाले दो ही चार परिवार हुए तो उस हालत में मछली की माँग बहुत कम होगी। अतः क्रेताओं में किसी प्रकार की स्पर्धा मछली खरीदने के लिए नहीं होगी। फलतः पहले की अपेक्षा उसकी कीमत कम होगी। यह साधारण अनुभव की बात है कि जब किसी वस्तु के ग्राहकों की संख्या अधिक होती है तो उसकी कीमत बढ़ जाती है। इसके विपरीत यदि उसके खरीदनेवाले बहुत थोड़े से व्यक्ति हुए तब उसकी कीमत कम हो जाती है। **इससे यह निष्कर्ष निकला कि वस्तुओं की कीमत तथा खरीदनेवालों की संख्या या उसकी पूरी माँग (total demand) में साधारण या सधा समानुपात होता है। यदि इस वस्तु की पूरी माँग बढ़ जाती है तो उसकी कीमत भी बढ़ जाती है; पूरी माँग में कमी हो जाने पर उसकी कीमत भी घट जाती है।**

यह रहा माँग (demand) का पहलू। अब वस्तु की पूर्ति के पहलू की ओर ध्यान दीजिए। किसी वस्तु की पूर्ति करनेवाले (या जिन्हें संक्षेप में विक्रेता कहते हैं) भी संख्या में न्यूनाधिक हो सकते हैं। विक्रेताओं की संख्या के अधिक होने का तात्पर्य यह है कि बड़ी मात्रा में वस्तु की पूर्ति हो रही है। उनकी संख्या कम होने का अर्थ पूर्ति का कम होना है। अब यदि किसी वस्तु की पूर्ति अधिक हो तो विक्रेताओं में

अपना-अपना माल बेचने के लिए कड़ी प्रतियोगिता होगी। इसका परिणाम यह होगा कि कीमत नीचे चली आएगी। यदि पूर्ति की मात्रा कम है तो विक्रेताओं के इस प्रकार की पारस्परिक प्रतियोगिता का अभाव होगा। अतः वस्तु की कीमत अधिक होगी। पहले का मछुए का उदाहरण फिर लीजिए। यदि कई मछुए टोकरियों में मछली भर-भरकर बेचने के लिए उस गाँव में एक ही समय आ जायँ तो प्रत्येक सबसे पहले मछली बेच देने की कोशिश करेगा। मछली की पूर्ति अधिक हो जाने के कारण उसकी कीमत घट जायगी। ठीक इसी प्रकार यदि मछली की पूर्ति पहले से भी कम हो जाय तो उसकी कीमत बढ़ जायगी। **इससे यह निष्कर्ष निकला कि वस्तुओं की पूर्ति (supply) और उनकी कीमत (price) में व्यस्त या उल्टा समानुपात (inderect proportion) होता है। पूर्ति बढ़ जाने पर कीमत घट जाती है और पूर्ति कम हो जाने पर कीमत बढ़ जाती है।**

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि जब क्रेताओं की संख्या अधिक होती है और फलतः वस्तु की पूरी माँग अधिक होती है तो कीमत अधिक होती है। इसके विपरीत यदि विक्रेताओं की संख्या अधिक हुई और फलतः वस्तु की पूरी पूर्ति अधिक हुई तो कीमत कम होती है। अतः वस्तुओं की कीमत निर्धारण का सामान्य निष्कर्ष निम्नलिखित हुआ :—

वस्तुओं की कीमत उनकी माँग (demand) और पूर्ति (supply) की सापेक्षिक जरूरत (ralative urgency) द्वारा निर्धारित होती है। यदि माँग अधिक है तो क्रेताओं में आपस में होड़ होती है और इसके परिणाम-स्वरूप बेचने-

वालों को अधिक दाम मिलता है। यदि पूर्ति अधिक हुई तो विक्रेताओं में आपस में चढ़ा-बढ़ी होती है और क्रेताओं को कम कीमत पर वस्तुएँ मिलती हैं।

वस्तुओं की कीमत का निर्धारण सामान्यतः ऊपर बताए गए ढङ्ग से होता है। किन्तु कभी-कभी इस सम्बन्ध में अन्य प्रभाव भी काम करते देखे जाते हैं। वस्तुओं की कीमत पर उनकी माँग-पूर्ति की दशाओं के अतिरिक्त उनके **टिकाऊपन का भी प्रभाव** पड़ता है। जल्दी में खराब या नष्ट हो जाने-वाली वस्तुओं की कीमत पूर्ति की कमी की दशा में बहुत अधिक समय तक बहुत ऊँची नहीं रह सकती। मछली या ताजे या हरी तरकारियों को अधिक समय तक नहीं रक्खा जा सकता है। ऐसा करने में उनके खराब हो जाने तथा विक्रेताओं को विशेष क्षति उठाने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। अतः थोड़े ही लाभ पर ऐसी वस्तुओं को विक्रेता बेचने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसके विपरीत जो वस्तुएँ अधिक समय तक रोककर रक्खी जा सकती हैं उनकी पूर्ति की अधिकता के कारण यदि उनकी कीमत बहुत कम हो जाती है तो व्यापारी लोग उसे कुछ समय तक रोक लेते हैं और उस समय की प्रतीक्षा करने लगते हैं जब उसकी माँग अधिक होगी और वे अपेक्षाकृत ऊँची कीमत ग्राहकों से ले सकेंगे।

वस्तुओं की कीमत पर एक और चीज का प्रभाव पड़ता है। यह उस खरीदी जानेवाली वस्तु की मात्रा या वजन है। यह साधारण अनुभव की बात है यदि आप किसी वस्तु को अधिक मात्रा या परिमाण में खरीदें तो आपको यह चीज कुछ सस्ती मिलती है। यदि आप बाजार से केवल एक या दो नारं-गियाँ खरीदें और कोई दूसरा व्यक्ति एक या दो दर्जन नारं-

गियाँ एक साथ खरीदें तो दूसरे व्यक्ति को नारंगी कुछ सस्ती मिलेगी। यदि ४ पैसे में एक नारंगी मिलती है तो एक दर्जन नारंगियाँ सम्भव है दस ही आने में मिल जायँ। इससे और अधिक मात्रा में एक साथ लेने पर उससे भी कुछ कम दाम पर नारंगियाँ मिल सकती हैं।

अन्तिम चीज, जिसका प्रभाव वस्तुओं की कीमत पर पड़ता है, वह है विक्रेताओं का वस्तु विशेष की भावी माँग और पूर्ति का अनुमान। वर्तमान से भविष्य का अनुमान लोग प्रायः लगाया करते हैं। यदि विक्रेताओं को यह मालूम हो जाय कि अमुक कारणों के कारण भविष्य में किसी वस्तु की पूर्ति कम होगी और मांग ज्यों की त्यों बनी रहेगी तो वे अभी से भाव तेज कर देंगे। वे ऐसा क्यों करते हैं? वे सोचते हैं कि यदि भाव तेज हो जाने पर कुछ लोग उस वस्तु को इस समय नहीं खरीदेंगे तो आगे चलकर उससे अधिक दाम पर वे ही या अन्य लोग अपनी आवश्यकताओं के कारण अवश्य खरीदेंगे। इस तरह पहले की कसर पूरी हो जायगी। व्यापार में भविष्य कितना महत्वपूर्ण खेल खेलता है इसका अनुमान सुगमता से नहीं लगाया जा सकता।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि किसी वस्तु की कीमत साधारणतया उसकी माँग तथा पूर्ति की सापेक्षिक जरूरत (relative urgency) द्वारा निर्धारित होता है। किन्तु इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। वस्तु की कीमत के घटने और बढ़ने की भी निश्चित सीमायें होती हैं। ये सीमायें क्या हैं? अब हमें इसी ओर ध्यान देना है।

पहले माँग (demand) के पहलू का विचार कीजिये। कोई किसी वस्तु को क्यों खरीदता है। इसलिए कि उसे उसकी

आवश्यकता होती है। इसी को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि मनुष्य किसी वस्तु को उसकी उपयोगिता के कारण खरीदता है। अतः किसी वस्तु का क्रेता या खरीददार उसके खरीदने में उसकी उपयोगिता का अनुमान लगाता है। उस वस्तु के बदले में उसे आवश्यक द्रव्य देना पड़ता है जो उस वस्तु की कीमत होती है। अतः खरीददार उस वस्तु से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से अधिक कीमत देने के लिए साधारणतया तैयार न होगा। यद्यपि वह भरसक यही प्रयत्न करेगा कि उससे जहाँ तक कम देना पड़े उतना ही ठीक होगा। इस तरह हम देखते हैं कि **वस्तु के खरीदनेवाले कीमत की एक निश्चित सीमा के ऊपर उसे नहीं खरीदेंगे। यह ऊपरी सीमा उस वस्तु की उपयोगिता द्वारा निश्चित होती है। इसे हमें क्रेता द्वारा दी जा सकनेवाली अधिकतम कीमत** (Buyers maximum price) कह सकते हैं।

अब पूर्ति के पहलू पर आइये। जिस प्रकार क्रेता के लिए एक ऊपरी सीमा होती है जिसके बाहर वह किसी वस्तु के खरीदने में नहीं जाता, उसी प्रकार विक्रेताओं के लिए भी एक नीची सीमा होती है जिसके बाहर वे वस्तुओं को बेंचने में नहीं जायेंगे। क्रेता द्वारा दी जा सकनेवाली **अधिकतम कीमत** (maximum price) की भांति विक्रेता की भी एक **न्यूनतम कीमत होती है** जिसे नीची कीमत पर वह वस्तु को कदापि नहीं बेचेगा। अब प्रश्न यह है कि विक्रेता की **न्यूनतम कीमत** (minimum price) की सीमा क्या है। यह **न्यूनतम कीमत** वस्तु के उत्पादन-व्यय (cost of production) द्वारा निश्चित होती है। वस्तु के उत्पादन में लगे व्यय या लागत से कम

बेचने के लिए कोई विक्रेता स्वतः तैयार न होगा क्योंकि इससे उसे घाटा होगा और घाटा उठाना कौन चाहता है। जिस प्रकार दी जानेवाली कीमत के सम्बन्ध में निर्णय करते समय वस्तु का खरीददार उसकी उपयोगिता का अनुमान लगाता है और उस उपयोगिता से अधिक कीमत पर वह वस्तु नहीं लेता, उसी प्रकार ली जानेवाली कीमत के सम्बन्ध में निर्णय करते समय विक्रेता वस्तु के उत्पादन-व्यय का ध्यान रखता है जिससे कम कीमत पर वह वस्तु बेचने के लिए कदापि तैयार न होगा। इसे हम **विक्रेता की न्यूनतम कीमत** (sellers minimum price) **कह सकते हैं। यह वस्तु के उत्पादन व्यय के बराबर होती है जिससे कम कीमत पर कोई विक्रेता अपनी वस्तु बेचने के लिए तैयार न होगा।**

किसी वस्तु की कीमत इन्हीं दोनों ऊपरी और नीची सीमाओं के बीच घटती या बढ़ती रहती है। माँग की अधिकता की अवस्था में वस्तु की कीमत ऊपरी सीमा के समीप होगी। पूर्ति की अधिकता की दशा में कीमत नीची सीमा के सन्निकट होगी। **क्रेता की अधिकतम** (maximum) **और विक्रेता की न्यूनतम** (minimum) **कीमतों द्वारा निर्धारित क्रमानुसार ऊपरी और नीची सीमाओं के अन्दर ही किसी स्थान पर माँग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्ति या जरूरत** (ralative strength or urgency) **के अनुसार वस्तु की कीमत निर्धारित होगी।**

तेरहवाँ अध्याय

ग्रामीण वस्तुओं की बिक्री

गाँवों में खेती तथा अन्य घरेलू उद्योग-धन्धों से उत्पन्न वस्तुओं के उत्पादन-सम्बन्धी बातों का उल्लेख पहले के कुछ अध्यायों में किया जा चुका है। अब हमें उन पदार्थों की बिक्री किस प्रकार होती है, इनके उत्पादकों को उनकी बिक्री में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है तथा वे कैसे दूर की जा सकती हैं इत्यादि बातों की ओर ध्यान देना है। इस अध्याय में ग्रामीण वस्तुओं की बिक्री तथा उससे सम्बन्धित समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

ग्रामीण वस्तुओं को दो श्रेणियों में रक्खा जा सकता है। प्रथम श्रेणी कृषि-जन्य पदार्थों की होगी। द्वितीय श्रेणी दस्तकारियों की वस्तुओं की होगी। इन दोनों श्रेणियों की वस्तुओं की बिक्री का अलग-अलग विचार बारी-बारी से किया जायगा।

कृषि-जन्य पदार्थों की बिक्री

कृषि-जन्य पदार्थों की बिक्री के विभिन्न तरीकों के वर्णन के पहले उसके सम्बन्ध में कतिपय बातों का उल्लेख वर्तमान स्थिति को समझने के लिए आवश्यक है। हमारे देश में अब तक किसानों के नाज-विक्रय का समुचित और सन्तोषजनक प्रबन्ध नहीं है। इस विषय में भारत अन्य उन्नत देशों की अपेक्षा अभी बहुत पीछे है। सबसे पहली चीज जो इस सम्बन्ध में स्मरणीय यह है कि साधारण भारतीय किसान अपना अन्न बेचने के लिए स्वतन्त्र नहीं होता। वह जिसके हाथ चाहे उसके हाथ अपना माल नहीं बेच सकता। क्यों ? कारण भी स्पष्ट है। औसत भारतीय किसान महाजन के ऋण-बोझ से लदा होता है। वह उसके चंगुल में इस प्रकार फँसा होता

है कि उसे मुक्ति का कोई मार्ग ही नहीं सूझता। उसकी अशिक्षा भी उसकी विवशता को और अधिक बढ़ा देती है। इसके अलावे अन्य प्रकार की साख-सुविधाओं (credit facilities) की अपेक्षाकृत अपर्याप्तता तथा अभाव के कारण महाजन के द्वार के अलावा उसे अन्य सब दरवाजे बन्द ही मिलते हैं। ग्रामीण महाजन उनकी इस विवसता का अनुचित लाभ उठाता है। वही उनकी सब आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। रुपए-पैसे की आवश्यकता होती है तो सूद पर रुपया उधार देता है। अन्न की कमी की दशा में खाने के लिए अन्न भी देता है। इस लेन-देन की क्रिया में वह प्रत्येक पग पर भोले-भाले अनपढ़ किसानों को ठगता है। लेन-देन का वही हिसाब रखता है। जब वह अनाज उधार देता है तो बाजार-भाव से अधिक कीमत पर उसका दाम लगाकर कीमत के रुपयों को किसान के नाम लिख लेता है। इस तरह अनाज उधार देते समय दिए जानेवाले अनाज की अधिक कीमत लेता है। किसानों की फसल तैयार होने पर वह रुपयों के बदले अनाज लेता है और इसमें भी उन्हें ठगता है। अनाज के बदले अनाज लेना अनुचित नहीं। किन्तु किस भाव पर ? देते समय बाजार-भाव से अधिक कीमत पर देता है और लेते समय बाजार-भाव से कम कीमत पर लेता है। देते समय अधिक कीमत पर देकर अपने नाज की कीमत बढ़ा लेता है और लेते समय उतने रुपए में बाजार-भाव से कुछ सस्ता लेने के कारण बहुत अधिक अनाज किसानों से वसूल करता है। इस तरह बेचारे किसानों का दोनों ओर से घाटा होता है।

दूसरी चीज, जिसका उल्लेख महत्वपूर्ण है, यह है कि जो किसान महाजनों के हाथ अपना अनाज नहीं बेचते बल्कि व्यापारियों के हाथ बेचते हैं उनकी भी दशा कोई अच्छी नहीं

होती। उनको भी अपनी वस्तुओं की उचित कीमत प्राप्त नहीं होती। इसका मुख्य कारण है उत्पादकों और उपभोगकर्ताओं के बीच आवश्यकता से अधिक मध्यवर्ती व्यक्तियों का आ जाना। इस स्थिति का अनुमान लगाने के लिए भारतीय केन्द्रीय कपास समिति (Indian central Cotton committee) द्वारा कृषि-कमीशन (agriculture commission) को दिया हुआ स्मृति-पत्र (memorandum) का, जिसमें उसने यह बतलाया था कि कपास पैदा करनेवाले किसानों और रूई के उपभोक्ताओं के मध्य में कितने व्यक्ति आ जाते हैं, निम्नलिखित चित्र दिया जाता है—

कपास पैदा करनेवाला

(बायाँ क्रम)	(मध्य क्रम)	(दायाँ क्रम)
गाँव का व्यापारी		गाँव का व्यापारी
बाजार दलाल के द्वारा		मध्यवर्ती पुरुष (एक या अधिक)
मध्यवर्ती पुरुष (एक या अधिक)		कमीशन एजेन्ट
बम्बई के कमीशन एजेन्ट (एक या अधिक)		निर्यात करनेवाला या मिल का व्यापारी
निर्यात करनेवाला या मिल का व्यापारी	निर्यात करनेवाला या मिल के लिए खरीदनेवाला या व्यापारी का एजेन्ट	
	निर्यात करनेवाला या मिल का व्यापारी	
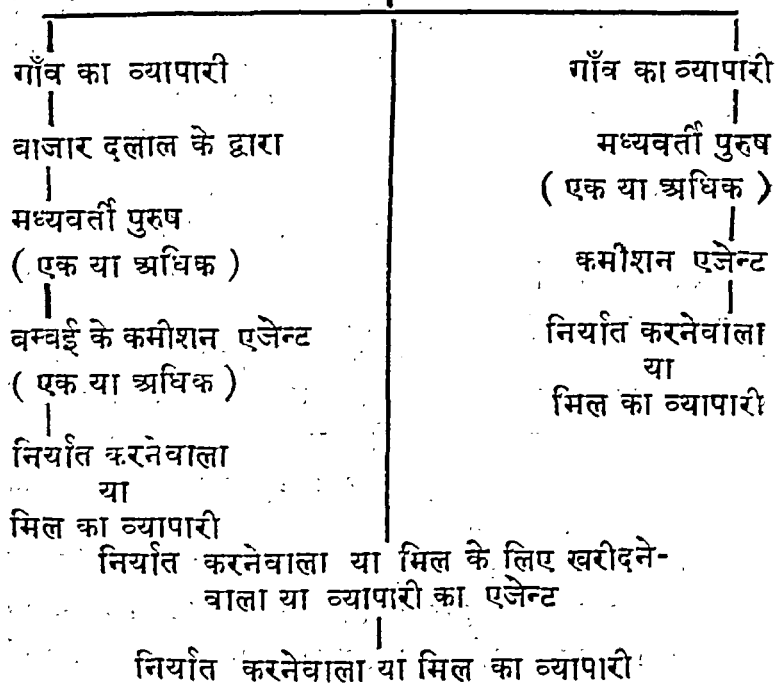
जैसा कि इस चित्र से स्पष्ट है, बीच में पड़नेवालों की संख्या बहुत अधिक है। इन मध्यवर्तियों के कारण वस्तु का मूल्य बहुत बढ़ जाता है। किन्तु इससे बेचारे किसान को कोई लाभ नहीं। मध्यवर्ती पुरुष भोले भाले किसानों को प्रत्येक अवसर पर ठगने की कोशिश करते हैं और ठगते हैं।

एक दूसरी आपत्तिजनक चीज तौल के बाटों की है। जिस बाट से तौलकर व्यापारी अनाज खरीदते हैं वे भी गड़-बड़ होते हैं बाटों में गड़बड़ी तो होती है। तौलने में भी काफी गड़बड़ी होती है। इन सबका फल बेचारे किसान को भुगतना पड़ता है।

किसानों को अपनी वस्तुओं के बेचने में एक और तरह से विशेष घाटा होता है। प्रत्येक कार्य-कुशल व्यक्ति समुचित लाभ उठाने के लिए अपने माल को उस समय बेचना पसन्द करेगा जब उसकी माँग अधिक हो और पूर्ति कम हो ताकि उसे वस्तु को अच्छी कीमत मिल सके। किन्तु भारतीय किसान यह भी करने में असमर्थ होता है। किसान के लिए वर्तमान परिस्थिति में फसल तैयार होने के बाद ही उसे बेच देने की सख्त जरूरत होती है। उस समय पूर्ति अधिक होने के कारण बाजार-भाव नीचा होता है। किन्तु किसान दो-चार महीने अनाज को लिए ऊँची कीमत की प्रतीक्षा में बैठा नहीं रह सकता। प्रश्न उठता है क्यों? इसके भी कई कारण हैं। सर्वप्रथम उसके पास अनाज को सुरक्षित दशा में रखने के लिए आवश्यक जगह और सुविधा नहीं होती। दूसरा कारण यह है कि किसान को भूमि का लगान, ऋण लिए हुए धन का सूद आदि चुकाना होता है। इसके अतिरिक्त अन्य पारिवारिक आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदनी होती हैं। इन सबके लिए रुपया चाहिए।

अतः अनाज को फसल तैयार होने के बाद ही बेंच देना जरूरी होता है। व्यापारी उनकी इस स्थिति से भली-भाँति परिचित होते हैं और इसका अनुचित लाभ उठाते हैं। किसानों को उनकी अशिक्षा और अज्ञानता के कारण बाजार-भाव का भी कोई अच्छा ज्ञान नहीं होता। इन सबका नतीजा यह होता है कि उसे अपनी कमाई का उचित दाम नहीं मिलता।

ऊपर के विवेचन से कृषिजन्य पदार्थों की बिक्री-सम्बन्धी सामान्य त्रुटियों का अनुमान लग जाता है। अब हमें बिक्री के विभिन्न तरीकों का वर्णन करना है।

बिक्री के मुख्य तरीके

साधारणतया फसलों के बेचने के तीन मुख्य तरीके प्रचलित हैं:—

(१) गाँव के महाजन के हाथ बेचना;

(२) व्यापारी के हाथ बेचना; और

(३) मण्डी में बेचना।

महाजन के हाथ फसल बेचना

इसका वर्णन इस अध्याय के प्रारम्भ में दिया जा चुका है। इस तरीके की मुख्य त्रुटियाँ निम्नलिखित है—(१) किसान महाजन से जो रुपया उधार लेता है उस पर बहुत अधिक सूद उसे चुकाना होता है। व्याज-दर इतनी अधिक होती है कि साधारण किसान के लिए हर साल व्याज चुकाना ही कठिन होता है। (२) दूसरी बड़ी त्रुटि यह है कि महाजन रुपया या अनाज उधार देते समय यह शर्त लगा देता है कि फसल के तैयार होते ही किसान उसके हाथ बेच देगा। इससे उसे अपनी फसल की उचित क़ीमत नहीं मिलती।

व्यापारी के हाथ फसल बेंचना

जिन किसानों की आर्थिक स्थिति बहुत खराब नहीं होती और जो महाजनों के चंगुल में बुरी तरह फँसे नहीं होते वे अपना माल कभी-कभी व्यापारियों या उनके एजेन्टों के हाथ वेचते हैं। फसल के तैयार होते ही ये व्यापारी या उनके एजेण्ट देहातों में जाते हैं और किसानों से सस्ते दाम पर अनाज खरीदते हैं। वे माल खरीदने में किसानों की बाजार-भाव सम्बन्धी अज्ञानता का विशेष लाभ उठाते हैं। खरीदे हुए माल को व्यापारी लोग बड़े बड़े शहरों में ले जाकर थोक व्यापारियों (wholesale dealers) के हाथ ऊँचे दर पर बेच देते हैं। व्यापारी मध्यवर्ती व्यक्ति (middleman) है जो अनपढ़ और भोलेभाले किसानों को ठगता है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि इनका बिल्कुल अन्त ही कर देना चाहिए। कुछ लोगों की राय है कि देश की वर्तमान परिस्थिति में इनका अन्त कर देना श्रेयस्कर नहीं सिद्ध होगा। वे लोग भी इन व्यापारियों द्वारा किये जाने वाले किसानों के शोषण (exploitation) को स्वीकार करते हैं। किन्तु उनका यह कहना है कि व्यापारी समाज की महत्वपूर्ण सेवा भी करता है। श्री वृजगोपाल भटनागर की "ग्रामीण अर्थ-शास्त्र" नाम की पुस्तक के पृष्ठ ११८-११६ के निम्नलिखित वाक्यों से इस विचार धारा के विद्वानों का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है—"स्थान-स्थान के बीच में माँग और खपत का पता लगाना, एकत्रित करना तथा उन दोनों का संचालन करना अत्यन्त सूक्ष्म तथा बुद्धिमानी के काम हैं। जो लोग अपना जीवन व्यापार में ही बिता देते हैं ऐसे कुशल व्यापारियों के बिना इन कामों को कोई दूसरा नहीं समझ सकता। अन्य देशों की अपेक्षा तो ये काम भारत में और भी

कठिन है क्योंकि यहाँ आवागमन के साधन बहुत खराब रहते हैं और वस्तुओं का उत्पादन बहुत से ऐसे छोटे छोटे किसान के हाथ में रहता है जो बहुत गरीब होते हैं और जो बेचने के लिए अपनी उपज को काफी समय तक रोक नहीं सकते। इससे इन बीच के व्यापारियों की बड़ी भारी आवश्यकता होती है।" अतः इस सम्प्रदाय के विचारकों का कहना है कि इनका अन्त न किया जाय बल्कि उनकी हरकतों पर कड़ा नियन्त्रण लगा दिया जाय जिससे वे किसानों को अनुचित प्रकार से ठग न सकें।

मण्डी में फसल का बेचना

साधारणतया कुछ अच्छी स्थिति वाले किसान कभी-कभी अपना माल मण्डियों में ले जाकर बेचते हैं। मण्डी किसे कहते हैं? यह जान लेना इस सम्बन्ध में और कुछ लिखने के पहले जरूरी है। गाँवों के निकटवर्ती शहरों और कस्बों में अनाज के व्यापारियों का बाजार होता है जहाँ से शहर वाले अन्न खरीदते हैं तथा देहात से लोग अपना अनाज बैलगाड़ियों, ऊँटों और अन्य जानवरों पर लाद कर लाते हैं और व्यापारियों के हाथ बेचते हैं। अतः मण्डी से तात्पर्य शहर या कस्बों के उस भाग से होता है जहाँ वस्तु विशेष के अधिकांश दूकानदार होते हैं और उस वस्तु की खरीद-बिक्री होती है। प्रत्येक वस्तु की अलग अलग मण्डी होती है। अनाज की मण्डी में विभिन्न प्रकार के अनाजों—गेहूँ, जौ, ज्वार, बाजरा, चना, चावल, दाल इत्यादि ही की बिक्री होती है। सब्जी मण्डी में केवल विभिन्न तरह की शाक-भाजियाँ और तरकारियों की खरीद-बिक्री होती है।

महाजन के हाथ या व्यापारी के हाथ फसल बेचने की तरह मण्डी में भी फसल बेचने में कई त्रुटियाँ हैं जिनके

कारण किसान को अपने अनाज की उचित कीमत नहीं मिलती। जो लोग मण्डियों में अनाज बेचने को ले जाते हैं उन्हें चुङ्गी देनी पड़ती है। चुङ्गी के अलावे किसान को मण्डी में गाड़ी ठहराने का शुल्क देना पड़ता है। मण्डी में भी दलाल होता है जिसको दलाली देनी होती है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि जो अपना अनाज मण्डी में बेचने के लिए ले जाते हैं वे पहले किसी दलाल के पास जाते हैं। दलाल का काम मण्डी के सब व्यापारियों को बुला देना है। व्यापारी वर्ग इकट्ठा होने पर माल देखकर बोली बोलता है। सबसे ऊँची बोली पर सारा माल बेच दिया जाता है। इस काम के लिए दलाल को दलाली मिलती है। दलाली से ही केवल किसान का पिण्ड नहीं छूटता। और भी कई तरह के भुगतान करने होते हैं। किसान को कुछ रकम माल उतारने वाले को, कुछ माल तौलने वाले को तथा कुछ भिश्ती और मेहतर के लिए देना पड़ता है। इसके अलावे अनिवार्य रूप से गौशाला, धर्मशाला, मन्दिर आदि के नाम पर किसानों से दान लिया जाता है। इस तरह से बेचने वाले किसान की खासी अच्छी रकम निकल जाती है। इस त्रुटि के अलावे दूसरी बड़ी त्रुटि यह है कि इन मण्डियों में अनाज तौलने वाले बड़े ही धूर्त होते हैं। वे तौलने में बड़ी गड़बड़ी करते हैं। वे डण्डी मारने का काम इतनी दक्षता के साथ करते हैं कि बेचारा किसान कुछ नहीं समझता। प्रायः जो तौलने वाला डण्डी मारने में जितना ही अधिक कुशल होता है उसे उतना ही अधिक वेतन मिलता है। दलाल भी बड़ा ही धूर्त व्यक्ति होता है। वास्तव में वह व्यापारियों से मिला होता है, किन्तु वह किसान से तरह-तरह की मीठी और चिकनी-चुपड़ी बातें करता है मानों उससे बढ़कर

किसान का दूसरा हितैषी दुनिया में नहीं है। वह अपनी बातों में किसान को फुसला कर सस्ते दाम पर अनाज व्यापारी के हाथ विकवा देता है। और किसान अपनी वस्तु की उचित कीमत नहीं प्राप्त कर पाता।

ऊपर के वर्णन से बिलकुल स्पष्ट है कि किसान चाहे अपना माल महाजन के हाथ वेचे या व्यापारी के हाथ वेचे या मण्डी में ले जाकर वेचे, किसी भी दशा में उसे अपनी चीज की उचित कीमत नहीं मिलती। प्रत्येक पग पर वह ठगा जाता है। उसकी अशिक्षा और अज्ञानता का सब फायदा उठाते हैं।

ग्रामीण दस्तकारियों की वस्तुओं की बिक्री

कृषि-जन्य पदार्थों की बिक्री के सम्बन्ध में जिन त्रुटियों पर प्रकाश डाला गया है वे सब त्रुटियाँ दस्तकारियों की वस्तुओं की बिक्री के सम्बन्ध में भी मोटे दर से सही हैं। ग्रामीण शिल्पी और कारीगर की भी बहुधा यही दशा है जो किसान की है। बढ़ई, लोहार, कुम्हार, तेली, मोची या जूता बनाने वाला, रस्सी बनाने वाला, जुलाहा, टोकरी बनाने वाला इत्यादि प्रमुख ग्रामीण कारीगरों के उदाहरण हैं। इनका वर्णन ग्रामीण उद्योग-धन्धों वाले अध्याय में किया जा चुका है। इन कारीगरों को अपनी बनाई हुई वस्तु के वेचने में बड़ी असुविधाएँ होती हैं। इन वस्तुओं के वेचने के दो तरीके हैं—

(१) गाँव में ही वस्तुओं को वेच देना।

(२) शहर में ले जाकर वेचना।

अधिकांश कारीगर अपनी वस्तु को गाँव में ही वेच देने का प्रयत्न करते हैं। जो शहर में ले जाकर वेचते हैं उनको दाम तो कुछ अधिक मिलता है अवश्य, किन्तु परेशानी भी

काफी होती है। सर्वप्रथम उन्हें शहर जाने और वापस आने का कष्ट उठाना पड़ता है। इस कार्य में उन्हें अपेक्षाकृत अधिक समय खर्च करना पड़ता है। शहर में जाने पर भी उन्हें घूम-घूमकर खरीददार तलाश करना और माल वेचना पड़ता है। गाँव के महाजन और कारीगर इस स्थिति से भली-भाँति परिचित होते हैं तथा इसका अनुचित लाभ उठाते हैं।

इन कारीगरों की तैयार की हुई सब वस्तुओं की विक्री गाँव में नहीं हो पाती। अतः वे समय-समय पर लगने वाले मेलों या हाटों में भी जाकर अपना माल वेचने का प्रयत्न करते हैं। इन कारीगरों की दशा इस सम्बन्ध में किसानों की दशा से कुछ अच्छी होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि कारीगर घूम-घूमकर अपना माल वेच सकता है, किन्तु किसान ऐसा नहीं कर जकता। क्यों? कारीगरों का माल आसानी से लेकर आदमी इधर-उधर घूम सकता है जो किसान के अनाज के लिए सम्भव नहीं है।

कृषि-जन्य तथा ग्रामीण उद्योग-धन्धों की वस्तुओं की विक्री की वर्तमान स्थिति तथा तरीकों के वर्णन के पश्चात् अब हमें आवश्यक सुधारों की समस्या की ओर ध्यान देना है।

विक्री सम्बन्धी सुधार के उपाय

ऊपर के विवेचन से किसान तथा कारीगर की तैयार वस्तुओं की विक्री के प्रचलित तरीकों में सुधार की तीव्र और कड़ी आवश्यकता है स्पष्ट हो जाता है। निम्नलिखित ढंग के आवश्यक सुधारों से किसानों तथा कारीगरों की आर्थिक दशा में सन्तोषजनक परिवर्तन लाया जा सकता है—(१) किसानों और कारीगरों में अशिक्षा और अज्ञान का साम्राज्य फैला

हुआ है उसको समूल नष्ट करना होगा। इन्हें क्रय-विक्रय सम्बन्धी आवश्यक बातों की जानकारी करानी होगी। यह बिल्कुल निश्चित बात है कि यदि किसान को बाजार-भाव का सम्यक् ज्ञान रहे तो वह कम कीमत पर अपने माल को बेचने के लिए कदापि तैयार न होगा। बाजार-भाव के ज्ञान के साथ-साथ उन्हें यह भी भली-भाँति मालूम होना चाहिये कि उनकी वस्तुओं के विभिन्न बाजार कहाँ-कहाँ हैं ताकि आवश्यकतानुसार वे अपने माल को वहाँ भेज सकें और स्थानीय बाजार में ही बेचने के लिए विवश न रह जायँ। जब इन सब बातों की जानकारी किसानों और कारीगरों को हो जायगी तब वे चतुर व्यापारियों के सामने सौदा करने में धोखा नहीं खायेगें।

(२) **यातायात के साधनों की वृद्धि** भी बिक्री में पर्याप्त सुधार करने के लिए बहुत ही आवश्यक है। इस सम्बन्ध में आजकल की बीसवीं शताब्दी में भी हमारे देश की दशा अत्यन्त शोचनीय है। हमारे गाँव शहरों से कच्ची सड़कों और पगडण्डियों द्वारा जुड़े हुए होते हैं। वर्षा के ऋतु में तो इन पर पानी और कीचड़ इस तरह जमा रहता है कि उस पर से कोई बैलगाड़ी, या अन्य बोझ ढाने की सवारी निकल ही नहीं सकती। इस मौसिम में तो गाँव-शहरों से प्रायः माल लाने और ले जाने के ख्याल से बिल्कुल अलग हो जाते हैं। इस स्थिति का जितनी जल्दी अन्त हो जाय उतना ही अच्छा हो। इसके लिए हमें सड़क-निर्माण की एक रचनात्मक योजना तैयार करके शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित करनी होगी। प्रत्येक गाँव को मण्डियों से जोड़ना होगा। इसके लिए पक्की सड़कों का निर्माण करना होगा ताकि बारहों महीने माल का लाना-भेजना सम्भव हो सके। यह भी स्मरण रहे कि गाँवों में सबके

पास बैलगाड़ी, ऊँट या बोझ ढोनेवाले अन्य जानवर भी तो नहीं होते। पक्की सड़कों के बन जाने से मोटर-लारी द्वारा सामान एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने का समुचित और अपेक्षाकृत सस्ता प्रबन्ध किया जा सकता है। देश की स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीय सरकार की स्थापना से इस कमी की जल्द से जल्द पूर्ति हो जाने की आशा करनी चाहिए। सन्तोष की बात है कि हमारी प्रान्तीय सरकारें इस प्रश्न की ओर ध्यान दे रही हैं। किन्तु फिर भी यह कह ही देना पड़ता है कि स्थिति में अभी कोई प्रशंसनीय परिवर्तन नहीं हो पाया है। प्रान्तीय सरकारों को इस दिशा में तीव्र गति से चलने की आवश्यकता है। जिस गति से वे काम कर रही हैं उससे पर्याप्त सुधार होने में बहुत विलम्ब होगा। अतः उन्हें अपनी रफ्तार बढ़ानी होगी।

(३) तीसरा महत्वपूर्ण कार्य जो ग्रामीण पदार्थों की बिक्री की स्थिति सुधारने के लिए करना होगा, वह है किसानों और कारीगरों के लिए आवश्यक **रुपए-पैसे की समुचित व्यवस्था करना** ताकि महाजनों के चंगुल से उन्हें छुड़ाया जा सके। सहकारी साख-समितियों (co-operative credit societies) की स्थापना प्रत्येक गाँव में करनी होगी जिससे किसानों और कारीगरों को अपने काम के लिए आवश्यक रुपया कम सूद पर उधार मिल सके। जब तक यह सब जगह नहीं हो जाता तब तक इन साहूकारों और महाजनों की दी गई साख-सुविधाओं का प्रयोग किया जाय किन्तु इनकी आपत्तिजनक हरकतों पर कड़ा नियन्त्रण स्थापित किया जाय जिससे वे किसानों और कारीगरों का शोषण (exploitation) न कर सकें। यह काम सरकारी छत्रछाया में ही हो सकता है।

सरकार को इसके लिए आवश्यक कर्मचारियों की नियुक्ति करनी होगी जो सरकार द्वारा लगाए गए नियन्त्रण को कार्यान्वित करने के लिए उत्तरदायी होंगे। मण्डियों में प्रचलित बाटों की प्रामाणिकता तथा वस्तुओं के तौलने वालों की नाजायज हरकतों की ओर भी इन अफसरों और कर्मचारियों को ध्यान देना होगा। व्यापारियों के मस्तिष्क में यह बात अच्छी तरह से बैठा देनी है कि वे अपने परिश्रम का उचित लाभ लेते हुए किसानों और कारीगरों से मिलकर काम करें। इन व्यापारियों की हरकतों पर सफल नियन्त्रण स्थापित करने के लिए सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति के अलावे समितियों की स्थापना करनी होगी। इन समितियों का मुख्य काम व्यापारियों की बेईमानी की हरकतों को दूर करने के लिए उपायों को सोचना और कार्यान्वित करना होगा।

(४) इस सम्बन्ध में चौथा मुख्य काम गोदामों (stores) की सुविधा का प्रबन्ध किसानों के लिए करना है। किसान को अपना अनाज सुरक्षित दशा में रखने के लिए उपयुक्त जगह नहीं होती। इस कारण जो किसान फसल तैयार हो जाने के बाद अपने गल्ले को आर्थिक कारणों से बेचने के लिए विवश नहीं होते वे भी इस कारण से विवश होकर बेच देते हैं। उन्हें डर रहता है कि अनाज कहीं खराब न हो जाय। इसलिए गोदामों की स्थापना से कृषि-जन्य पदार्थों की बिक्री में बहुत कुछ सुधार किया जा सकता है।

(५) पाँचवाँ महत्वपूर्ण उपाय सहकारी विक्रय समितियों (co-operative sale societies) की स्थापना है। प्रत्येक बड़े

गाँव में एक सहकारी विक्रय समिति की स्थापना हो जाय तो बिक्री-समस्या बहुत अंशों में हल हो सकती है। गाँव के छोटे-बड़े सब किसान और कारीगर समिति के सदस्य हो सकते हैं। समिति किसानों की फसल को उचित दाम पर खरीदती और फिर अधिक से अधिक कीमत पर बेचती है। जो मुनाफा होता है वह सदस्यों में उनकी फसल के परिमाण के अनुसार वितरित कर दिया जाता है। हमारे देश में भी सहकारी विक्रय समितियों की स्थापना कुछ हिस्सों में हुई है। सबसे अधिक सन्तोषजनक लाभ इस दिशा में कपास के विक्रय में बम्बई जैसे प्रान्तों में हुई है जहाँ अनेक कपास-विक्रय-समितियाँ (cotton sale societies) काम कर रही हैं। गुड़, तम्बाकू, धान, आलू, जूट इत्यादि की बिक्री के लिए भी सहकारी समितियों की स्थापना कुछ हुई है। बङ्गाल में धान-विक्रय की बहुत-सी ऐसी समितियाँ हैं। उनकी एक केन्द्रीय संस्था कलकत्ता है। इसी प्रकार जूट की भी बहुत-सी समितियाँ हैं। हमारे देश में विक्रय-समितियों की स्थापना की दिशा में किए गए प्रयत्नों के बारे में सब कुछ कह लेने के बाद यह मानना ही पड़ता है कि सहकारी विक्रय-समितियों की वृद्धि पर्याप्त संख्या में नहीं हुई है। अब भी हमारे देश के अधिकांश किसान इस दिशा में उतने ही असुरक्षित हैं जितने कि पहले थे। इन समितियों की कमी से बढ़कर उनकी खराब दशा तथा अक्षमता (inefficiency) चिन्ताजनक प्रश्न उपस्थित कर देती हैं। इनका प्रबन्ध प्रायः ठीक नहीं होता, समिति के सदस्यों पर उसका कोई अधिकार नहीं होता, अतः उन्हें वह उनकी वस्तुओं की बिक्री समिति के हाथ करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती, इनके पास प्रायः धन का भी अभाव रहता

है। और भी बहुत से दोष इनमें पाए जाते हैं जिनका वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है। हमें केवल इतना स्मरण रखना है कि यदि हमारा उद्देश्य इस आन्दोलन को सफल बनाना है और इससे किसानों एवं कारीगरों को अधिकतम लाभ पहुँचाना है तो उपर्युक्त त्रुटियों को हटाना नितान्त आवश्यकीय है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की समितियों की पर्याप्त संख्या में वृद्धि की जाय। इन समितियों की स्थापना में एक बात का ख्याल रखना होगा कि महाजन इनके सदस्य न हो सकें। क्यों? कभी-कभी ऐसा देखने में आया है कि महाजनों के सदस्य बन जाने के कारण उनकी अनुचित हरकतों द्वारा ऐसी बहुत-सी समितियाँ नष्ट हो गई हैं।

उपर्युक्त उपायों को यदि अपनाया गया तो किसानों की बिक्री सम्बन्धी असहाय अवस्था का शीघ्र अन्त हो जायगा तथा वर्तमान निर्धन, अनपढ़ और अज्ञानी किसान-कारीगर समुदाय एक सफल व्यापारी मण्डल की शकल में बदल जायगा और वर्तमान व्यापारी मण्डल का सफलता पूर्वक सामना कर सकेगा। किन्तु यह भी तभी सम्भव होगा जब ये सब प्रयत्न एक साथ किए जायँ। यहाँ-वहाँ किसी एक-दो सुधार से समुचित लाभ नहीं होगा। सरकार की इस दिशा में बहुत बड़ी जिम्मेदारी है और उसकी उदासीनता में सफलता प्राप्त करना कठिन है। अतः सरकार को इस ओर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। आशा है, हमारी राष्ट्रीय सरकारें अपने इस उत्तरदायित्व का समुचित ढङ्ग से पालन करके किसानों और कारीगरों की आर्थिक स्थिति में सुधार करेंगी और देश की अर्थनीति (national economy) की नींव को आवश्यक शक्ति प्रदान करेंगी।

चौदहवाँ अध्याय

ग्रामीण बाजार-हाट

ग्रामीण वस्तुओं की बिक्री सम्बन्धी बातों का वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। इस अध्याय में ग्रामीण वस्तुओं के बिक्री के विभिन्न स्थानों का संक्षिप्त वर्णन दिया जायगा। इन स्थानों में निम्नलिखित मुख्य हैं—

ग्रामीण बाजार, हाट और मेला।

ग्रामीण बाजार (village market)

ग्रामीण बाजार से क्या तात्पर्य है ? दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं की जो दूकाने गाँवों में पाई जाती हैं उन्हीं का बोध 'ग्रामीण बाजार' से होता है। शहरों में भी दूकाने होती हैं। किन्तु गाँव की दूकानें शहरों की दूकानों से बहुत भिन्नता रखती हैं। सबसे पहली भिन्नता इनकी संख्या के सम्बन्ध में होती है। शहरों में बहुत सी दूकानें होती हैं, गाँवों में बहुत कम दूकानें होती हैं। किसी-किसी गाँव में तो केवल एक ही दो दूकानें होती हैं। दूसरी भिन्नता का दूकान की साइज या आकार से सम्बन्ध होता है। शहरी दूकानें बहुत बड़ी बड़ी होती हैं और गाँव की दूकानें बहुत छोटी छोटी होती हैं। क्यों ? शहरों में वस्तुओं के खरीदने वाले अधिक होते हैं, गाँव में कम होते हैं। गाँव की दूकान उस गाँव के निवासियों की ही आवश्यकता के आधार पर निर्भित होती है। तीसरी भिन्नता दूकान में बेची जानेवाली वस्तुओं से सम्बन्धित है। शहर में प्रायः प्रत्येक वस्तु की अलग-अलग दूकानें (बिसाती की दूकानों या मसाले वगैरह की दूकान को छोड़कर) होती हैं।

कपड़े की दूकान में केवल कपड़ा बिकता, बर्तन की दूकान में केवल बर्तन ही बिकता है। किन्तु गाँव का दूकानदार प्रायः बहुत सी वस्तुएँ, जिनकी आवश्यकता ग्रामवासियों को होती है, थोड़ी-थोड़ी मात्रा में लाकर एक साथ रखता है। जिसे जिस चीज की आवश्यकता होती है उसे वह चीज देता है। शहरी और ग्रामीण दूकानों में एक भिन्नता और होती है। शहरी दूकानों में दूकानदार केवल अपने बेचने की वस्तु रखते और बेचते भर हैं। वे उसमें घर की तरह नहीं रहते। गाँव के दूकानदार का घर ही उसकी दूकान होती है। उसी में वह रहता है, सोता है, खाना खाता है और अपना सामान भी बेचता है। ऐसा क्यों होता है? इसका मुख्य कारण है कि इन दूकानदारों के लिए दूकान सम्बन्धी काम दिन भर के लिए पर्याप्त नहीं होता। शहरों में वस्तुओं के खरीददार बहुत से होते हैं। अतः शहरी दूकानदार सुबह से शाम तक और कुछ रात गए तक दूकान खोले बैठे रहते हैं। वे केवल उसी काम को करते हैं। गाँव का दूकानदार काम कम होने के कारण दिन भर दूकान खोलकर बेकार बैठा नहीं रह सकता बाकी समय में वह कुछ खेती का भी काम करता है। बढ़ई, लोहार, तेली, मोची आदि ग्रामीण कारीगरों को गाँव वालों से कोई काम मिलता है तो वे उसे करते हैं, अन्यथा वे भी खेती ही में अपना बाकी समय व्यतीत करते हैं।

हाट

हाट से क्या अभिप्राय है? प्रत्येक गाँव में ग्रामवासियों की दैनिक आवश्यकताओं की सब वस्तुएँ नहीं बनती। और न तो प्रत्येक गाँव के समीप कोई शहर या कस्बा ही होता है जहाँ

से ग्रामवासी अपनी दैनिक आवश्यक वस्तुएँ खरीद सकें। अतः कुछ गाँवों के मध्य में सप्ताह में एक या दो दिन किसी एक गाँव के निश्चित स्थान पर ग्रामवासियों की दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं की पूर्ति करनेवाले छोटे छोटे दूकानदार अपनी अपनी वस्तुएँ लेकर एकत्र होते हैं जहाँ उन गाँवों के निवासी जाकर उन वस्तुओं को खरीदते हैं। हाट इस प्रकार के अस्थायी बाजार को कहते हैं। बढ़ई, लोहार, मोची, नमक-मसाला बेचने वाले, तेली, तरकारी पैदा करने वाले, जुलाहे, तम्बोली, खाद्य पदार्थ जैसे चावल, गेहूँ, दाल इत्यादि के छोटे छोटे दूकानदार आस पास के गाँवों से निश्चित दिन को निश्चित समय पर आते हैं और अपनी वस्तुएँ ग्रामवासियों के हाथ बेचते हैं। साधारणतया हाट लगने का समय दोपहर के बाद होता है। सूरज के डूबते-डूबते हाट उठ जाता है।

हाट के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें स्मरण रखनी चाहिएँ—

(१) हाट कुछ गाँवों के मध्य में किसी गाँव में लगता है।

(२) हाट सदैव निश्चित स्थान पर ही लगता है।

(३) हाट सप्ताह में एक या दो दिन ही लगता है। दिन भी निश्चित ही होते हैं। जैसे यदि किसी गाँव में बुधवार को हाट लगता है तो प्रत्येक बुधवार ही को हाट लगेगा। ऐसा कभी नहीं होता कि कभी एक दिन लगे और कभी दूसरे दिन।

(४) हाट प्रायः दोपहर के बाद लगता है और सायंकाल होते ही उठ जाता है।

(५) हाट में प्रायः ग्रामवासियों की दैनिक आवश्यकता की ही वस्तुएँ बिक्री के लिए आती हैं। अधिकांश वस्तुएँ ग्रामों की ही बनी हुई होती हैं।

मेला (fairs)

हाट के अतिरिक्त गाँवों में कभी कभी मेले भी लगते हैं। मेला प्रायः किसी त्योहार के अवसर पर लगता है। इसमें दूर-दूर से लोग आते हैं अतः इसमें विशेष भीड़ होती है। सैकड़ों और हजारों की संख्या में लोग इन मेलों में जाते हैं। अतः दूकानदारों को संख्या भी बड़ी ही होती है। मेलों में केवल ग्रामीण कारीगर ही अपनी बनी हुई वस्तुएँ बेचने के लिए नहीं ले जाते बल्कि शहरों से भी बड़े बड़े दूकानदार अपनी दूकानें लेकर जाते हैं। दूकानें विभिन्न प्रकार की होती हैं। प्रायः साधारण जीवन की हर प्रकार की वस्तुएँ मेलों में देखने को मिलती हैं। नाच-तमाशा, नाटक, थियेटर वाले भी अपनी कला दिखाने जाते हैं। कहीं फल बिकते हैं, तो कहीं मिठाइयाँ बिकती हैं, कहीं बर्तन की दूकानें दिखाई पड़ती हैं तो कहीं लोहे के सामान नजर आते हैं, कहीं खिलौने बेचने वालों का कोलाहल सुनाई पड़ता है तो कहीं नाच-गाने से वायुमंडल गुञ्जित होता है, स्त्री-पुरुष, बच्चे, नवयुवक और बूढ़े हर तरह के व्यक्ति वहाँ देखने को मिलते हैं। बड़े-बड़े मेलों में पशुओं—गाय, बैल, भैंस, हाथी, घोड़ा इत्यादि—की भी खरीद-बिक्री होती है। भारत में लगने वाले इस प्रकार के मेलों में सोनपुर के पास हरिहर क्षेत्र का मेला तथा बलिया में लगने वाला मेला जो ददरी का मेला कहलाता है विशेष उल्लेखनीय है। ये दोनों मेले कार्तिक की पूर्णिमा के अवसर पर लगते हैं। और एक-दो सप्ताह तक या उससे भी अधिक दिन तक रहते हैं। इन मेलों में लाखों की संख्या में भीड़ होती है।

मेलों की अवधि कोई निश्चित नहीं होती। एक दिन से लेकर महीने भर तक लगनेवाले मेले होते हैं। जो मेला जितने

ही अधिक दिन तक रहता है उसमें उतने ही अधिक दूर से बहुत बड़ी संख्या में जन-समूह एकत्र होता है। छोटे छोटे और दो ही एक दिन तक रहने वाले मेलों का उद्देश्य मुख्यतः मनोरंजन ही होता है व्यापार नहीं। अतः वहाँ मनोरंजन के विभिन्न साधन अधिकता से पाए जाते हैं। बड़े मेलों में दर्शकों का मनोरंजन भी होता है और व्यापारिक दृष्टिकोण से भी उनका विशेष महत्व होता है।

हाट और मेलों का महत्व

देश की ग्रामीण अर्थनीति (rural economy) के दृष्टि-कोण से हाट और मेलों का बहुत बड़ा महत्व है। ये भारतीय सभ्यता और संस्कृति के बहुत प्रमुख अंग हैं जो अति प्राचीन काल से चले आते हैं और भविष्य में चलते रहेंगे। भारत एक बहुत बड़ा देश है। इसकी अधिकांश जनता गाँवों में ही रहती है। उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति में इनका अपना ही महत्वपूर्ण भाग है। हाटों का पैमाना मेला की अपेक्षा बहुत छोटा होता है। उनमें अधिकतर खाद्य पदार्थों की ही बिक्री होती है। किसानों की दृष्टि से हाट उनके लिए अधिक उपयोगी होते हैं, मेलों का, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, मुख्य उद्देश्य मनोरंजन ही होता है। इनमें साधारणतया मनो-रंजन और विनोद की वस्तुओं, मिठाई और दस्तकारियों की वस्तुओं की बिक्री होती है। अतः कारीगरों की दृष्टि से मेलों का महत्व अधिक होता है।

हाट और मेले का संगठन

हाटों के संगठन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम स्मरणीय बात यह है कि अधिकांश का निश्चित स्थान, जिन ग्राम-समूहों में

वे लगते हैं, उनके केन्द्र में नहीं पड़ता। हाट के स्थान चुनने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आस-पास के गाँवों के निवासियों को उसमें पहुँचने का अवसर मिले। दूसरी बात यह है इनके क्षेत्र को बढ़ाने के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं किया जाता। प्रयत्न करने से दूर-दूर के क्रेता-विक्रेता उसमें सम्मिलित हो सकते हैं। इससे इनकी उपयोगिता में पर्याप्त वृद्धि हो सकती है। क्रेताओं को एक ही वस्तु के विभिन्न प्रकारों (varieties) की उपलब्धि भी तभी सम्भव हो सकेगी। तीसरी बात यह है कि इन हाटों और मेलों में वस्तुओं की कीमत के सम्बन्ध में अत्यधिक मोल-भाव नजर आता है। दूकानदारों, जो अधिक कार्य कुशल होते हैं, की नाजायज हरकतों से किसानों को बचाने के लिए उनका बाजार-भाव का ज्ञान पर्याप्त मात्रा में बढ़ाना होगा। विक्रेता क्रेताओं को हर प्रकार से ठगने की विशेष कोशिश इन मेलों और हाटों में करते हैं। हाट और मेलों की संगठन सम्बन्धी बुराइयों को दूर करने के लिए सरकारी और अर्द्ध-सरकारी समितियों की स्थापना बहुत ही आवश्यक है। तभी किसी प्रकार के सुधार की आशा की जा सकती है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

वितरण (Distribution)

अर्थ-शास्त्र के चार मुख्य भाग—उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय और वितरण—आरम्भ में बताए गए थे। इनमें से उत्पत्ति, उपभोग और विनिमय का वर्णन पहले अध्याय में हो चुका

है। अब हमें अर्थ-शास्त्र के चौथे भाग वितरण की ओर ध्यान देना है।

अर्थ-शास्त्र में वितरण से क्या तात्पर्य होता है? उत्पत्ति के सिलसिले में यह बताया जा चुका है कि उत्पत्ति के पाँच मुख्य साधन होते हैं—भूमि (land), श्रम (labour), पूँजी (capital), प्रबन्ध (organisation) और साहस या जोखिम (enterprise)। इन पाँचों का अर्थ-शास्त्रीय अर्थ भी पहले बताया जा चुका है। प्रत्येक प्रकार के धनोत्पादन में इन पाँचों साधनों की आवश्यकता होती है। इन पाँचों साधनों की पूर्ति करनेवालों को क्रमशः भूमिपति या (जमीनदार), मजदूर, पूँजीपति, प्रबन्धक और साहसी (जोखिम उठानेवाला) कहते हैं। इन पाँचों साधनों की पूर्ति (supply) प्रायः पाँच भिन्न-भिन्न व्यक्ति करते हैं। किन्तु कभी-कभी एकही व्यक्ति दो या तीन साधनों तक की पूर्ति करता है। प्रत्येक उत्पादन कार्य में इन पाँचों साधनों की जरूरत पड़ती है। जब पाँच व्यक्ति भिन्न-भिन्न साधनों की पूर्ति करके किसी प्रकार का धन पैदा करते हैं तब उत्पन्न धन का स्वामी कोई एक व्यक्ति कैसे हो सकता है? उत्पन्न धन पर पाँचों का अधिकार या स्वामित्व होता है। यह उत्पन्न धन पाँचों साधनों के साधकों में किस प्रकार बाँटा जाता है यही अर्थशास्त्र के वितरण विभाग की मुख्य समस्या है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र में वितरण का अर्थ होता है उत्पन्न धन का उसके साधकों—जमींदार, मजदूर, पूँजीपति, प्रबन्धक और साहसी—में बँटवारा। अर्थ-शास्त्र के वितरण विभाग में उन सिद्धान्तों और नियमों का विवेचन होता है जिनके अनुसार उत्पन्न धन का वितरण जमींदार, मजदूर, पूँजीपति, प्रबन्धक और साहसी में होता है।

जमींदार को उत्पन्न धन का जो भाग मिलता है उसे लगान कहते हैं। श्रमिकों या मजदूरों के हिस्से को मजदूरी कहते हैं। पूँजीपति का हिस्सा सूद या व्याज कहलाता है। प्रबन्धक को उसका वेतन मिलता है। साहसी के हिस्से का नाम मुनाफा या लाभ है। इस तरह किसी भी उत्पादन-कार्य से उत्पन्न धन के पाँच हिस्से लगते हैं। इन पाँचों हिस्सों को क्रमशः लगान, मजदूरी, सूद, वेतन और मुनाफा कहते हैं। अतः वितरण की हम निम्न प्रकार से भी व्याख्या कर सकते हैं:—उत्पन्न धन में लगान (rent), मजदूरी (wages), सूद (inrerest), वेतन (salary) और मुनाफा (profit) की दर किस प्रकार निश्चित होती है—इसी का अध्ययन वितरण का अध्ययन कहलाता है।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ऊपर का वर्णन विलकुल सही है। किन्तु व्यवहार में उसका कुछ रूप बदल जाता है। ऊपर के वर्णन से यह टपकता है कि धनोत्पत्ति के वाद उसका वितरण भूमिपति, मजदूर, पूँजीपति, प्रवन्धक और साहसी में होता है। वास्तव में जोखिम उठानेवाला व्यक्ति या साहसी अन्य चार साधकों का सहयोग प्राप्त करता है। भूमिपति, मजदूर, पूँजीपति और प्रवन्धक अपने हिस्से के लिए उस समय तक प्रतीक्षा नहीं करते जव कि वस्तु तैयार हो जाय और उसकी विक्री से प्राप्त आय भी आ जाय। साहसी इनका पुरस्कार पहले ही से निर्धारित कर लेता है और समय-समय पर उसे चुकाता रहता है। उत्पन्न की हुई वस्तु का वह वाद में वेचता है। वस्तु की विक्री से प्राप्त आय कुल व्यय से अधिक हुई तो उसे लाभ या मुनाफा होता है, यदि कम हुई तो उसे घाटा होता है। यही तो साहसी का जोखिम कहलाता है। अन्य

चार साधकों का पुरस्कार पहले ही से निश्चित हो जाता है और समय-समय पर मिलता रहता है।

कृषि में वितरण

खेती ही हमारे यहाँ का मुख्य धन्धा है। लगभग जन-संख्या का तीन चौथाई भाग इसी पर आश्रित रहता है। अतः आइए इसकी ओर दृष्टि डालें और यह समझने का प्रयत्न करें कि इसमें वितरण किस प्रकार होता है।

यद्यपि खेती हमारे देश का मुख्य धन्धा है तथापि इसकी दशा सन्तोषजनक नहीं है। हमारे यहाँ खेती का पैमाना बहुत छोटा है। किसान अधिकांश निर्धन होते हैं। उसके पास उत्पत्ति के आवश्यक साधनों का अभाव होता है। बहुतों की तो अपनी निजी भूमि भी नहीं होती। अधिकांश किसानों के पास उनके परिश्रम तथा हल-बैल के सिवाय कुछ नहीं होता। वे भूमि ज़मींदारों से प्राप्त करते हैं या सरकार से। श्रम उनके पास होता ही है किन्तु फसल के बोते समय या उसकी कटाई के अवसर पर कार्य की अधिकता के कारण उसे भी अन्य मजदूरों को काम पर लगाना पड़ता है। पूँजी के लिए उसे गाँव के महाजन की शरण लेनी होती है। हल-बैल खरीदने के लिए वही रुपया देता है और बीज की पूर्ति भी वही करता है। अन्य दो साधनों—प्रबन्ध और जोखिम—की पूर्ति किसान स्वयं करता है। वह अपनी खेती का प्रबन्ध स्वयं करता है तथा उसका जोखिम भी उठाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि खेती में चार प्रकार के सहयोगियों की आवश्यकता होती है:—

(१) भूमिपति या जमींदार,

(२) पूँजीपति,

(३) मजदूर,

(४) किसान जो मजदूर, प्रवन्धक और साहसी तीनों का काम स्वयं करता है।

किसान अन्य तीन सहयोगियों—जमींदार, पूँजीपति और मजदूर—की सेवाओं को किराए पर उधार लेकर उत्पादन कार्य करता है। जमींदार को भूमि के लिए लगान देना पड़ता पूँजीपति को उसकी पूँजी के लिए सूद तथा मजदूरों को उनको मजदूरी देनी होती है। इन सवके चुकाने के वाद जो शेष रह जाता है वह किसान का होता है।

कृषि के वितरण के सम्वन्ध में एक वात स्मरणीय है। जैसा कि ऊपर वताया गया था कि कारखानों और मिलों में होनेवाले उद्योगों में भूमिपति को उसका लगान, मजदूर को उसकी मजदूरी, पूँजीपति को उसका सूद और प्रवन्धक को उसका वेतन वस्तु को उत्पत्ति के समाप्ति के पूर्व ही समय-समय पर साहसी चुकाता रहता है। किन्तु भारतीय किसान अपनी निर्धनता के कारण इस प्रकार के भुगतान खेती की उपज के पहले ही नहीं कर सकता। फसल तैयार हो जाने के वाद ही उसका वितरण प्रारम्भ होता है। किन्तु मजदूरों के सम्वन्ध में एक वात नोट करने योग्य है। मजदूरी देने की दो प्रथाएँ हैं। कहीं-कहीं तो मजदूरों को मजदूरी करते समय ही वह दे दी जाती है। कहीं-कहीं फसल में से हिस्सा दिया जाता है। अतः जब यह कहा जाता है कि किसान अपने सहयोगियों को फसल को तैयार हो जाने पर ही उसका हिस्सा उसमें से देता है यह वात मजदूरों के सम्वन्ध में याद रखनी होगी।

सोलहवाँ अध्याय

लगान (Rent)

'लगान' शब्द से अर्थशास्त्र में क्या तात्पर्य है ? इसका वास्तविक अर्थ समझने के लिए साधारण बोल-चाल के अर्थ और अर्थशास्त्री द्वारा लगाए जानेवाले अर्थ की भिन्नता को अच्छी तरह समझ लेना होगा। जन-साधारण की भाषा में 'लगान' से तात्पर्य दूसरे की भूमि, मकान या अन्य उधार दी जा सकनेवाली वस्तु के किराए से होता है। जब रहने के लिए किसी व्यक्ति या परिवार का कोई निजी मकान नहीं होता तो वह दूसरे के मकान में रहता है और इसके बदले में मकान-मालिक को कुछ धन या रकम देता है जिसे प्रायः किराया कहते हैं। इसी प्रकार यदि किसी किसान के पास अपनी जमीन नहीं होती तो वह जमींदार या उन किसानों से जिनके पास जमीन अपने उपयोग से अधिक होती है जमीन लेकर खेती करता है और उसके बदले में निश्चित समय पर कुछ धन चुकाता है। लगान शब्द से जन-साधारण का यही तात्पर्य होता है। अपने उपयोग के लिए दूसरे को उधार ली हुई वस्तु के बदले में जो धन हमें उधार देनेवाले को देना होता है उसी को साधारण भाषा में लगान (rent) कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि जन-साधारण के लिए "लगान" और "किराया" एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं।

अर्थ-शास्त्र में 'लगान' शब्द का प्रयोग इससे भिन्न अर्थ में होता है। किसी प्राकृतिक साधन के उत्पत्ति-कार्य में

उपयोग के बदले में उस साधन के स्वामी को जो आय होती है उसे ही अर्थ-शास्त्र में 'लगान' कहते हैं। इस सम्बन्ध में 'प्राकृतिक' शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। 'लगान' प्राकृतिक वस्तुओं या पदार्थों के उपयोग के बदले में चुकाया जानेवाला धन है न कि मनुष्य द्वारा उत्पन्न किसी वस्तु के उपयोग के बदले में हमें जो कुछ देना होता है वह है। मकान का उदाहरण फिर से लीजिए। जो व्यक्ति दूसरे के मकान में रहता है वह मकान-मालिक को समय-समय पर कुछ धन देता रहता है। जन-साधारण के लिए वह समय-समय पर चुकाया जानेवाला कुछ धन 'लगान' नहीं कहा जा सकता। मकान के उपयोग के बदले में जो रकम चुकाई जाती है वह जिस भूमि पर मकान खड़ा है केवल उसके उपयोग के बदले में नहीं चुकाई जाती। मकान में रहनेवाला व्यक्ति उस भूमि का भी उपयोग कर रहा है तथा साथ ही साथ उस मकान के बनाने में लगी पूँजी का भी उपयोग करता है। इस प्रकार जो रकम वह चुकाता है वह दो प्रकार के पदार्थों के उपयोग के बदले में करता है प्राकृतिक और अप्राकृतिक (मनुष्य के श्रम द्वारा उत्पन्न)। जिस भूमि पर वह मकान खड़ा होता है वह प्राकृतिक पदार्थ कहलाएगा। मकान बनाने में जो पूँजी लगी है उसे अप्राकृतिक पदार्थ कहेंगे। अतः मकान के उपयोग के बदले में चुकाई जानेवाली रकम के भी दो भाग हुए। उसका एक भाग भूमि के उपयोग के बदले और दूसरा भाग मकान बनाने में लगी पूँजी के उपयोग के बदले चुकाया जाता है। एक अर्थशास्त्री के लिए केवल मकान की भूमि के उपयोग के लिए चुकाया जानेवाला भाग 'लगान' कहलाएगा। उसका दूसरा भाग जो उसमें लगी पूँजी के उपयोग के कारण चुकाया

जाता है, लगान नहीं बल्कि 'सूद' (interest) कहलाएगा। अब 'लगान' को हम निम्नलिखित ढङ्ग से परिभाषित कर सकते हैं:—

भूमि या अन्य प्राकृतिक साधनों के स्वामित्व से जो आय व्यक्ति को होती है अर्थशास्त्र में उसी को लगान कहते हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात और स्मरणीय है। भूमि में विभिन्न प्रकार के सुधारों के कारण जो आय होगी वह भी लगान नहीं कही जा सकती। उसे सूद कहेंगे। 'लगान' के केवल दो ही कारण होते हैं—(१) प्राकृतिक साधन का प्राकृतिक उपजाऊपन (Natural fertility); (२) उस साधन की प्राकृतिक स्थिति।

लगान के भेद

साधारणतया लगान के दो भेद किए जाते हैं:—

(१) कुल लगान (Gross Rent)

(२) आर्थिक लगान (Economic Rent)

साधारण बोल-चाल में जो 'लगान' कहलाता है अर्थशास्त्री उसे "कुल लगान" (gross rent) कहाता है। कुल लगान में आर्थिक लगान के अतिरिक्त भूमि में लगी पूँजी का सूद और मालिक का मुनाफा इत्यादि भी सम्मिलित होता है। आर्थिक लगान ज्ञात करने के लिए कुल लगान में से इन दोनों के निकाल देने से जो शेष रहे वह आर्थिक लगान होता है। आर्थिक लगान का ठीक-ठीक हिसाब नहीं लगाया

जा सकता है। इसका निश्चित रूप से मापना असम्भव है। केवल इसकी सैद्धान्तिक रूप से कल्पना की जा सकती है।

लगान शब्द का अर्थ समझ लेने के बाद अब हमें संक्षेप में इस बात का भी विचार कर लेना है कि लगान की समस्या किस प्रकार आरम्भ हुई। सृष्टि के प्रारम्भ में जन-संख्या बहुत ही सीमित थी। उस समय प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार उसका उपयोग कर सकता था। किन्तु जन-संख्या एक स्थिर वस्तु तो है नहीं। उसमें निरन्तर वृद्धि होती रहती है। किन्तु भूमि की मात्रा सीमित है। उसमें वृद्धि नहीं होती। कालान्तर में जन-संख्या इतनी बढ़ गई कि अब इच्छानुसार भूमि का उपयोग सबके लिए सम्भव नहीं रह गया। इस प्रकार धीरे-धीरे जिस व्यक्ति के अधिकार में जो जमीन थी वह उसका स्वामी बन बैठा। शनैः शनैः सब भूमि पर किसी न किसी व्यक्ति का स्वामित्व हो गया। और बहुत से ऐसे भी रह गए जिनके पास अपनी कोई भूमि नहीं रही। इसके विपरीत कुछ लोगों के पास आवश्यकता से अधिक भूमि भी रही। इन लोगों ने भूमि-रहित व्यक्तियों को अपनी भूमि में से कुछ भूमि उपयोग के लिए देकर उससे उत्पन्न धन में से हिस्सा लेना प्रारम्भ किया। इस प्रकार लगान का श्री गणेश हुआ।

लगान किस प्रकार निश्चित होता है? इस प्रश्न पर भी संक्षिप्त ध्यान देना है। साधारणतया लगान निश्चित होने के दो मुख्य ढङ्ग हैं। लगान पर एक प्रभाव प्रचलित रीति-रिवाज का और दूसरा प्रभाव प्रतियोगिता या चढ़ा-ऊपरी का पड़ता है। हमारे देश में विभिन्न स्थानों पर ये दोनों प्रभाव कार्य करते दिखाई पड़ते हैं। कुछ भागों में परम्परा और रिवाज के अनुसार पैदावार का कुछ भाग—चौथाई, तिहाई, पाँचवाँ

भाग इत्यादि—लगान के रूप में दिया जाता है। जिन भागों में भूमि की माँग अधिक है और उसकी पूर्ति अपेक्षाकृत कम है वहाँ प्रतियोगिता का विशेष प्रभाव पड़ता है। भूमि-स्वामी उसी व्यक्ति को जमीन देता है जो सबसे अधिक लगान देना स्वीकार करता है।

अन्त में हमें भारतीय लगान (land revenue) की ओर भी ध्यान देना है। हमारे देश में लगान चुकाने की दो प्रथाएँ हैं—(१) देश के कुछ भागों में किसान सीधे सरकार को लगान देते हैं। इस प्रथा का नाम रैय्यतवादी प्रथा है (२) अन्य कुछ भागों में किसान अपना लगान जमींदार को चुकाता है। किसानों से प्राप्त लगान का कुछ हिस्सा अपने लिए रखकर शेष को वह सरकार को चुकाता है। लगभग ४० से लेकर ५० प्रतिशत भाग जमींदार किसानों से प्राप्त लगान का सरकार को देता है। यह जमींदारी प्रथा के नाम से विख्यात है। हमारे प्रान्त (यू० पी०) में यही प्रथा प्रचलित है, किन्तु इस प्रथा की बुराइयों के कारण हमारी प्रान्तीय सरकार ने इसके अन्त करने का निश्चय कर लिया है और कुछ ही वर्षों में इसका अन्त अवश्य हो जायगा।

सत्रहवाँ अध्याय

मजदूरी (Wages)

अर्थ-शास्त्र में मजदूरी से क्या तात्पर्य होता है, आरम्भ में समझ लेना आवश्यक है। किसी भी वस्तु के उत्पादक को, जिसे अर्थशास्त्रीय भाषा और पूँजी आदि साधनों की आवश्य-

कता होती है। साहसी उत्पादन-कार्य में जिन व्यक्तियों के श्रम का उपयोग करता है उनके श्रम के बदले में जो धन या रकम वह उन्हें देता है उसे मजदूरी कहते हैं। अन्य शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि उत्पादक या साहसी द्वारा उसके श्रमिकों या मजदूरों को दी जानेवाली रकम ही उनकी मजदूरी कहलाती है। संक्षेप में श्रम की कीमत का ही नाम मजदूरी है।

मजदूरी शब्द का प्रयोग साधारणतया उसी प्रकार के श्रम की कीमत के लिए किया जाता है जो एक विशेष प्रकार से निश्चित दशा में किया जाता है। साधारणतया स्वतन्त्र रूप से किसी वस्तु के उत्पादन करने वालों और स्वतन्त्र पेशा वालों जैसे डाक्टर, हकीम, वकील इत्यादि, की गिन्ती श्रमिकों या मजदूरों की श्रेणी में नहीं होती है क्योंकि वे अपने श्रम को किसी साहसी के हाथ नहीं बेचते बल्कि उनका सीधा सम्बन्ध उपभोक्ताओं से होता है तथा उनका पुरस्कार अन्य प्रकार से निर्धारित और निश्चित होता है।

दूसरी बात जो इस सम्बन्ध में स्मरणीय है, यह है कि श्रम, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, निपुण (skilled) हो या अनिपुण (unskilled), की कीमत, चाहे वह प्रतिदिन चुकाई जानेवाली हो, सब को अर्थशास्त्रीय दृष्टि से मजदूरी ही कहते हैं। साधारण बोलचाल में प्रायः श्रम की उसी कीमत को जो प्रतिदिन या सप्ताह में एक बार चुकाई जाती है, मजदूरी कहते हैं। माहवारी चुकाई जानेवाली को 'वेतन' (salary) कहा जाता है। एक अर्थशास्त्री श्रम के पुरस्कार का इस प्रकार कोई भेद नहीं मानता। उसके लिए मजदूरी और वेतन दोनों एक ही वस्तुएँ हैं।

एक बात और स्मरणीय है। ऊपर बताया जा चुका है कि

साहसी, जो श्रमिक काम में लगाए जाते हैं उन्हें उनके श्रम के बदले जो पुरस्कार देता है उसे मजदूरी कहते हैं। मजदूरी की यह परिभाषा बिल्कुल ठीक है। किन्तु मजदूरी का अर्थ आजकल कुछ और अधिक व्यापक हो गया है। साहसी द्वारा उत्पादन में लगाए गए मजदूरों के श्रम के पुरस्कार के अतिरिक्त स्वयं साहसी के व्यक्तिगत श्रम के पुरस्कार को भी 'मजदूरी' ही कहते हैं। साहसी उत्पादन का जोखिम तो उठाता ही है, इसके अतिरिक्त वह सब क्रियाओं का निरीक्षण (superintendence) भी करता है। यह भी एक प्रकार का श्रम ही है। जिस हद तक वह उत्पादक शक्तियों का निरीक्षण करता है उस हद तक वह अर्थशास्त्रीय दृष्टि से श्रमिक या मजदूर ही होता। अतः साहसी की आय का वह भाग जो उसके इस प्रकार के श्रम का पुरस्कार होता है, एक अर्थशास्त्री के लिए मजदूरी ही होती है।

मजदूरी के अर्थशास्त्रीय अर्थ को समझ लेने के बाद एक और आवश्यक चीज की ओर ध्यान देना है। श्रमिकों को उनकी मजदूरी दो तरह से चुकाई जा सकती है। या तो उनकी मजदूरी रुपए-पैसे में दी जाय या उनकी आवश्यक वस्तुओं के रूप में। म की जो कीमत रुपए-पैसे में चुकाई जाती है उसे "नकद मजदूरी" (money wages or nominal wages) कहते हैं। मजदूर को जो मजदूरी रुपए-पैसे में मिलती है उससे जितने परिमाण में वह अपनी आवश्यक, आरामदायक या विलासिता सम्बन्धी वस्तुएँ खरीद सकता है उसे उसकी "वास्तविक मजदूरी" (real wages) कहते हैं।

आर्थिक दृष्टि से "नकद मजदूरी" और "वास्तविक मजदूरी" का भेद बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। मजदूरों की

आर्थिक दशा का सही अनुमान उनकी "वास्तविक मजदूरी" से ही लगाया जा सकता है। इसके समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। बनारस के रसूलपुर गाँव के किसी मजदूर की दैनिक मजदूरी मान लीजिए १) है। देवरिया जिले के अहिलवार गाँव के एक श्रमिक की भी दैनिक मजदूरी मान लीजिए १) है। दोनों श्रमिकों की दैनिक मजदूरी बराबर है। किन्तु बनारस में जौ, कल्पना कीजिए, एक रुपए में ४ सेर मिल रहा है और देवरिया में १) में ४॥ सेर मिल रहा है। ऐसी दशा में बनारस जिले के रसूलपुर गाँव के मजदूर की दैनिक वास्तविक मजदूरी ४ सेर जौ हुई जब कि उसके देवरिया जिले के अहिलवार गाँव के साथी की दैनिक वास्तविक मजदूरी ४॥ सेर जौ हुई। दोनों की नकद मजदूरी बराबर है किन्तु वास्तविक मजदूरी भिन्न-भिन्न है। वास्तविक मजदूरी जिसकी अधिक है, आर्थिक दृष्टि से वह अधिक सन्तोषजनक ढङ्ग से अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति कर सकेगा। अतः दो श्रमिकों की आर्थिक दशा का तुलनात्मक अध्ययन उनकी वास्तविक मजदूरी के ज्ञान की ही दशा में सम्भव है।

मजदूरी के सम्बन्ध में इन प्रारम्भिक बातों को ध्यान में रखते हुए आइए अब भारत के खेती के मजदूरों की मजदूरी पर दृष्टि डालें। भारतीय गाँवों में मजदूरी-निर्धारण का मुख्य आधार प्राचीन प्रथाएँ हैं। हमारे पूर्वज जो मजदूरी देते थे वही मोटे दर से अब तक चली आती है। अधिकांश गाँवों में मजदूरी अन्नों में ही दी जाती है। विभिन्न कृषि-सम्बन्धी कार्यों के लिए निश्चित परिमाण में अन्न दिया जाता है। साधारणतया ये मोटे अन्न होते हैं जैसे जौ, मटर, कोदो, मक्का इत्यादि। फसल काटने की मजदूरी जिस अन्न की फसल होती

है उसी में दी जाती है। धान, गेहूँ काटने की मजदूरी गेहूँ ही में दी जाती है और इसी तरह अन्य फसलों के सम्बन्ध में भी। सिंचाई आदि के काम में ऊपर बताए गए मोटे प्रकार के अन्न दिए जाते हैं। अन्न में मजदूरी देने से एक विशेष लाभ यह होता है कि पदार्थों की क़ीमत के घटने-बढ़ने का बहुत कम प्रभाव मजदूरों पर पड़ता है। परन्तु पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से हमारी सामाजिक प्रथाओं और परम्पराओं का बन्धन उत्तरोत्तर ढीला होता चला जा रहा है। मजदूरी के सम्बन्ध में भी कुछ हद तक यह बात सही है। देहातों में भी क्रमशः नकद मजदूरी की प्रथा बढ़ती जा रही है। आजकल की परिस्थिति में जब कि वस्तुओं और विशेष कर खाद्यान्नों की कीमत में अभूतपूर्व वृद्धि हो गई है तथा रुपए की कीमत वस्तुओं में बहुत कम हो गई है, चतुर लोग इन असहाय मजदूरों को अन्न न देकर रुपया-पैसा ही देना अधिक पसन्द करने लगे हैं। फिर भी कृषि के विभिन्न कार्यों की मजदूरी अधिकांश तौर पर अन्नों में ही दी जाती है। पुरानी प्रथाओं पर आधारित मजदूरी की दर में भी लोग कटौती करने से बाज नहीं आए हैं। ये मजदूर निर्धन और सब प्रकार से साधनहीन होते हैं। ये प्रायः अपने स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान को, जहाँ उनको अधिक मजदूरी मिल सकती है, जाना भी पसन्द नहीं करते। उनकी गतिशीलता में हमारी बहुत-सी सामाजिक प्रथाएँ, जैसे जाति-प्रथा (caste-system), भी विशेष रूप से बाधक रही है और अब भी कुछ अंशों में है। इन साधनहीन मजदूरों को अन्य स्थानों की मजदूरी का भी कोई ज्ञान नहीं होता। इन और इसी प्रकार के अन्य कारणों से वे अपने जन्म-स्थान से जीवन भर बँधे रहते हैं और सम्पन्न

किसानों की सेवा में अपना जीवन व्यतीत कर देते हैं। किन्तु ये लोग इतने हृदय-हीन होते हैं कि हर समय पर उनकी विवशता का अनुचित लाभ उठाने की कोशिश करते हैं और उठाते हैं। इन्हें वे मजदूरी, अन्न में या रुपए में, पर्याप्त या अपर्याप्त, जो दे दें उन्हें स्वीकार करना पड़ता ही है। इसके सिवाय वे कर ही क्या सकते हैं। भारतीय कृषि-मजदूरों को जो मजदूरी मिलती है वह इतनी अपर्याप्त होती है कि उन्हें जीवन भर बुनियादी आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए शोकातुर रहना पड़ता है। उन्हें न तो भरपेट भोजन मिलता है और न तो शरीर ढकने के लिए वस्त्र ही। देश के हाल तक परतन्त्र रहने और विदेशी सरकार की इस दिशा में पूर्ण उदासीनता के कारण इनकी दशा में कोई सुधार नहीं हुआ है। अब हमारा देश स्वतन्त्र हो गया है और केन्द्र तथा प्रान्तों में राष्ट्रीय सरकारों की स्थापना हुई है। हमारी राष्ट्रीय सरकारों को इन असहायों की ओर अत्यधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। योरप और अमेरिका के उन्नत राष्ट्रों का अनुकरण कर हमें अखिल भारतीय पैमाने पर इनकी मजदूरी की दर इस प्रकार निश्चित करने की बड़ी आवश्यकता है कि प्रत्येक मजदूर को इतनी मजदूरी मिल सके कि उससे वह अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण उचित प्रकार से कर सके। इसी में हमारे और देश समाज का कल्याण है।

अठारहवाँ अध्याय

सूद (interest)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है उत्पत्ति का तीसरा मुख्य साधन "पूँजी" (capital) है। पूँजी की परिभाषा उससे

सम्बन्धित अध्याय में पीछे दी जा चुकी है। 'पूँजी' का स्वामी पूँजीपति कहलाता है। साहसी द्वारा उत्पादन-कार्य में उपयोग की गई पूँजी के बदले में पूँजीपति को जो रकम मिलती है उसे सूद कहते हैं।

मनुष्य अपने उत्पन्न धन का उपयोग दो प्रकार से करता है। या तो वह सब धन अपनी तत्कालीन आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने में व्यय कर दे या उसका प्रमुख इस प्रकार की सन्तुष्टि—क्रिया में व्यय करे और उसका शेष भाग बचा कर किसी अन्य उत्पादन-कार्य में लगावे। उसके धन का यह दूसरा भाग 'पूँजी' कहलाता है। 'पूँजी' के लिए उसे आवश्यकताओं की तत्कालीन पूर्ति से मिलने वाले सन्तोष का त्याग करना पड़ता है ? साहसी उसके इस त्याग के फल अर्थात् पूँजी का उपयोग उत्पादन-कार्य में करता है। पूँजीपति की पूँजी की अनुपस्थिति में साहसी के लिए उत्पत्ति करना असम्भव है। पूँजीपति अपनी पूँजी द्वारा उत्पत्ति में सहायक होता है। उसकी इस सहायता का पुरस्कार ही "सूद" (interest) कहलाता है।

सूद के अर्थ समझ लेने के बाद अर्थ-शास्त्री द्वारा किये जाने वाले एक भेद को भी संक्षेप में समझ लेना चाहिए। अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से सूद के दो भेद होते हैं—कुल सूद (gross interest) और वास्तविक सूद (net interest) उत्पत्ति-कार्य में पूँजी के कारण उत्पन्न वस्तु का जो भाग होता है उसे वास्तविक सूद कहते हैं। यद्यपि इस भाग का निश्चित करना बहुत मुश्किल है। जहाँ कई साधनों के सहयोग से एक वस्तु उत्पन्न होती है वहाँ यह निश्चित करना कठिन है कि कितना अंश किस साधन के कारण उत्पन्न हुआ। केवल सैद्धान्तिक रूप से इसकी कल्पना की जा सकती है।

कुल सूद में दो एक बातें और आ जाती हैं। पूँजीपति जब अपनी पूँजी उधार देता है तब सम्भव है कि उसको उसका फल मिले या न मिले क्योंकि भविष्य हमेशा अनिश्चित होता है। वह एक प्रकार का जोखिम उठाता है। **कुल सूद में उसके इस जोखिम उठाने का प्रतिफल या पुरस्कार भी सम्मिलित होता है**। दूसरी चीज यह है कि पूँजी उधार देने और उसके सूद का मूलधन को प्राप्त करने में भी उसे कुछ व्यय करना पड़ता है। **अतः कुल सूद में ऋण की व्यवस्था का भी खर्च शामिल होता है**। यदि कुल सूद में से इन दोनों भागों को निकाल दें तो वास्तविक सूद शेष रह जाता है।

सूद की दर के सम्बन्ध में भी दो एक बातों को संक्षेप में नोट कर लेना लाभप्रद ही होगा। साधारणतया सूद की दर माँग और पूर्ति के आधार पर होती है और होनी चाहिए। जब पूँजी की माँग अधिक होती है तब सूद की दर ऊँची होती है। जब पूँजी की पूर्ति (supply) अधिक होती है तब उसकी दर कम होती है। सूद का दर पूँजी की माँग (demand) और पूर्ति (supply) की सापेक्षिक शक्ति (relative strength) द्वारा निर्धारित होती है और चूँकि पूँजी की माँग और पूर्ति की दशाओं में परिवर्तन होता रहता है अतः इस परिवर्तन के अनुसार सूद की दर भी घटती और बढ़ती रहती है। यह वास्तविक सूद के सम्बन्ध में है।

साधारणतया कुल सूद की दर में एक और विशेष प्रकार का प्रभाव काम करता है। सूद की दर खतरे की मात्रा के साथ अधिक या कम होती है। यदि ऋणी पर ऋणदाता का विश्वास है और उसे इस बात का भरोसा है कि पूँजी और उसका सूद प्राप्त करने में भविष्य में उसे कोई विशेष असुविधा न होगी,

तो अपेक्षाकृत कम सूद पर ही वह अपनी पूँजी उधार दे देता है।

सूद के सम्बन्ध में इन प्रारम्भिक बातों को स्मरण रखते हुए आइए अब भारतीय ग्रामीण पूँजीपति, जिसे साधारणतया महाजन कहते हैं, उसके सूद की दर तथा उसके प्रभाव पर विचार करें। भारतीय साधारण किसान, जैसा कि कई बार पहले विभिन्न स्थानों पर संकेत किया जा चुका है सब प्रकार से साधन-हीन होता है। खेती के कार्यों के लिए आवश्यक पूँजी की आवश्यकता होती है। उसे हल-बैल, खुरपी-कुदाल तथा अन्य कृषि के औजारों, बोने के लिए बीज तथा मजदूरों को मजदूरी देने के रुपए-पैसे या अन्न की आवश्यकता होती है। बिना इनके उसका काम नहीं चल सकता। ये चीजें उसके पास होतीं नहीं। इनके लिए आवश्यक रुपए कहाँ से आवें। महाजन के सिवाय अन्य कोई उसकी सहायता करने वाला गाँवों में नहीं होता। भारतीय गाँवों में साख की सुविधाओं का प्रायः अभाव रहता है। यद्यपि कुछ सहकारी साख समितियों की स्थापना विभिन्न स्थानों में हुई है तथापि इनकी संख्या आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इतनी कम है कि अधिकांश किसानों के लिए महाजन के द्वार के सिवाय अन्य कहीं शरण का पाना असम्भव ही होता है। महाजन, जो प्रथम कोटि का स्वार्थी और चतुर व्यक्ति होता है, इस परिस्थिति से अच्छी तरह परिचित होता है। वह किसानों की साख-सम्बन्धी विवशता का अनुचित लाभ अधिक से अधिक पैमाने पर उठाने की कोशिश करता है और उठाता है। महाजनों की आपत्तिजनक हरकतों का वर्णन पहले के विभिन्न अध्यायों में जरूरी स्थानों पर किया जा चुका है। यहाँ केवल

इतना ही स्मरण रखना पर्याप्त होगा कि किसान को अपनी पूँजी की अत्यधिक कड़ी आवश्यकता तथा गाँवों में उचित साख-सुविधाओं की अनुपस्थिति के कारण विवश होकर गाँव के महाजन के यहाँ से आवश्यक पूँजी उधार लेनी पड़ती है जिसकी उसे बहुत ही ऊँची कीमत महाजन को चुकानी पड़ती है। महाजन सूद की दर बहुत ही ऊँची रखता है। किसान के लिए पूँजी का सालाना सूद ही चुकाना असम्भव होता है। परिणाम यह होता है कि वह सदैव महाजन के चंगुल में फँसा रहता है और उसकी आर्थिक दशा सुधर नहीं पाती।

महाजन का छोटा भाई पठान या काबुली होता है। वह भी गाँवों में जाकर इन किसानों की महाजन की तरह सेवाएँ करता है। एक दृष्टि से इनको महाजन का छोटा भाई न कह-कर बड़ा भाई ही कहना ठीक होगा। काबुली बहुत ही भयानक व्यक्ति होता है। रुपए की भुगतान न होने की दशा में वह किसानों का खून करने के लिए भी तैयार हो जाया करता था, यद्यपि परिवर्तित राजनैतिक परिस्थिति में यह अब सम्भव नहीं है। इनके उद्धतपन के कारण प्रायः किसान को इनका ऋण चुकाना ही पड़ता था।

ऊपर के विवेचन से वर्तमान स्थिति का अनुमान सुगमता से लगाया जा सकता है। देश की आर्थिक उन्नति के लिए इसका शीघ्रातिशीघ्र अन्त करना होगा। हमारी विदेशी सर-कार भी इस समस्या का समुचित ज्ञान रखती थी किन्तु उसके समाधान की उसको विशेष चिन्ता नहीं थी। किन्तु अपनी इस सम्बन्ध में दिलचस्पी और जागरूकता के प्रदर्शनार्थ सह-कारी विभाग द्वारा यत्र-तत्र सहकारी-साख सुविधाओं की स्थापना भी उसने की। किन्तु उसकी छत्र-छाया में किया गया

प्रयत्न इतना अपर्याप्त था कि जिससे समस्या हल हो ही नहीं सकती थी। सौभाग्य से अब वह सरकार यहाँ नहीं रह गई है। हमारी केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों को बहुत ही शीघ्रता और तीव्रता के साथ इस प्रश्न को हल करना है। इसका सबसे अच्छा उपाय है सहकारिता-आन्दोलन (Cooperative movement) को शक्ति-सम्पन्न बनाना। देश के प्रत्येक गाँव में सहकारी साख-समितियों की स्थापना होनी चाहिए। जिससे अनपढ़ और असहाय किसानों को कम-से-कम सूद पर आवश्यक पूँजी मिल सके और वे निर्दयी महाजन के चंगुल से मुक्त हो जायँ। जिस हद तक यह तुरन्त सम्भय हो महाजनों की हरकतों पर कड़ा नियन्त्रण स्थापित कर दिया जाय जिससे वे अच्छी तरह यह समझ जायँ कि आज की बदली हुई परिस्थिति में उनको अपनी सदियों की आपत्तिजनक हरकतों का सर्वथा शीघ्र-से-शीघ्र परित्याग करना होगा। इसी में उनका हित है अन्यथा उन्हें भारतीय समाज से लुप्त होना ही पड़ेगा। यहाँ यह लिख देना होगा कि हमारी सरकारें इस प्रश्न को हल करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि देश की स्वतन्त्रता के पहले ही प्रान्तों में प्रथम कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों की स्थापना के बाद ही हमारे प्रान्त की सरकार ने ऋण-मोचन-नियम (Dedt Redemption Act) बनाकर इस दिशा में कुछ काम किया था। स्थिति का पूरा सामना करने के लिए हमें दो काम करने होंगे:—

(१) विभिन्न प्रकार के कानून बनाकर इन बोझ से लदे हुए किसानों का बोझ हलका करना।

(२) गाँवों में साख की सुविधाओं को व्यापक और विस्तृत बनाना।

इस काम में प्रान्तीय सरकारों के सहकारी विभागों (Cooperative Departments) से बहुत काम निकाला जा सकता है।

उन्नीसवाँ अध्याय

लाभ या मुनाफा (Profit)

उत्पादन-कार्य में उठाए जानेवाले आवश्यक जोखिम का जो पुरस्कार साहसी को मिलता है वही लाभ या मुनाफा कहलाता है। किसी वस्तु के उत्पादन से जितनी आय होती है उसमें से यदि भूमिपति को लगान के रूप में दी गई रकम श्रमिकों की मजदूरी की रकम तथा पूँजीपति को सूद की रकम निकाल ली जाय तो शेष जो बचता है वह साहसी के हिस्से का होता है। इसी को लाभ कहते हैं।

यहाँ यह स्मरण रहे कि 'प्रबन्धक' का वेतन भी मजदूरी में ही शामिल है। अर्थ-शास्त्री के लिए, जैसा कि मजदूरी के अध्याय में पहले बताया जा चुका है, मजदूरी और वेतन दोनों एक ही चीज है।

मुनाफा या लाभ के सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से याद रखनी होगी। अर्थ-शास्त्री मुनाफा के दो भेद बताते हैं— कुल मुनाफा (gross profit) और वास्तविक मुनाफा (net profit)। साहसी की आय का वह भाग जो उसके जोखिम के कारण होता है उसे वास्तविक मुनाफा या लाभ कहते हैं। साहसी जोखिम उठाने के अलावे बहुधा कुछ अपनी पूँजी भी लगाता है, निरीक्षण-कार्य भी करता है तथा कभी-कभी भूमि

का कुछ भाग भी उसी का होता है। किन्तु वह अपनी पूँजी, भूमि या श्रम के लिए अलग-अलग सूद, लगान या मजदूरी नहीं लेता। उधार लिए हुए साधनों की कीमत चुकाने के बाद जो कुछ बच रहता है वह उसकी उत्पत्ति कार्य में की गई इन सब विभिन्न प्रकार की सेवा का पुरस्कार होता है। अतः भूमि-पति की लगान, पूँजीपति का सूद और मजदूर की मजदूरी को उत्पन्न धन में से घटा देने पर जो शेष रहता है वह कुल मुनाफा कहलाता है। इसमें निम्नलिखित का समावेश होता है:—

(१) वास्तविक मुनाफा (net profit) जो उत्पत्ति की जोखिम का परिणाम होता है।

(२) साहसी को उत्पत्ति-कार्य में लगाई गई अपनी भूमि का लगान (rent), यदि उसने ऐसा किया हो।

(३) साहसी के निरीक्षण-कार्य की मजदूरी (wages).

(४) साहसी की निजी पूँजी का सूद।

(५) विशेष सुविधाओं के कारण उत्पन्न लाभ।

जब एकाएक वस्तु की माँग में वृद्धि हो जाने या कहीं की पूर्ति में कमी हो जाने के कारण उसकी कीमत बढ़ जाती है तब इससे उत्पादन की कुल आय (total income) में वृद्धि हो जाती है, जिसकी आशा नहीं की गई थी।

साधारण बोलचाल में कुल मुनाफे (gross profit) को ही मुनाफा कहते हैं। अर्थशास्त्री के लिए मुनाफे से तात्पर्य वास्तविक मुनाफे (net profit) से होता है। अतः विचारों की स्पष्टता तथा भ्रम से बचने के लिए कुल मुनाफा (gross profit) और वास्तविक मुनाफा (net profit) का अन्तर स्मरण रखना होगा।

अब हमें मुनाफे (profit) की दर के सम्बन्ध में कतिपय

बातों की ओर ध्यान देना है। कुल मुनाफे की मात्रा मालूम करने के लिए वस्तु की उत्पत्ति से प्राप्त आय में से लगान, मजदूरी और सूद का योगफल घटाना होता है। कुल मुनाफा (gross profit) की मात्रा विशेषकर दो बातों पर निर्भर करती है। सर्वप्रथम वस्तु की उत्पत्ति से प्राप्त आय की मात्रा पर। यदि वस्तु का उत्पादन बड़े परिमाण या संख्या में हुआ और उसकी कीमत भी ऊँची रही तो उससे आय अधिक होगी। इसके विपरीत दशा में आय कम होगी। दूसरी बात यह है कि यदि लगान, सूद और मजदूरी में चुकाई जानेवाली रकम बहुत अधिक हुई तो कुल आय में से इनका योगफल घटाने पर शेषफल कम होगा। अतः मुनाफा भी कम ही होगा। एक उदाहरण लीजिए। किसी वस्तु की उत्पत्ति से यदि १००० रु० की कुल आय होती है और लगान, सूद और मजदूरी चुकाने में कुछ ८०० रु० व्यय हुए हों तो कुल मुनाफा = १००० रु०—८०० = २०० रु० हुआ। यदि लगान, सूद और मजदूरी में ९०० रु० व्यय हुआ होता तो १०० रुपए ही कुल मुनाफे के होते। इसके विपरीत यदि यह व्यय ७५० रु० ही होता तो कुल मुनाफा २५० रु० हो जाता। अतः लगान, सूद और मजदूरी की दरों (rates) का प्रभाव मुनाफे पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त विशेष प्रकार की सुविधाओं की वृद्धि, जैसे उत्तम प्रकार के यातायात के साधनों की वृद्धि इत्यादि जिसका वस्तुओं के उत्पादन और बिक्री पर लाभप्रद प्रभाव पड़ता है, से भी कुल मुनाफे की मात्रा बढ़ जाती है। अचानक घटनाओं का भी काफी असर मुनाफे पर पड़ता है। इनसे या तो वस्तुओं की कीमत, पूर्ति में कमी हो जाने से या निकट भविष्य में उसकी कमी की निश्चित सम्भावना उत्पन्न हो जाने पर, एकाएक

बढ़ जाती है जिसके कारण कुल आय (total income) अचानक बढ़ जाती है, किन्तु इसके साथ लगान, पूँजी और मजदूरी की दर में वृद्धि नहीं हो पाती। अतः कुल मुनाफा अधिक हो जाता है। एक उदाहरण लीजिए। किसी वस्तु के उत्पादन से कुल लाभ मान लीजिए किसी साहसी को १०००) का हो रहा था। अचानक उस वस्तु का आयात किसी स्थान से श्रमिकों की हड़ताल के कारण बन्द हो गया। पूर्ति इससे कम हो गई। अतः उस वस्तु की कीमत बढ़ जायगी। मान लीजिए ऊपर के उदाहरण का काल्पनिक उत्पादक उस वस्तु को २००० की संख्या में उत्पन्न करता है। मजदूरों, भूमिपति और पूँजी-पति को उनका हिस्सा देने में ७००० रु० व्यय करता है। उसको मुनाफे में १००० रु० प्राप्त होता है। अतः २००० की संख्या में उस वस्तु के उत्पन्न करने से उसे कुल आय ८००० रु० की होती है। इस प्रकार उस वस्तु की कीमत ४ रु० प्रति वस्तु हुई। अब पूर्ति में कमी हो जाने के कारण वस्तु की कीमत, कल्पना कीजिए, ४॥ रु० प्रति वस्तु हो जाती है। इस प्रकार २००० वस्तुएँ बेचने से उसे कुल ८५०० रु० की आय हुई। लगान, सूद और मजदूरी में उसे ७००० रु० देना पड़ा था जो ज्यों का त्यों रहा। इस प्रकार अब उसे १५०० रु० का कुल मुनाफा होगा।

ठीक इसी प्रकार यदि किसी नए स्थान से भी उस वस्तु की पूर्ति होने लगे तो पूर्ति के बढ़ जाने से वस्तु की कीमत घट जायगी और मुनाफा घट जायगा। अतः अचानक घटनाओं, जिनका प्रभाव वस्तुओं की कीमत पर पड़ता है, का भी विशेष प्रभाव मुनाफे पर पड़ता है।

आइए, अब कृषि के उत्पादक किसान की ओर इस सम्बन्ध

में ध्यान दें। जैसा कि खेती के अध्याय में बताया जा चुका है, भारतीय कृषि की दशा अच्छी नहीं है। इसके कारणों पर उसी अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। खेती की उपज अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। अपनी उसी कम उपज में से किसान को लगान, सूद और मजदूरों की मजदूरी चुकानी होती है। इन तीनों प्रकार के भुगतान करने के बाद उसके पास जो शेष रह जाता है उसी से वह किसी प्रकार अपनी जीविका चलाने का प्रयत्न करता है। इस शेष भाग में निम्नलिखित प्रकार के पुरस्कार शामिल होते हैं:—

(१) किसान का लाभ या मुनाफा।

(२) उसके प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों का वेतन या मजदूरी।

(३) उसके तथा उसके परिवार के अन्य सदस्यों के श्रम की मजदूरी।

(४) उसकी निजी पूँजी का सूद।

किसान ही कृषि-कार्य का जोखिम उठाता है। अतः उसे उसका पुरस्कार वास्तविक लाभ के रूप में मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह कुछ न कुछ पूँजी लगाता है जिसका सूद उसे प्राप्त होना चाहिए। वह स्वयं अपने परिवार के सदस्यों के साथ काम करता है। केवल अधिक श्रम की आवश्यकता की ही दशा में, जो प्रायः बीज बोने और फसल काटने के समय उत्पन्न होती है, अन्य मजदूरों को काम पर लगाता है। अतः उसे अपने तथा परिवार के अन्य सदस्यों के श्रम की मज़दूरी भी मिलनी चाहिए।

किन्तु प्रश्न यह है कि वास्तव में उन्हें मिलता क्या है? यदि ऊपर गिनाई गई सब तरह की आमदनी उन्हें हो तब तो आर्थिक निश्चिन्तता की सुखद नींद का आनन्द वे भी प्राप्त कर

सकते हैं। किन्तु असलियत तो यह है कि औसत भारतीय किसान जीवन-रक्षक पदार्थों को पर्याप्त मात्रा में नहीं पाता। भूमिपति, महाजन और मजदूरों को उनका हिस्सा चुकाने के बाद जो भाग शेष रह जाता है वह उसके तथा उसके परिवार के सदस्यों के श्रम का ही उचित मूल्य नहीं होता, मुनाफे की बात तो दूर रही। कहने का अभिप्राय यह है कि वर्तमान परिस्थिति में खेती एक लाभप्रद पेशा नहीं रह गया है। फिर भी सब प्रकार से साधनहीन किसान उसमें लगा रहता है। क्यों? इसलिए कि इसके सिवाय उसके पास दूसरा चारा नहीं होता। उसकी अशिक्षा तथा अज्ञानता, दकियानूसी विचार-धारा, उपयुक्त अन्य उद्योग-धन्धों का अभाव, भूमि का मोह इत्यादि सब मिलकर उसे उसी में लगे रहने के लिए बाध्य करते रहते हैं। दुर्बल किसान इन शक्तियों से पार पाने में सर्वथा असमर्थ होता है। इन किसानों की दशा मन्दी के काल (period of depression) में तो विशेष रूप से शोचनीय हो जाती है। जिन लोगों को विश्व-व्यापी महामन्दी, जिसकी शुरुआत सन् १६२६ ई० में हुई, के दिनों को देखने का अवसर प्राप्त हुआ है वे इन किसानों की अत्यन्त दयनीय दशा की कल्पना कर सकते हैं। यों तो उस महामन्दी के वर्षों में सब प्रकार की वस्तुओं का मूल्य कम हो गया था किन्तु कृषि-जन्य पदार्थों की कीमत में अपेक्षाकृत अधिक कमी हुई थी और इस पर भी उनके लिए पर्याप्त खरीददारों का अभाव था। वस्तुओं की कीमत तो कम हो गई थी किन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है, लगान, सूद और मजदूरी में उतनी शीघ्रता के साथ कमी या वृद्धि नहीं होती। अतः कृषि-जन्य पदार्थों की कीमत में अभूतपूर्व कमी हो जाने पर भी लगान,

मजदूरी तथा सूद की दर में कोई विशेष कमी नहीं हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि किसानों को उत्पादन-व्यय को प्राप्त करना भी दूभर हो गया। उन पर मानों वज्रपात हो गया।

बीसवाँ अध्याय

बटाई प्रथा

इस प्रथा के गुण-दोष पर विचार करने के पहले उसके वास्तविक स्वरूप को समझ लेना नितान्त आवश्यक है। बटाई प्रथा वास्तव में है क्या? साधारणतया किसान जमींदार को खेत का लगान रुपए-पैसे में चुकाता है। किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं होता। कहीं कहीं वह खेत की उपज का एक भाग ही लगान के रूप में देता है। वह केवल जमींदार के ही साथ ऐसा नहीं करता बल्कि ग्रामीण कारीगरों, जैसे बढ़ई-लोहार जो उसके कृषि के औजारों को बनाते तथा उनकी मरम्मत करते हैं, तथा अन्य प्रकार के सेवकों जिनमें नाई और धोबी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, को भी फसल का कुछ भाग ही देता है। किसानों द्वारा जोते गए खेतों के बदले में जमींदार को तथा ग्रामीण कारीगरों और अन्य प्रकार के सेवकों को उनकी सेवाओं के बदले फसल के कुछ भाग देने की प्रथा को ही बटाई प्रथा कहते हैं। इस प्रथा के सम्बन्ध में दो मुख्य बातें स्मरण रखनी होंगी। सर्व प्रथम इसका आशय पैदावार के बँटवारे से होता है। दूसरा यह कि इस बँटवारे में उन्हीं को हिस्सा मिलता है जो उत्पत्ति में किसी प्रकार की सहायता देते हैं अथवा किसानों की अन्य प्रकार की सेवाएँ करते हैं। अतः

वटाई प्रथा को हम निम्नांकित ढंग से परिभाषित कर सकते हैं-
वटाई प्रथा उस प्रथा को कहते हैं जिसके अनुसार कृषि की उपज उसमें सहयोग देनेवाले तथा किसान की अन्य प्रकार से सेवा करनेवाले व्यक्तियों में निश्चित भागों में बँट जाती है। इस प्रकार उपज में भाग लेनेवाले व्यक्तियों के आधार पर इसके तीन मुख्य भेद किए जा सकते हैं—

(१) जमींदार या भूमि-स्वामी के पुरस्कार देने में यह प्रथा काम में लाई जाती है। जमींदार या अन्य मौरूसी किसान अपनी जमीन, कुल या उसका कुछ भाग, किसान को इस शर्त पर देते हैं कि उनसे लगान रुपए पैसे में नहीं लेंगे वल्कि खेत में उत्पन्न होनेवाली फसल का एक हिस्सा लेंगे। जमीदारों में भी अधिकांश जमींदार अपनी कुछ भूमि पर स्वयं खेती करते हैं और कुछ जमीन वटाई पर किसानों को दे देते हैं। अपनी भूमि वटाई पर देने के पहले ही जमींदार और वटाई पर खेत लेने वाला किसान आपस में यह तय कर लेते हैं कि खेती के लिए आवश्यक बीज या हल-वैल कौन देगा। जहाँ किसान के ऊपर बीज और हल-वैल का भार होता है वहाँ प्रायः उपज का आधा हिस्सा जमींदार लेता है और आधा हिस्सा किसान लेता है। और यदि इन वस्तुओं की भी पूर्ति जमींदार ही करता है तो उस अवस्था में वहुधा वह दो तिहाई और किसान एक तिहाई भाग पैदावार का लेता है।

(२) वटाई प्रथा का दूसरा भेद वह है जिसका प्रयोग किसान ग्रामीण कारीगरों वढ़ई, लोहार आदि की कृषि-सम्बन्धी सेवाओं के पुरस्कार देने में करता है। अधिकांश गाँवों में यह देखा जाता है कि इन कारीगरों को रवी और खरीफ दोनों

फसलों के तैयार होने पर उसका एक निश्चित भाग दे दिया जाता है। बहुत ही कम ऐसे गाँव होंगे जहाँ इनको इनका पारिश्रमिक रुपए-पैसे में दिया जाता है।

(३) किसान को इन कारीगरों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के व्यक्तियों की सेवाओं की आवश्यकता दैनिक जीवन में होती हैं। इन सेवकों में से धोबी (कपड़ा धोनेवाला) और नाई सबसे मुख्य हैं। इनको भी पारिश्रमिक के रूप में फसल में से कुछ निश्चित भाग दे दिया जाता है।

बटाई प्रथा की दूसरी और तीसरी किस्मों में कुछ समानता है। दोनों प्रकार के व्यक्ति किसान की किसी न किसी प्रकार की सेवा ही करते हैं। किन्तु उनकी सेवाओं में महत्वपूर्ण अन्तर भी है। अन्तर यह है कि कारीगरों की सेवाएँ कृषि-कार्य में सहायक होती हैं। किन्तु धोबी-नाई जैसे सेवकों की सेवाओं से कृषि-कार्य में सहायता नहीं मिलती बल्कि उनसे किसानों की अन्य दैनिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है। इसी अन्तर को ध्यान में रखते हुए दोनों को दो श्रेणियों में रक्खा गया है। बटाई प्रथा की इन तीनों किस्मों में से सबसे अधिक महत्वपूर्ण पहली किस्म है। इसका विस्तृत वर्णन नीचे दिया जाता है।

जमींदार किस प्रकार अपनी जमीन बटाई पर उठाता है तथा इसकी दर का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यहाँ अब बटाई की दर के सम्बन्ध कुछ विस्तारपूर्वक विचार करना है। किसान और जमींदार के बीच उपज किस तरह बँटती है? उपज में दोनों का हिस्सा कैसे निश्चित होता है? दूसरे शब्दों में बटाई की दर के निर्धारण में किन-किन बातों का प्रभाव पड़ता है? इस सम्बन्ध में निम्नलिखित का विशेष प्रभाव पड़ता है—

(१) हल-बैल और बीज वगैरह आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति कौन करता है? इसका प्रभाव बटाई की दर निश्चित करने में पड़ता है। इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

(२) दूसरी चीज जिसका साधारणतया ख्याल रक्खा जाता है वह है भूमि की उत्पादकता या उपजाऊपन। यदि बटाई पर दी जानेवाली भूमि अधिक उपजाऊ हुई तो उससे पैदावार अच्छी होगी। अतः जमींदार ऐसी भूमि की पैदावार में अधिक भाग लेना चाहता है। बटाई की दर ऐसी अवस्था में ऊँची होती है। किन्तु यदि जमीन कम उपजाऊ हुई तो जमींदार सोचता है कि उससे जो ही मिल जाय वही अच्छा है। इस दशा में दर नीची होती है। इस सम्बन्ध में यह याद करने योग्य है कि साधारणतया जमींदार अच्छी जमीन की खेती स्वयं करते हैं और खराब भूमि को ही बटाई पर उठाने की चिन्ता में रहते हैं।

(३) तीसरी चीज जिसका प्रभाव बटाई की दर निश्चित करने में पड़ता है वह है बटाई पर दी जानेवाली **जमीन की मालगुजारी**। जहाँ खेत की मालगुजारी चुकाने का भार किसान पर रहता है वहाँ उपज में से जमींदार को कम भाग मिलता है और जहाँ जमींदार मालगुजारी स्वयं चुकाता है वहाँ वह उसका अपेक्षाकृत अधिक भाग लेता है। साधारणतया जमींदार ही खेत की मालगुजारी देता है। किन्तु कहीं-कहीं किसान के ही सिर पर मालगुजारी चुकाने का बोझ होता है।

(४) इस सम्बन्ध में **पुरानी परम्पराओं और रीति-रिवाज का भी विशेष प्रभाव पड़ता है**। बटाई-दर निश्चित करने में यह भी देखा जाता है कि पहले से क्या दर चली आती है। एक तरह से बाप-दादाओं द्वारा निश्चित की गई

दर को ही अधिकांश जमींदार आधार मानकर दर निश्चित करते हैं। यदि कोई खेत बहुत समय पहले से बटाई पर रहता चला आ रहा है और पहले उस खेत की उपज का चौथाई भाग जमींदार को मिलता था तो जमींदार को चौथाई या उससे कुछ ही अधिक मिलता है।

(५) अन्तिम, किन्तु महत्व की दृष्टि से अन्तिम नहीं, प्रभाव बटाई पर उठाई जानेवाली **भूमि की माँग और पूर्ति की सापेक्षिक जरूरत** (ralative urgency) **का भी पड़ता है**। यदि बटाई पर लेनेवाले किसानों की संख्या अधिक हुई और भूमि के लिए उनमें आपस में होड़ या चढ़ा-ऊपरी हुई तो जमींदार दर ऊँची कर देता है और जो सबसे अधिक भाग उपज का देने के लिए तैयार होता है उसे जमीन दे देता है। इसके विपरीत यदि बटाई पर लेनेवाले किसानों की संख्या कम हुई और जमींदार को भूमि पर बटाई की आवश्यकता अधिक हुई (अन्य शब्दों में, यदि वह बटाई पर जमीन उठाने के लिए गरजी हुआ) तो दर कम हो जाती है। माँग और पूर्ति की दशाओं में परिवर्तन के साथ बटाई की दर घटती और बढ़ती रहती है।

बटाई प्रथा के अन्तर्गत खेती की उपज में जमींदार का भाग निश्चित होने में ऊपर बताई गई बातों का प्रभाव पड़ता है। किन्तु बटाई की दर के सम्बन्ध में एक बात और याद रखनी होगी। केवल जमींदार ही अपनी भूमि बटाई पर नहीं उठाते। कभी-कभी काश्तकार भी अपनी जमीन बटाई पर उठाते हैं। यह तभी होता है जब कि किसान किसी कारण से खेती करने में असमर्थ होता है या उसके पास इतनी अधिक जमीन है कि उसके परिवार के लिए कुल खेतों पर खेती करना

सम्भव नहीं है तो वह अपनी जमीन का कुछ भाग बटाई पर उठा देता है। जमीन बटाई पर देनेवाला काश्तकार अपने हिस्से के उपज में से जमींदार को लगान चुकाता है। अतः उसका हिस्सा जमींदार को चुकाए जानेवाली रकम से अधिक होना चाहिए ताकि जमींदार का लगान भुगतान देने के बाद उसके लिए भी कुछ शेष रह जाय। यदि उपज की चौथाई लगान के रूप में देना होती है तो खेत को बटाई पर उठानेवाले काश्तकार को आधा या तिहाई भाग उपज का मिलना चाहिए। लेकिन ऐसे भी अवसर आ जाते हैं जब कि बटाई पर लेनेवाला कोई व्यक्ति जल्दी मिलता ही नहीं और काश्तकार स्वयं खेत को जोतने-बोने में असमर्थ होता है। विवश होकर वह जमींदार को चुकाए जानेवाले लगान से भी कम दर पर अपनी जमीन बटाई पर दे देता है। गरज आदमी से जो न करावे। ऐसी दशा में बटाई पर जमीन उठानेवाले किसान को अपनी जेब से खेत के लगान का कुछ भाग देना पड़ता है।

आइए, अब बटाई-प्रथा के गुण-दोष पर बारी-बारी से विचार करें।

बटाई-प्रथा के गुण

बटाई-प्रथा के किसानों को कतिपय लाभ होते हैं। किसानों के हित की दृष्टि से बटाई-प्रथा नकद लगान की प्रथा से अच्छी है। क्यों? इसलिए कि चाहे खेत में कुछ पैदा हो या न हो लगान की नकद-प्रथा में किसान को अपना लगान जमींदार को चुकाना ही होगा। किन्तु बटाई की प्रथा की दशा में किसान और जमींदार दोनों ही फसल के खराब या नष्ट हो जाने का

खतरा बर्दाश्त करते हैं। खेती में प्राकृतिक कारणों का विशेष प्रभाव पड़ता है। कभी समय पर पानी न बरसने के कारण, कभी अत्यधिक पानी बरसने के कारण, कभी पाला या ओले पड़ जाने के कारण अचानक अच्छी-से-अच्छी लगी हुई फसलें नष्ट हो जाती हैं। बटाई-प्रथा के अन्दर इसका परिणाम किसान और जमींदार दोनों सहन करते हैं क्योंकि फसल पर ही तो प्रत्येक का भाग निर्भर करता है। यदि फसल अच्छी होगी तो दोनों को अधिक प्राप्त होगा और यदि फसल खराब हुई तो दोनों को अपेक्षाकृत कम मिलेगा। अतः किसानों के दृष्टिकोण से यह प्रथा नकद लगान प्रथा से अच्छी हुई।

दूसरी अच्छी विशेषता बटाई-प्रथा की यह है कि लगान के नकद-प्रथा में जमींदार किसान के लिए आवश्यक हल-बैल और बीज आदि का देनदार नहीं होता। उसे तो केवल अपने लगान से मतलब होता है चाहे किसान का खेत परती रहे या या उसमें अन्न बोया जाय। किन्तु बटाई-प्रथा में ऐसा नहीं होता। यदि किसान के पास आवश्यक साधनों की कमी या बिल्कुल अभाव होता है तो उन सबकी पूर्ति जमींदार अवश्य करता है जिससे किसान की असमर्थता के कारण खेतों के बेकार पड़े रह जाने की सम्भावना नहीं होती। यह सच है कि इसके लिए वह उपज का कुछ अधिक भाग लेता है किन्तु किसान को आवश्यक साधनों की पूर्ति के सम्बन्ध में निश्चिन्तता तो रहती है।

बटाई-प्रथा की तीसरी विशेषता, जो किसानों के हित की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, यह है कि इसमें उपज को बिक्री-सम्बन्धी कठिनाइयाँ कम हो जाती हैं। पिछले किसी अध्याय में किसानों को अपने अन्न की बिक्री में कितने प्रकार की मुसीबतों का

सामना करना पड़ता है तथा वह किस प्रकार पग-पग पर ठगा जाता है इत्यादि का उल्लेख किया जा चुका है। नकद लगान-प्रथा में फसल के तैयार होते ही उसको बेचना किसान के लिए आवश्यक होता है क्योंकि जमींदार को लगान रुपयों में चुकाना होता है। किन्तु बटाई-प्रथा के अन्दर यह आवश्यकता उत्पन्न नहीं होती। फसल में से जमींदार अपना निश्चित हिस्सा ले लेता है। अतः उस समय वह अपना अनाज भेजने के लिए विवश नहीं होता। अनाज बेचने का वह समय भी उपयुक्त नहीं होता क्योंकि उस समय पूर्ति की अधिकता के कारण तथा बेचनेवालों के लिए जरूरी शीघ्रता के कारण बाजार-भाव गिरा हुआ होता है। बटाई-प्रथा द्वारा किसान इन असुविधाओं से बच जाता है जिससे वह आर्थिक-दृष्टि से लाभान्वित भी होता है। वह अपने हिस्से की उपज को उस समय तक रख सकता है जब बाजार-भाव ऊँचा हो जाता है। अतः बटाई-प्रथा किसानों को उनकी उत्पन्न वस्तु की उचित कीमत प्राप्त करने की सुविधा प्रदान करती है।

किसानों की दृष्टि से अन्तिम लाभ-प्रद बात बटाई-प्रथा के अन्तर्गत यह है कि इसमें किसानों को अनुचित प्रकार से उपज में अपना हिस्सा अधिक कर लेने के अवसर भी प्राप्त होते रहते हैं। प्रत्येक समय जमींदार या बटाई देनेवाला खेती की विभिन्न क्रियाओं के सम्पादन के स्थानों पर उपस्थित नहीं होता अतः किसान को चोरी करने का अवसर प्राप्त होता रहता है। इससे वह अपना हिस्सा बेईमानी और चोरी के द्वारा अधिक कर सकता है।

नैतिक दृष्टि-कोण से यह विशेषता अच्छी नहीं कही जा सकती। इसका बुरा प्रभाव समाज पर पड़ता है। धोखेबाजी,

बेईमानी और चोरी की बुरी तथा विनाशकारी आदतें बढ़ती हैं। किन्तु इसका उल्लेख केवल इसलिए कर दिया गया कि आर्थिक-दृष्टि से किसानों के लिए अपना हिस्सा बढ़ा लेने का अवसर मिल जाता है।

किसानों की विचार-दृष्टि से बटाई-प्रथा द्वारा होनेवाले जो लाभ बताए गए हैं जमींदारों के दृष्टि-कोण से वे ही हानि का रूप धारण कर लेते हैं। जमींदार के लिए नकद लगान की प्रथा ही सर्वोत्तम होती है। नकद लगान की प्रथा में जमींदार को निश्चित लगान मिलता रहता है चाहे फ़सल ख़राब हो या अच्छी। बटाई-प्रथा में फसल ख़राब हो जाने पर उसे घाटा होता है। इसी तरह नकद लगान-प्रथा में उसे हल, बीज़ इत्यादि का कुछ प्रबन्ध नहीं करना होता है किन्तु बटाई-प्रथा में यदि किसान के पास इनका अभाव हुआ तो उसकी भी कुछ-न-कुछ व्यवस्था जमींदार को करनी पड़ती है। इसी प्रकार बटाई-प्रथा की स्थिति में जमींदार के किसानों की बेईमानी और चोरी से ठगे जाने की सम्भावना रहती है। इस तरह हम देखते हैं कि बटाई-प्रथा से किसानों को जो लाभ होते हैं वे ही जमींदार के हित की दृष्टि से हानि का रूप धारण कर लेते हैं। यही कारण है कि ज़मींदार नकद लगान-प्रथा को अधिक पसन्द करते हैं।

इस सम्बन्ध में यह बता देना उचित ही होगा कि किसानों की संख्या अधिक होती है। भारतीय समाज का अधिकांश भाग उन्हीं से बना होता है। इसके विपरीत जमींदारों की संख्या बहुत कम होती है। जमींदार प्रायः धनी व्यक्ति होते हैं। उनके पास साधनों की विपुलता होती है। लेकिन किसान निर्धन होता है। अतः सामान्य तौर पर जिस बात से किसानों

को अधिक लाभ पहुँचे वही हमारे समाज के लिए अधिक कल्याणकारी समझा जाना चाहिए क्योंकि इससे उसके अधिक भाग को लाभ होता है। अतः यह कहना बिल्कुल ठीक है कि वर्तमान परिस्थिति में बटाई-प्रथा नक़द लगान प्रथा से अच्छी है। इस सम्बन्ध में यह भी याद रहे कि बटाई-प्रथा के द्वारा उन सब व्यक्तियों, जो किसी कारण से खेती करने में असमर्थ होते हैं, का भी अधिक हित होता है। इन असहाय व्यक्तियों की श्रेणी में विधवा स्त्रियों तथा नाबालिगों (minors) का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि बटाई प्रथा सर्वथा त्रुटि-शून्य है। इसकी त्रुटियों के सम्बन्ध में तीन बातें खास कर नोट करने लायक हैं। सर्व प्रथम बात यह है कि खेत की उपज बढ़ाने के लिए किसान द्वारा किए गए प्रयत्नों का पूरा पुरस्कार उसे नहीं मिलता। जमींदार भी उसमें हिस्सा बँटा लेता है। अतः किसान को पर्याप्त मात्रा मात्रा में उपज बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए यह आवश्यक है कि इस प्रकार की वृद्धि में जमींदार को कोई हिस्सा न मिले। दूसरी बात यह है कि बटाई प्रथा की दशा में किसान का जमीन में कोई अधिकार नहीं होता। अतः किसानों को खेतों में हक मिलना चाहिए। इस सम्बन्ध में सन् १६४० के बंगाल कमीशन द्वारा बंगाल प्रान्त के बटाई पर खेती करनेवाले बरगादार किसानों के लिए की गई सिफारिश की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है जिसमें उसने इन किसानों का खेत में हक देने की सम्मति प्रकट की थी। हमारे प्रान्त संयुक्त प्रदेश में प्रत्येक किसान को लगातार पाँच साल तक खेती करने का हक मिल गया है। तीसरी त्रुटि यह है कि जमींदार द्वारा सरकार को

चुकाई जानेवाली मालगुजारी की तुलना में बटाई की दर बहुत ऊँची पड़ती है जिसके कारण किसानों की दशा बहुत ही शोचनीय है। अतः इसे कम कर देने की आवश्यकता है ताकि निर्धन किसान को कुछ अधिक मिल सके और वह अपनी आर्थिक स्थिति ठीक कर सके।

बटाई-प्रथा की अन्य किस्में

आरम्भ में बटाई प्रथा की तीन किस्में बताई गई थीं। उनमें पहली और सबसे अधिक महत्वपूर्ण का वर्णन हो चुका। अब हमें दूसरी और तीसरी किस्मों की ओर ध्यान देना है। दूसरी और तीसरी किस्मों में किसान के अलावे उपज में हिस्सा बँटाने वालों में बढ़ई, लोहार, धोबी और नाई का काम खासकर उल्लेखनीय है। बढ़ई और लोहार कृषि-कार्य में सहायता करते हैं। वे किसानों के हल, कुदाल, खुरपी और कृषि के अन्य औजारों को बनाते तथा उनकी मरम्मत करते हैं। इसके बदले में उन्हें फसल का कुछ भाग मिलता है। यह भाग लगान नहीं है बल्कि उनके श्रम की मजदूरी होती है। इसी प्रकार धोबी साल भर तक किसानों के परिवार का कपड़ा धोता है। नाई उनकी हजामत बनाता है। उनकी इन सेवाओं के पुरस्कार के बदले में उन्हें भी फसल में कुछ भाग मिलता है। यह भाग भी उनके श्रम की मजदूरी ही होती है।

अस्तु, बटाई की पहली और इन (अर्थात् दूसरी और तीसरी) किस्मों का अन्तर बिल्कुल स्पष्ट है। पहली बटाई में किसान फसल का जो भाग देता है वह लगान की एक शक्ल होती है। अन्तर केवल इतना होता है कि लगान में साधारणतया कमी नहीं की जाती और फसल की अच्छी या बुरी होने का कुल

परिणाम किसान ही को भुगतना पड़ता है। परन्तु बटाई प्रथा में, जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, जमींदार को भी फसल की अच्छी या बुरी दशा का फल भोगना पड़ता है। दूसरी और तीसरी किस्म की बटाई में किसान फसल का जो भाग देता है वह उन भागों के प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की कृषि-सम्बन्धी सेवाओं या अन्य प्रकार की सेवाओं, जिनकी किसान को दैनिक जीवन में आवश्यकता पड़ा करती है, की मजदूरी के रूप में चुकाना पड़ता है। संक्षेप में प्रथम प्रकार की बटाई का अन्न लगान होता है, दूसरी और तीसरी प्रकार की बटाई का अन्न मजदूरी है।

दूसरी और तीसरी बटाई की किस्मों में बटाई की दर मुख्यतः परम्परागत होती है। रीति-रिवाज इस सम्बन्ध में जो पूर्वजों के समय से चले आते हैं उन्हीं का पालन अब तक होता चला जा रहा है। देश के विभिन्न भागों में वहाँ की परम्पराओं के अनुसार बढ़ई, लोहार, नाई, धोबी आदि का किसान की फसल में अलग-अलग हिस्सा होता है। धोबी को छोटे बच्चों और विधवा स्त्रियों के कपड़े धोने के बदले कुछ भी अन्न नहीं दिया जाता। इसी प्रकार नाई को छोटे बच्चों की हजामत बनाने के बदले भी कुछ नहीं दिया जाता। परिवार के केवल प्रौढ़ व्यक्तियों की संख्या पर नाई का हिस्सा निर्भर करता है। बढ़ई और लोहार को दिए जाने वाले अन्न का निर्धारण प्रायः हलों की संख्या पर निर्भर करता है। प्रति हल (plough) के हिसाब से दर निश्चित होती है और उसी हिसाब से प्रत्येक किसान द्वारा चुकाए जानेवाले अन्न का परिमाण निकाल लिया जाता है। जिस किसान के पास एक ही हल-बैल की खेती होती है वह प्रति हल-बैल की खेती के लिए

परम्परा द्वारा निश्चित परिमाण में अन्न देता है, जिसके पास दो हल-बैल की खेती होती है वह उसका दुगुना देता है और इसी प्रकार यह क्रम चलता रहेगा। परम्परागत होने के कारण इनमें बहुत कम परिवर्तन होता है। प्रायः एक ही दर कई पीढ़ियों तक एक ही स्थान में चलती रहती है। यदि कई पीढ़ियों के बाद उनमें कुछ परिवर्तन भी होता है तो वह भी परम्परागत दर के आधार पर ही। इनके अपेक्षाकृत दीर्घ काल तक स्थिर रहने के कारण कारीगरों और अन्य सेवकों पर बहुत आर्थिक प्रभाव पड़ता है। महँगी के समय में इनकी हालत अच्छी रहती है और सस्ती के समय में खराब होती है।

इक्कीसवाँ अध्याय

भूमि का बन्दोबस्त

पिछले कुछ अध्यायों में जमींदार, किसान और लगान आदि शब्दों का प्रयोग बार-बार आया है। इस अध्याय में भूमि के बन्दोबस्त तथा जमींदार और किसान के पारस्परिक सम्बन्ध के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया जायगा। सर्व-प्रथम हमें 'भूमि के बन्दोबस्त' का अर्थ समझ लेना होगा।

भूमि-बन्दोबस्त का अर्थ

बन्दोबस्त का शाब्दिक अर्थ है प्रबन्ध करना। अतः भूमि के बन्दोबस्त का अर्थ हुआ भूमि का प्रबन्ध करना। भूमि के बन्दोबस्त से बहुत-सी बातों का बोध हो सकता है। किन्तु

इसका एक विशिष्ट अर्थ है और साधारणतया उससे इसी अर्थ का बोध होता है।

प्रबन्ध की कल्पना बिना प्रबन्धक के असम्भव है। उसी प्रकार बन्दोबस्त की कल्पना में उसके कर्ता की कल्पना निहित होती है। भूमि का बन्दोबस्त सरकार द्वारा होता है। बन्दोबस्त का ध्येय निम्नलिखित होता है:—

(१) सरकार को मिलनेवाले भूमि के लगान, जिसे मालगुजारी कहते हैं (land revenue) को निर्धारित करना।

(२) भूमि का लगान चुकानेवाले व्यक्तियों को निश्चित करना।

(३) भूमि में किसानों आदि के व्यक्तिगत अधिकारों की लिखा-पढ़ी करना और हिसाब रखना।

इस तरह भूमि के बन्दोबस्त का अर्थ है सरकार द्वारा किए जानेवाले उस प्रबन्ध से जिसके अनुसार लगान की दर, लगान चुकानेवाले व्यक्तियों और किसानों के भूमि सम्बन्धी व्यक्तिगत अधिकारों का निर्धारण होता है।

सरकार को मालगुजारी चुकाने की दो मुख्य प्रथाएँ हमारे देश में हैं—जमींदारी प्रथा और रैय्यतवारी प्रथा।

जमींदारी प्रथा—इस प्रथा के अन्तर्गत किसान सीधे सरकार को लगान नहीं चुकाता, वह अपने जोते हुए खेत का लगान जमींदार को चुकाता है। अपने किसानों से जमींदार जो लगान प्राप्त करता है उसका ४० या ५० प्रतिशत भाग वह सरकार को मालगुजारी के रूप में देता है। किसान अपनी भूमि का स्वामी नहीं होता। भूमि का स्वामित्व जमींदार को होता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि किसान को कोई

अधिकार ही नहीं प्राप्त होता। उनकी कई श्रेणियाँ होती हैं और प्रत्येक श्रेणी के भिन्न-भिन्न अधिकार होते हैं। साधारणतया निम्नलिखित प्रकार के किसान या काश्तकार होते हैं:—

(१) स्थायी दर से लगान देनेवाले किसान (fixed-rate tenants)—इनका लगान स्थायी तौर से निश्चित होता है और जब तक वे उसका भुगतान करते रहेंगे, जमींदार उन्हें भूमि से निकाल नहीं सकता। न तो लगान में ही वह घटती-बढ़ती कर सकता है।

(२) मौरूसी काश्तकार (occupancy tenant)—को अपनी भूमि गिरवी रखने और बेचने का अधिकार होता है। इनके लगान की दर बन्दोबस्त के समय निश्चित की जाती है। जब तक वे अपना लगान चुकाते रहते हैं, जमीन पर उनका पूरा अधिकार रहता है और उससे वे जमींदार द्वारा बेदखल नहीं किए जा सकते। सरकार ही इनके लगान को घटा या बढ़ा सकती है।

(३) कानूनी काश्तकार (statutory tenant)—को उसके जीवन भर या कुछ निश्चित वर्षों तक जमीन से जमींदार बेदखल नहीं कर सकता। हमारे संयुक्त-प्रान्त में ऐसा ही है। यदि सरकार द्वारा निर्धारित लगान इस प्रकार के काश्तकार जमींदारों को चुकाते रहें तो वे अपनी जिन्दगीभर खेत से बेदखल नहीं हो सकते। किसान के मरने के बाद उसका उत्तराधिकारी भी पाँच वर्ष तक बेदखल नहीं किया जा सकता है। अवध में ऐसे काश्तकारों को केवल दस वर्ष तक बेदखल नहीं किया जा सकता। काश्तकारी के नए कानून के अनुसार कानूनी काश्तकारों को मौरूसी काश्तकारों के सब अधिकार मिल गए हैं।

गैरमौरूसी काश्तकार (non-occupancy tenant)—इस श्रेणी के काश्तकारों का खेत पर कोई विशेष अधिकार नहीं होता। जमींदारों की सीर या खुदकाश्त जमीन को ये लोग जोतते-बोते हैं। जमींदार इनके लगान में अपने इच्छानुसार कमी या वृद्धि कर सकता है और बड़ी सुगमता से उन्हें खेत से बेदखल कर सकता है।

शिकमी दर शिकमी काश्तकार (sub-tenant)—की श्रेणीवाले किसानों के पास अपनी जमीन नहीं होती। वे अन्य काश्तकारों की जमीन बटाई या निश्चित लगान पर जोतते हैं। इनका लगान काश्तकारों के सुविधानुसार कम या अधिक किया जा सकता है तथा ये लोग खेतों से बहुत सुगमता के साथ बेदखल किए जा सकते हैं। इनका खेत पर कोई खास अधिकार नहीं होता।

(२) **रैयतवादी प्रथा** में खेत जोतनेवाले और सरकार के बीच कोई मध्यवर्ती व्यक्ति नहीं होते। किसान अपने खेतों की मालगुज़ारी सीधे सरकार को देते हैं। वे अपने खेत पर पूरा अधिकार रखते हैं। मालगुजारी की दर बन्दोबस्त के समय निश्चित की जाती है। यह प्रथा विशेषकर मद्रास और बम्बई प्रान्तों में विशेष रूप से पाई जाती है।

अवधि के अनुसार बन्दोबस्त दो प्रकार के होते हैं—(१) **स्थायी बन्दोबस्त** (२) **अस्थायी बन्दोबस्त**। स्थायी बन्दोबस्त के अनुसार जमींदार द्वारा सरकार को चुकाई जानेवाली मालगुजारी की रकम और किसान द्वारा जमींदार को भुगतान किए जानेवाले लगान की दर सदा के लिए एक ही बार तय कर दी जाती है। समय के साथ उसमें कमी नहीं हो सकती। जब तक जमींदार अपनी निश्चित मालगुज़ारी

सरकार को देता रहेगा और किसान जमींदार को अपनी लगान चुकाता रहता है तब तक उसका अधिकार खेत पर बना रहता है और कोई उसको हटा नहीं सकता।

अस्थायी बन्दोबस्त प्रत्येक बीसवें या तीसवें साल पर सरकार द्वारा नया बन्दोबस्त होता रहता है। इसमें मालगुजारी और लगान की दर सदा के लिए निश्चित नहीं रहती जैसा कि स्थायी बन्दोबस्त में होता है। प्रत्येक नए बन्दोबस्त के समय लगान और मालगुजारी की दर में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है और किया भी जाता है। यदि स्थिति में कोई विशेष महत्वपूर्ण अन्तर पीछे के वर्षों से नहीं होता तो पिछले बन्दोबस्त के समय निश्चित मालगुजारी और लगान की दर बनी रहती है।

किसानों के साथ जमींदार का व्यवहार

जमींदार का व्यवहार साधारणतया अपने किसानों के साथ अच्छा नहीं होता। यह बात सब जानते हैं। जमींदार हर प्रकार के सम्भव उपायों से अपने किसानों के शोषण करने की फिराक में रहता है। उसके अनुचित व्यवहार का अनुमान निम्नलिखित बातों से लगाया जा सकता है:—

वह अधिक से अधिक लगान वसूल करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है और किसानों की असहायता के कारण वह प्रायः सफल भी रहता है। लगान अधिक लेने की कोशिश ही तक बात नहीं रह जाती। लगान वसूल करने का ढङ्ग भी आपत्तिजनक होता है। बहुधा जमींदार गाँवों में नहीं रहते। गाँवों में भोग-विलास और विभिन्न प्रकार के आधुनिक मनोरञ्जन के साधनों का सर्वथा अभाव होता है। वे शहरों में ही

रहते हैं। उनकी अनुपस्थिति में उनके नौकर-चाकर ही लगान वसूल करने का काम करते हैं। वे बड़े ही निठुर और हृदयहीन व्यक्ति होते हैं। वे बड़ी कड़ाई से काम लेते हैं। उनसे विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ दही, दूध, फल-फूल इत्यादि नाजायज तरीके से वसूल करते हैं। यदि वे समय पर लगान चुकाने में, जैसा कि बहुधा होता है, असमर्थ होते हैं तो लगान चुकाने के लिए कुछ घूस देने पर ही मोहलत मिल सकती है।

जहाँ जमींदार गाँव में रहता है वहाँ भी उसका व्यवहार किसानों के साथ ठीक नहीं होता। वह भी इन्हीं अनुचित तरीकों से किसानों के साथ पेश आता है। उससे तरह-तरह के काम कराए जाते हैं जिनको इन्हें मजदूरी नहीं दी जाती। इस प्रकार जमींदार जो श्रम अपने किसानों से कराता है उसे बेगार कहते हैं। जहाँ जमींदार के यहाँ स्वयं कुछ खेती होती है वहाँ किसानों को 'हली' देनी पड़ती है, अर्थात् किसानों को अपने हल-बैल से जमींदार महोदय के खेतों को जोतना पड़ता है जिसके बदले में उन्हें कुछ मिलता नहीं है। यह भी एक प्रकार का बेगार ही है। इसके अतिरिक्त शादी-ब्याह या अन्य अवसरों पर उनसे तरह-तरह की रकमें नजराने के रूप में ली जाती हैं। इन किसानों की अपनी आर्थिक स्थिति स्वयं बहुत शोचनीय होती है किन्तु जमींदार और उसके कारिन्दों की अनुचित हरकतों के कारण उनकी दशा और शोचनीय होती जाती है। यह सच है कि जमींदारों में भी बहुत से ऐसे जमींदार हैं जो अपने किसानों का बहुत ही अधिक ख्याल रखते हैं, उनकी दशा सुधारने के लिए उनको तरह-तरह की सुविधाएँ देते हैं और किसी प्रकार का शोषण करना पसन्द नहीं करते। किन्तु ऐसे जमींदारों की संख्या कितनी होगी? हजारों में एक।

जमींदार वर्ग तो किसानों का शोषण ही करता चला आ रहा है और कृषि की उन्नति में बहुत कुछ अंशों में बाधक रहा है। यही कारण है कि देश के प्रत्येक कोने से इसके नाश की आवाज उठाई जा रही है। जमींदारी प्रथा के अन्त करने के लिए विभिन्न प्रान्तीय सरकारें तीव्र गति से कार्य कर रही हैं। यदि जमींदार-वर्ग किसानों को अपना दास नहीं समझता तथा उनके साथ मनुष्योचित व्यवहार करता तो ऐसी नौबत ही क्यों आती? किन्तु जमींदारवर्ग ने अपने कर्तव्यों का पालन नहीं किया और उसके दुष्परिणामों के कारण ही निकट-भविष्य में उस प्रथा की समाप्ति हो जायगी। यह प्रथा स्वयं इतनी बुरी नहीं है जितना कि इसका व्यवहारिक रूप हमारे देश में रहा है। जमींदार को अपने कृषकों के साथ पथ-प्रदर्शक, मित्र तथा दार्शनिक जैसा व्यवहार करना चाहिए था इससे वह अपनी स्थिति तथा अपने किसानों की स्थिति को ऊपर उठाने में सहायक हो सकता था। खेती में दिलचस्पी लेकर उसकी दशा सुधार सकता था तथा उससे अपना, अपने किसानों का और अपने देश तथा समाज का बहुत ही अधिक कल्याण कर सकता था। किन्तु दुर्भाग्यवश उसने तो किसानों का शोषण करना और उनके पसीने की कमाई इस शोषण द्वारा हड़प करके भोग-विलास में जीवन व्यतीत करना ही अपना मुख्य कर्तव्य समझ रक्खा था। यही कारण है कि उसका भविष्य इतना अन्धकारमय और नितान्त निराशाजनक है। उसके बचाव का कोई रास्ता नहीं रह गया है।

बाइसवाँ अध्याय

पटवारी के कागजात

भूमि और लगान से सम्बन्ध रखनेवाले सरकारी कर्मचारियों में पटवारी का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में वही लगान-शासन-व्यवस्था (Revenue Administration) की बुनियाद होता है। गाँव के किसान और छोटे जमींदार भी उससे भयभीत रहते हैं और उसका किसी बात में विरोध करने की हिम्मत नहीं करते। पटवारी का काम भूमि-सम्बन्धी कागजात (records) का रखना है। इन कागजात को लैण्ड-रेकर्डस् कहते हैं। जमींदार, किसान और सरकार तीनों के लिए इन कागजात का बहुत ही अधिक महत्व होता है। इनके महत्व के कारण ही उनका बिल्कुल सही होना जरूरी होता है। उनकी थोड़ी गड़बड़ी से बहुत बड़ी और विकट समस्याएँ पैदा हो सकती हैं। इसलिए उनमें जो कुछ दर्ज किया जाय उसका बिल्कुल सही होना नितान्त आवश्यक होता है। अतः सर्वसाधारण के लिए इन कागजात की जानकारी भी बहुत जरूरी होती है। पटवारी अपने हल्के या इलाके की समस्त भूमि का पूरा विवरण इन कागजात में रखता है और वह पक्का माना जाता है। खेतों के क्षेत्रफल, अधिकारी या लगान-मालगुजारी सब वही दर्ज करता है। यही कारण है कि क्या जमींदार क्या काश्तकार सब उससे डरते हैं तथा उसका विरोध करने की हिम्मत नहीं करते।

पटवारी के मुख्य कागजात निम्नलिखित हैं:—

(१) खसरा।

(२) खतौनी।

(३) खेवट।
(४) स्याहा।
(५) वहीखाता जिन्सवार।
(६) शजरा मिलान।

पटवारी के कागजात छपे हुए फार्मों पर लिखे हुए होते हैं। पटवारी उन्हें रजिस्ट्रार काननूगो के यहाँ से प्राप्त करता है। रजिस्ट्रार कानूनगो के पास ये कागजात सरकार की ओर से आते हैं और वही उनका वितरण पटवारियों में आवश्यकतानुसार करता है।

खसरा

खसरा पटवारी के कागजात में से एक मुख्य कागज होता है। इसमें जमीन का पूरा हाल लिखा होता है। इसमें प्रत्येक खेत का नम्बर, क्षेत्रफल, किसान का नाम और उसकी जाति, लगान, सिंचाई का तरीका आदि सब जरूरी बातें दर्ज होती हैं। नियमानुसार खसरा ३० अप्रैल तक अवश्य तैयार हो जाना चाहिए। पटवारी इसे एक वर्ष तक अपने पास रखता है और फिर दूसरे वर्ष २१ अगस्त तक रजिस्ट्रार के दफ्तर में जमा कर देता है। प्रत्येक गाँव का खसरा अलग-अलग होता है। यदि किसी पटवारी के इलाके में पाँच-पाँच गाँव हुए तो उसके पास पाँचों गाँवों के अलग-अलग खसरे होते हैं।

खतौनी

पटवारी का वह रजिस्टर होता है जिसमें कब्जे के मुताबिक किसानों का नाम दर्ज होता है। खतौनी में जमींदारों और किसानों के सब खेत एक जगह लिखे होते हैं। इसके अलावे लगान का भी हिसाब उसमें होता है। हर साल खेतों

के निरीक्षण करते समय जो परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं वे सब खतौनी में ही दर्ज किए जाते हैं।

खेवट

पटवारी के कागजात में खेवट का भी बड़ा ही महत्व होता है। यह मुहालवार तैयार किया जाता है। यह प्रत्येक मुहाल के दखलकारों (proprietors) का रजिस्टर होता है। प्रत्येक मुहाल का खेवट पृथक्-पृथक् होता है। इसमें रकबे के सब मालिकों का हर एक हक लिखा होता है। केवल हक ही नहीं लिखा होता बल्कि यह भी लिखा होता है कि यह हक कितना और किस प्रकार का होता है। रकबे के दखलकारों के अलावे इसमें ठेकेदार और स्वामित्व अधिकार के गिरवी रखने वाले भी सम्मिलित होते हैं। खेवट प्रत्येक मुहाल के लिए चार साल के लिए बनाया जा सकता है। खेवट के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि इसमें पटवारी स्वयं किसी प्रकार का परिवर्तन अपने आप नहीं कर सकता है। खेवट में किसी भी प्रकार का परिवर्तन रजिस्ट्रार कानूनगो की आज्ञा से ही किया जाता है। प्रत्येक हेर-फार पर रजिस्ट्रार कानूनगो को अपना हस्ताक्षर करना पड़ता है और उन सबके लिए वही उत्तरदायी होता है।

स्याहा

स्याहा पटवारी के उस कागज़ को कहते हैं जिसमें वह जमींदार के कागजात देखकर लगान की वसूली दर्ज करता है।

वही खाता जिन्सवार

इसमें लगान का हिसाब लिखा जाता है। किस प्रकार से लगान लिया जाता है यह भी इसमें दर्ज रहता है।

शजरा मिलान

यह गाँव के खेतों तथा मकानों का नकशा होता है। साधारणतया यह मोमजामें के कपड़े या टिकाऊ कागज पर बना होता है। प्रत्येक खेत के नकशे में उसका नम्बर भी लिखा होता है। खेतों की खरीद-विक्री होती रहती है जिसके कारण आराजी की हालत वदलती रहती है। अतः समय-समय पर इस नक़शे में भी परिवर्तन होता रहता है। इसके लिए पटवारी को प्रत्येक खेत की जाँच करनी पड़ती है। साल भर के अन्दर उसमें जो परिवर्तन हुए होते हैं उनका पूरा विवरण वह लिख लेता है। शजरा मिलान में खेतों के अलावे तालाब, बाग और कुएँ आदि भी दिखाए जाते हैं।

तेइसवाँ अध्याय

ग्रामीण समस्याएँ

भारतवर्ष गाँवों का देश है। समस्त देश (हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों को मिला कर) में लगभग ७००००० (सात लाख) गाँव हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हमारे देश में वड़े-वड़े शहर नहीं हैं। वड़े शहरों की संख्या तो केवल सैकड़े में ही होगी किन्तु छोटे शहरों की संख्या सहस्रों में पहुँच सकती है। गाँवों की संख्या की तुलना में शहरों की संख्या नगण्य है। अतः भारतवर्ष को गाँवों का देश कहना विल्कुल उचित है। कृषि ही यहाँ के लोगों का मुख्य धन्धा है। देश के लगभग तीन चौथाई व्यक्ति कृषि पर ही आश्रित हैं। हमारे

देश में गन्ने की खेती दुनियाँ के सब देशों से अधिक होती है। धान की खेती क्षेत्रफल के विचार से हमारे देश का दुनिया में द्वितीय स्थान है। रुई के उत्पादन में केवल यह अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र से पीछे है। मूँगफली के उत्पादन में हमारा देश सबसे आगे तथा तेलहन के उत्पादन के दृष्टिकोण से इसका दूसरा स्थान है। जूट और लाह (lac) का तो उसे एकाधिकार (monopoly) ही प्राप्त है। चीन के बाद भारत ही में सबसे अधिक चाय उत्पन्न होती है। पालतू पशुओं की संख्या भी हमारे यहाँ सब देशों से अधिक है। इन सबसे स्पष्ट है कि कृषि हमारे यहाँ का मुख्य उद्योग है। अतः भारतीय आर्थिक स्थिति का सच्चा अनुमान इन गाँवों की सामान्य आर्थिक दशा के ज्ञान के बाद ही लगाया जा सकता है। गाँव ही हमारे देश की और ग्रामीण जनता ही हमारे समाज की बुनियाद है। भारत की उन्नति का अर्थ होता है इन गाँवों की उन्नति। यही कारण है कि राष्ट्र-पिता गांधी जी गाँवों और उसकी समस्याओं की ओर सबसे अधिक ध्यान देते रहे हैं। उनका यह कहना कि वास्तविक भारत का सच्चा ज्ञान कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कानपुर आदि शहरों के देखने से नहीं प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए तो हमें अपने को शहरों की ओर से गाँवों तथा देहात की ओर मोड़ना होगा।

यह सच है कि भारतवर्ष गाँवों का देश है और यहाँ की लगभग ६०% जनता इन गाँवों में ही निवास करती है। किन्तु वास्तव में इनकी स्थिति इतनी शोचनीय है कि शहर-निवासियों के लिए उसकी कल्पना करना कठिन कार्य है। एक समय था जब कि हमारे गाँव हर प्रकार से सुखी थे। उनमें आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्त, स्वस्थ और शिक्षित व्यक्ति निवास करते थे।

किन्तु वह समय बहुत पहले का था जब कि भारतवर्ष सोने की चिड़िया के नाम से दुनिया में विख्यात था तथा यहाँ के कृषि-जन्य पदार्थ तथा विभिन्न प्रकार की उत्कृष्ट दस्तकारियों की बनी हुई वस्तुएँ दुनिया के बाजारों में बिकती थीं। उस समय खेती और दस्तकारियाँ दोनों में हमारा देश दुनिया के लिए पथ-प्रदर्शक था। किन्तु इससे क्या? उसकी वर्तमान अवस्था उतनी ही दयनीय और असन्तोषजनक है जितनी कुछ शताब्दियों पूर्व उत्साहवर्द्धक और सजीव थी। हमारी कृषि दुनिया के अन्य उन्नत देशों की कृषि से बहुत पीछे है। आजकल के वैज्ञानिक युग में, जब कि उत्पादन-प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गए हैं, हमारा खेती का ढंग वही शताब्दियों का पुराना ढंग है जो आधुनिक युग के अनुकूल नहीं पड़ता तथा जिसके कारण हम खाद्य पदार्थों के लिए दूसरे देशों पर आश्रित हैं। इस सम्बन्ध में बर्मा (Burma) से आनेवाले चावल का स्मरण आ जाना स्वाभाविक है। द्वितीय महायुद्ध के सिलसिले में इसका भयंकर अनुभव देश को हुआ। जापानियों के बर्मा पर अधिकार स्थापित कर लेने के बाद बर्मा से चावल की पूर्ति बन्द हो गई और खाद्य संकट गम्भीर हो गया। इस स्थिति का सामना करने के लिए भारत-सरकार को समस्त देशी साधनों के उत्तमोत्तम उपयोग करने के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ा तथा साथ ही साथ अमेरिका के संयुक्त-राष्ट्र, आस्ट्रेलिया इत्यादि देशों से खाद्य पदार्थों का आयात करना पड़ा और अभी तक करना पड़ रहा है। इस तरह करोड़ों और अरबों रुपए देश के बाहर चले जा रहे हैं। यदि हमारे देश की खेती अच्छी दशा में और खाद्य पदार्थों के लिए देश आत्म निर्भर होता तो इस अपार धनराशि का उप-

योग देश की औद्योगिक उन्नति में होता। खेती की दशा इतनी खराब है कि देश का मुख्य धन्धा होते हुए भी उस पर आश्रित अधिकांश भारतीय जनता के लिए वह लाभदायक पेशा नहीं रह गया है। खेती के अध्याय में तथा अन्य स्थानों पर भी पिछले विभिन्न अध्यायों में भारतीय किसान की दयनीय आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ केवल इतना ही स्मरण रखना पर्याप्त होगा कि हमारे ग्रामीण किसानों की आर्थिक स्थिति बड़ी ही दयनीय और भयावनी है। खेती तो अत्यन्त पिछड़ी हुई दशा में है ही। इसके साथ ही साथ हमारी ग्रामीण दस्तकारियाँ, जिनका कभी सारी दुनिया में बोलबाला था, भी अत्यन्त गिरी दशा में है। इन सबका दुष्परिणाम यह हुआ है कि भारतीय समाज के ९०% भाग को अपने जीवन-रक्षक पदार्थों के लिए शोकातुर रहना पड़ता है। न तो उसे भरपेट भोजन मिलता है और न तो शरीर ढकने के लिए उचित मात्रा में आवश्यक वस्त्र ही। उसके रहने के मकान की बात मत पूछिए। स्वास्थ्य की दृष्टि से वे रहने के योग्य नहीं होते। न तो उनमें शुद्ध वायु का ही प्रबन्ध होता है, न तो रोशनी का ही। इसका विनाशकारी प्रभाव लोगों के स्वास्थ्य पर पड़ता है। परिणाम यह हुआ है कि हमारा राष्ट्रीय स्वास्थ्य उत्तरोत्तर गिरता चला जा रहा है। सच है जहाँ के लोगों को भरपेट स्वास्थ्यकर भोजन न मिले, रहने के लिए स्वास्थ्यवर्द्धक घर न हो तथा पर्याप्त वस्त्र भी न मिले उनका स्वास्थ्य कैसे ठीक रह सकता है ?

इन सबके अतिरिक्त एक और बड़ी महत्वपूर्ण कठिनाई हमारे ग्रामीण जनता की अशिक्षा और अज्ञानता है। आजकल की दुनिया में जब कि अन्य देश अपनी शिक्षा की समस्या को

समुचित ढंग से हल करके गर्व से फूले नहीं समाते, हमारे राष्ट्रीय नेता करोड़ों भारतीय ग्रामीण जनता को शिक्षा-समस्या को हल करने के लिए व्यथित और चिन्तित दिखाई पड़ते हैं। अशिक्षा के दुष्परिणामों की ओर पिछले अध्यायों में यत्र-तत्र उपयुक्त स्थानों पर संकेत किया जा चुका है जिसकी पुनरावृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं। केवल इतना ही स्मरण रखना पर्याप्त होगा कि इस अशिक्षा रूपी पिशाचिनी के कारण हमारे गाँवों की शोचनीय स्थिति और भी अत्यधिक शोचनीय तथा चिन्ताजनक रूप धारण कर लेती है। अशिक्षा के कारण ग्रामीण जनता अपनी स्थिति सुधारनें में सर्वथा असमर्थ होती है। नई बातों का समझना और उन्हें अपनाना उनके लिए सर्वथा असम्भव होता है। फलतः घोर नारकीय यातना में ग्रामीण जनता जीवन व्यतीत कर रही है।

यह है हमारे गाँवों का नग्न रूप जिसे सोचकर हमारी आँखें शर्म के कारण नीचे झुक जाती हैं। भारत ऐसा देश जो सब प्रकार के प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न हो तथा जो किसी समय दुनिया का शिरमौर था, इतनी दयनीय और असहाय अवस्था में! वही भारत जिसका प्रत्येक गाँव अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिए किसी समय लगभग पूर्णतः आत्म-निर्भर था तथा जिसके गाँवों की बनी वस्तुएँ दूर के विदेशी बाजारों में अपना प्रभुत्व जमाए हुई थीं, आर्थिक पतन के गर्त में बिल्कुल असहाय दशा में दिखाई पड़ता है। जो भारतीय गाँव किसी समय अपनी उन्नतिशील और लहलहाती दशा से दुनिया के समस्त देशों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किए हुए थे उनकी यह अचिन्तनीय दुर्दशा! सर्वप्रथम विश्व को ज्ञान देनेवाले भारत के ग्रामों में अशिक्षा और अज्ञानता का ऐसा

विनाशकारी साम्राज्य ! राम-लक्ष्मण और कृष्णार्जुन जैसे वीरों की पवित्र भूमि के लोगों का इस प्रकार का बुरा स्वास्थ्य ! जो भारतीय गाँव किसी समय जीवन और ज्योति से जगमगा रहे थे, वे ही इस समय असीम निर्धनता, अशिक्षा तथा अज्ञानता के गहनतम अन्धकार में डूबे हुए हैं। इन गाँवों में वर्ष के अधिकांश भाग में हैज़ा, प्लेग, चेचक इत्यादि महामारियों का प्रकोप छाया रहता है। ग्रामीण जनता विभिन्न प्रकार की आपदाओं, जिनकी ओर ऊपर ध्यान दिलाने की कोशिश की गई है, से पीड़ित तथा संतप्त होकर निरन्तर कराह-सी रही है। जहाँ के लोगों की दशा इस प्रकार असहाय हो वहाँ के लोगों के लिए मनोरञ्जन की बात ही नहीं पैदा होती। संक्षेप में भारतीय ग्रामों में सब प्रकार से सजीवता का अभाव है। वे मृतप्राय से नजर आते हैं। हाय रे समय का फेर !

ऊपर के वर्णन से भारतीय ग्रामों की वास्तविक दशा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। साथ ही साथ ग्रामीण समस्याओं की रूपरेखा भी निश्चित की जा सकती है। इन समस्याओं को मोटे तौर से तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है:—

(१) आर्थिक समस्याएँ।

(२) स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ।

(३) शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ।

(१) आर्थिक समस्याओं के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रमुख प्रश्न आते हैं:—

(क) खेती की उन्नति की समस्या,

(ख) पशुओं की समस्या,

(ग) किसानों के ऋण की समस्या,

(घ) लड़ाई-झगड़े और मुकदमेबाजी की समस्या।

(२) इसी प्रकार स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं में निम्न-लिखित मुख्य हैं:—

(अ) सफाई (sanitation) की समस्या,

(ब) स्वास्थ्य-रक्षा की समस्या,

(स) आमोद-प्रमोद या मनोरञ्जन के साधनों की समस्या।

(३) शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं के भी दो रूप हैं:—

(प) बच्चों की शिक्षा,

(फ) प्रौढ़ों की शिक्षा।

यदि ऊपर बताई समस्याओं का समुचित समाधान कर दिया जाय तो कोई कारण नहीं कि हमारे गाँवों की दशा पहले जैसी न हो जाय। सन्तोष की बात है कि देश परतन्त्रता की बेड़ी से मुक्त हो चुका है तथा केन्द्र और प्रान्तों में राष्ट्रीय सर-कारों की स्थापना हो चुकी है। हमारी सरकारें ग्रामीण सम-स्याओं की ओर ध्यान दे रही हैं। यद्यपि अभी तक कोई ठोस काम नहीं हो पाया है तथा परिस्थिति की भीषणता और महती गम्भीरता एवं देश के विभाजन के दुष्परिणामों के कारण हमारी सरकार अभी तक इस दिशा में किसी भी प्रकार का कोई सन्तोषप्रद और प्रशंसनीय कार्य नहीं कर पाई है तथापि हमारे देशभक्त और समाजसेवी नेतागण इन प्रश्नों का समा-धान करने के लिए हृदय से आकुल और सचेष्ट हैं। आशा है, निकट भविष्य में हम अपनी समस्याओं के समाधान करने में सफल होंगे। अगले अध्याय में इन समस्याओं तथा इनके

समाधान के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार किया जायगा।

चौबीसवाँ अध्याय

आर्थिक समस्याएँ

कृषि की उन्नति

भारतीय गाँवों की वर्तमान दशा सुधारने के लिए खेती की दशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की आवश्यकता है इसमें कोई मतभेद हो ही नहीं सकता। खेती के अध्याय में जहाँ भारतीय कृषि की उपज की कमी के कारणों और उसके दूर करने के उपायों का वर्णन किया गया है यह स्पष्टतया बताया जा चुका है कि भारतीय कृषि की उन्नति किस प्रकार की जा सकती है। उनकी पुनरावृति की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। अतः पाठकों का ध्यान उसी अध्याय की ओर आकर्षित कराया जाता है।

पशुओं की समस्या (cattle problem)

भारतीय ग्रामीण अर्थनीति (Indian rural economy) पर पशुओं का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ता है। भारतीय किसान का काम बिना बैल के चल ही नहीं सकता। यह सब जानते हैं। आर्थिक दृष्टि से उनके चमड़े, हड्डियों और सींग इत्यादि का अत्यधिक महत्व होता है। प्रत्येक वर्ष लगभग

१६,०००,०००,००० रुपये की आय देश को इनसे होती है। पशुओं की संख्या हमारे देश में सब देशों से अधिक है। भारतवर्ष में दुनिया भर के पालतू पशुओं का एक चौथाई भाग पाया जाता है। हमारे देश में लगभग १६६,०००,००० बैल और ४७,०००,००० भैंसे हैं। बैलों की यह संख्या समस्त दुनिया के बैलों की संख्या की चौथाई और भैंस की संख्या लगभग तीन-पाँचवाँ भाग है। हमारे संयुक्त-प्रान्त में बैलों की संख्या सब प्रान्तों से अधिक है। यहाँ के बैलों की संख्या लगभग २३,०००,००० है, जो समस्त देश के बैलों की संख्या का १४% भाग है। संयुक्त-प्रान्त के बाद बंगाल का नम्बर आता है जहाँ लगभग २२,६०००,००० बैल हैं। भैंस की भी संख्या हमारे संयुक्त-प्रांत में सब प्रान्तों से अधिक है। देश के विभाजन का भी प्रभाव हमारे पशु-अर्थनीति (cattle economy) पर पड़ा है। यह अनुमान लगाया गया है कि भारतीय संघ (Indian union) में १३७,७०४,००० पशु और लगभग ४०,७१३,००० भैंसे हैं। हमारे देश में पशुओं की नस्ल दूध के विचार से या हल इत्यादि खींचने की दृष्टि से बहुत ही उत्तम प्रकार की है। कृषि-कार्यों के लिए हिसार, हरिन, अमृतमहल और कन्वरिया नस्ल के बैल बहुत ही अच्छे होते हैं।

कृषि प्रधान भारत के लिए इन पशुओं का बहुत ही बड़ा महत्व है। इस महत्व का अनुमान निम्नलिखित बातों से आसानी से लगाया जा सकता है। **सर्व प्रथम खेती के लिए बैलों की आवश्यकता होती है।** इनके बिना खेतों की जुताई असम्भव है। दूसरे आज कल की बीसवीं सदी के युग में भी हमारे देश में गाँवों का सम्बन्ध शहरों के साथ बैलगाड़ी द्वारा ही सम्भव है। अन्य प्रकार के यातायात के साधनों

(means of transport) के अभाव में बैलगाड़ी से ही बाहर शहरों को सामान भेजा जाता है और शहरों से गाँव की आवश्यक वस्तुएँ मँगाई जाती हैं। अतः खेती के अलावे पदार्थों के एक स्थान से दूसरे स्थान भेजने का काम भी बिना इनके नहीं चल सकता। इन पशुओं से खेती में एक और प्रकार से विशेष सहायता मिलती है। खेतों के लिए खाद की आवश्यकता होती है इन पशुओं के गोबर और मूत्र से उत्तम प्रकार की खाद प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त इनसे हमें दूध, दही, घी, इत्यादि वस्तुएँ मिलती हैं जो कि मानव स्वास्थ्य के लिए बहुत ही आवश्यक हैं। हमारे देश के लिए और विशेष कर ग्रामीण जनता के लिए तो इन पदार्थों का और अधिक महत्व है, क्योंकि गाँवों में अधिकांश लोग शाकाहारी ही होते हैं। शाकाहारी लोगों के लिए दूध और उसकी बनी वस्तुएँ बहुत ही जरूरी होती हैं। यह दूध हमें इन्हीं गायों और भैंसों से मिलता है। अतः स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इन जानवरों का अत्यधिक महत्व है। यही कारण है कि हमारे यहाँ गाय को गायमाता कहकर पुकारते हैं। अतः खेती की उन्नति तथा राष्ट्रीय स्वास्थ्य के लिए इन पशुओं का स्वस्थ और मज़बूत होना बहुत ही आवश्यक है। इसलिए यह कहने में हमें तिल मात्र भी हिचकिचाहट नहीं कि भारतीय ग्रामों के सुधार की बात बहुत कुछ इन पशुओं की दशा पर ही निर्भर करती है।

पशुओं की वर्तमान दशा

ऊपर के वर्णन से इन पशुओं के महत्व का अनुमान

लगाया जा सकता है। ये पशु हमारे बहुत ही काम के होते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि इन पशुओं की वर्तमान दशा कैसी है? इस प्रश्न का स्मरण आते ही हमें लज्जा से सिर झुका लेना पड़ता है। यहाँ पशुओं की कमी नहीं है। किन्तु उनकी वर्तमान दशा अत्यन्त शोचनीय है जिससे उनसे देश को पूरा लाभ नहीं हो रहा है। जिस तरह हमारे यहाँ मनुष्यों की कमी नहीं है किन्तु अधिकांश जनता नारकीय यातना भोग रही है उसी प्रकार पशुओं के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात लागू है। क्षेत्र-फल और आबादी के हिसाब से यहाँ के पशुओं की संख्या का अनुपात बहुत अधिक है। यहाँ की आबादी दुनिया की जन-संख्या का छठवाँ भाग है जब कि यहाँ के पशुओं की संख्या समस्त दुनिया के पशुओं की संख्या का चौथाई भाग है। यदि इन पशुओं की दशा अच्छी होती तो हमारे समाज की यह दशा क्यों होती! पंजाब के हिसार, हरियाना और मान्टगोमरी के प्रदेशों, जमुनापार के मथुरा इत्यादि जिले, और सिन्ध तथा काठियावाड़ की गायों को छोड़ दिया जाय तो अन्य प्रान्तों की गायों की नस्ल इतनी खराब हो गई है कि उसकी कल्पना करके हृदय व्यथित हो उठता है। योरप के देशों में कोई गाय पन्द्रह या सोलह सेर से कम दूध देने वाली नहीं मिलेगी। किन्तु भारतीय गायों के लिए तो यह कहना बिल्कुल ठीक ही होगा कि एक दर्जन गाएँ मिलकर पन्द्रह सेर दूध दे सकती हैं। साधारणतया हमारी गाएँ एक सेर से अधिक दूध नहीं देती। बहुत-सी तो ऐसी होती हैं कि उनके लिए पाव भर या आधा सेर दूध देना भी मुश्किल ही होता है। हमारी गाएँ इतनी दुर्बल होती हैं कि उनकी हड्डियाँ दिखाई पड़ती हैं। अस्वस्थ और दुर्बल किसानों की भाँति वे भी पूर्णतया अस्वस्थ और

दुर्बल होती हैं। इनके बछड़ों का भी दुर्बल और अस्वस्थ होना जरूरी है। अतः बैलों की भी वही दशा है जो गायों की। भारतीय ग्रामों में पाए जाने वाले बैल देखने में हड्डियों के ढाँचे मात्र होते हैं। अपनी दुर्बलता के कारण हल या गाड़ी खींचने का काम तीव्रगति से नहीं कर सकते। इससे विभिन्न कार्यों में आवश्यकता से अधिक समय लगता है। प्रायः इन बैलों को विभिन्न प्रकार के रोग होते रहते हैं। और अल्पकाल में ही ये मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन पशुओं से न तो हमें कृषि तथा अन्य कार्यों के लिए शक्ति ही पर्याप्त मात्रा में मिल रही है और न तो दूध ही मिल रहा है। ग्रामीण किसानों की भाँति उनकी दशा भी बहुत ही गिरी हुई है। उन्हें पर्याप्त मात्रा में चारा नहीं मिलता, अतः वे मजबूत किस प्रकार हो सकते हैं! जिस प्रकार किसान किसी प्रकार शरीर और प्राण एक साथ रख पाता है उसी तरह ये पशु भी किसी प्रकार जीवित रहते हैं। ऐसी दशा में इनके उत्पादन (production) का बहुत नीचे गिर जाना स्वाभाविक ही है। चारे की कमी के अतिरिक्त उनके विभिन्न रोगों की चिकित्सा का भी कोई समुचित प्रबन्ध नहीं पाया जाता है। इस कमी के कारण भी हमारे देश को पशु-शक्ति (cattle-power) इनकी अत्यधिक संख्या की दशा में भी बहुत ही कम है। इसके साथ ही साथ हमें इनकी नस्ल के सम्बन्ध में भी हम लोग उदासीन ही रहते हैं। पशुओं के नस्ल सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं होता है। इन्हीं कारणों से हमारे पशुओं की दशा इतनी खराब और गिरी हुई है और वे हमारे लिए एक विकट समस्या का रूप धारण कर चुके हैं।

पशुओं की इस समस्या के तीन मुख्य पहलू हैं। यदि हमें

इनकी दशा सुधारनी है तो इस समस्या को तीनों ओर से एक साथ ही हल करना होगा, अन्यथा किसी एक या दो पहलू के हल करने से पूर्ण लाभ नहीं हो सकता। ये तीनों पहलू निम्न-लिखित हैं:—

(१) पशुओं के चारे की समस्या।
(२) पशुओं के नस्ल की समस्या।
(३) पशुओं के रोगों की चिकित्सा की समस्या।

चारे की समस्या (fodder problem)

पशु-पालन से चारे का घनिष्ट सम्बन्ध है। भारतीय किसान अपने पशुओं को अच्छी दशा में रखने के लिए कोई विशेष प्रयत्न करने में असमर्थ होते हैं। देश के अधिकांश हिस्से में चारे की कमी है। बहुत से घनी बस्तीवाले स्थानों में पशुओं के चरागाह तक जोत डाले जाते हैं और पशुओं को पेटभर चारा नहीं मिलता। पशुओं की दशा विशेषकर मार्च और जून में विशेष दयनीय हो जाती है, जब वे सूखे घास-रहित मैदानों में इधर-उधर घूमते हैं और जहाँ कहीं एक-दो तिनके घास के मिल जाते हैं उसी पर उनको दिन काटना होता है। बहुतों की तो केवल हड्डी ही रह जाती है।

प्रत्येक हिन्दू-परिवार के लिए एक गाय रखना आवश्यक कर्तव्य है, किन्तु वर्तमान अवस्था में यह कार्य बहुत कठिन हो गया है। बहुत से आदमी चारे के अभाव से अपनी गायों को कसाई के हाथ बेच देते हैं। जो ऐसा नहीं करते वे उन्हें किसी गोशाला या पिंजरा-पोल में छोड़कर निश्चिन्त हो जाते हैं। इससे चारे की कमी का अनुमान लगाया जा सकता है।

अत: प्रश्न यह है कि इस स्थिति का समाधान किस प्रकार

किया जाय। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम हमें चारे की पूर्ति (supply of fodder) में वृद्धि करनी होगी। पशुओं की दशा सुधारने के लिए सबसे महत्वपूर्ण आवश्यक कार्य चरागाहों की वृद्धि है। अब वे दिन गए जब चरागाहों की बहुतायत थी। उनका लौटना मुश्किल—मुश्किल ही नहीं बल्कि असम्भव है। इसका कारण खेती की वृद्धि है। चरागाहों के वर्तमान क्षेत्रफल को तो बढ़ाना असम्भव-सा प्रतीत होता है जब तक कि सरकार बलात् इस काम को न करे। वर्तमान खाद्य-सङ्कट में वह भी इस प्रकार का कदम कैसे उठा सकती है? वह तो हर प्रकार से परती, बञ्जर आदि भूमि को कृषि के योग्य बनाने की चिन्ता में है। तब फिर क्या किया जाय? चरागाहों का क्षेत्रफल बढ़ाना तो मुश्किल काम है किन्तु चरागाहों की उत्पादकता (productivity) बढ़ाई जा सकती है। कैसे? प्रायः देखा जाता है कि जैसे ही जून या जुलाई के महीने में पानी बरसना आरम्भ हुआ तथा हरी-हरी घासें निकल पड़ीं त्यों ही जानवर उनको चरना आरम्भ कर देते हैं। घास पूरी-पूरी बढ़ने नहीं पाती। अतः इस आदत का परित्याग करना होगा। इस सम्बन्ध में यदि हमारे देहाती भाई चराई के Hohenheim प्रथा का प्रयोग करें तो बहुत ही लाभ होने की सम्भावना है। इस प्रथा में किसी गाँव के चरागाहों को पाँच हिस्सों में बाँट दिया जाता है। गाँव के सब पशु एक खेत में चार या पाँच दिन तक चरते हैं। इसके बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे और इसी प्रकार क्रम से चौथे और पाँचवे खेत में चरते हैं। इस प्रकार हर एक घास के खेत को कुछ दिनों के लिए फुरसत मिलती रहती है जिससे घास

को बढ़ने का अवसर मिला करता है। बरसात के महीने में जब कि घास तेजी से बढ़ती है, एक खेत पर पशु केवल तीन ही दिन तक चरें और उसके बाद दूसरे खेतों पर क्रमानुसार चरें।

दूसरा उपाय अच्छी-अच्छी किस्म की घासों का उगाहना है। ऐसी घासों, जिनमें कुछ साल के एक हिस्से में और कुछ दूसरे हिस्से में अच्छी तरह उग सकें, उनका पता लगाना आवश्यक है। इसके लिए अनुसन्धान की आवश्यकता है। भारत में बहुत-सी ऐसी घासें हैं जो साल के विभिन्न भागों में उगती हैं। उत्तरी भारत में विशेषकर वन्दरिया, दूब आदि पाई जाती हैं। इसके अलावे नई घासें जैसे rhodes, paspalum, kikuaya आदि भी उगाही जा सकती हैं।

इसके अतिरिक्त हमें यह भी याद रखना चाहिए कि जङ्गलों में बहुत-सी घास बर्बाद हो जाती है। उसके सञ्चय का प्रबन्ध करना होगा। जङ्गल के शासन-विभाग को सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। जङ्गल में जानवरों को चरने की आज्ञा दी जाती है। इससे अच्छा तो यह होगा कि घास काटकर जानवरों को खिलाई जाय, क्योंकि जानवरों के चलने-फिरने से घास खराब और छोटी हो जाती है। केवल उच्चकोटि के पशुओं को ही चरने की आज्ञा दी जानी चाहिए।

इसके सिवाय खेतों पर भी अधिक से अधिक चारा उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए। जहाँ सिंचाई की विशेष प्रकार की सुविधाएँ हैं वहाँ किसानों को चारे की

फसलों को उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित करना होगा। इस सिलसिले में क्लोवर (clover) नाम की एक प्रकार की घास की ओर ध्यान अपने आप चला जाता है। इस घास की विशेषता यह है कि वह बहुत शीघ्र तैयार होती है। किसान अपनी मुख्य फसलों का बिना त्याग किए ही इसे उगाकर काट सकता है। सरकार के कृषि-विभाग को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए तथा कम समय में तैयार होनेवाली चारे की फसलों का पता लगाना चाहिए।

गाँव की बञ्जर और ऊसर भूमि का उपयोग जङ्गल लगाने के लिए किया जाना चाहिए। सरकार के जङ्गल विभाग को चाहिए कि गाँवों की इस प्रकार की भूमि पर शीघ्र उत्पन्न होने वाले वृक्षों का जङ्गल लगाने में गाँव वालों की मदद करे ताकि उससे गाँव के पशुओं को चारा और जनता को जलौनी लकड़ी मिला करे। इस जङ्गल के प्रबन्ध और देखरेख का भार ग्राम-पञ्चायत के ऊपर होना चाहिए।

इसी प्रकार के प्रयत्नों द्वारा चारे की पूर्ति में वृद्धि की जा सकती है। किन्तु इस सम्बन्ध में एक और बात याद रखनी होगी। चारे का उपयोग मितव्ययता के साथ होना चाहिए। हमें यह देखना होगा कि चारे का एक तृण भी नष्ट न होने पावे। अतः चारे की पूर्ति में वृद्धि करने के साथ-साथ हमें उसके सदुपयोग करने की आदत डालनी होगी। चारा बहुधा हाथ से काटा जाता है। इसके स्थान पर चारा काटने की मशीन का प्रयोग किया जाय तो अधिक लाभ होगा। किन्तु सब किसानों के लिए उसका प्रयोग आर्थिक दृष्टि से सम्भव और—लाभप्रद दोनों न होगा।

अन्त में हमें चारा एकत्र करके रखने के सम्बन्ध में

भी कुछ कह देना है। लोग चारा इसलिए एकत्र करके रखते हैं कि कमी के समय में इस चारे का उपयोग पशुओं के पेट भरने के लिए किया जा सके। चारा बनाने के एक विशेष प्रकार के गड्ढे होते हैं जिन्हें 'साइलोज' (silos) कहते हैं। ये गड्ढे ऊपर कुछ अधिक और नीचे कम चौड़े होते हैं। घास-पत्ती आदि इन गड्ढों में भर दी जाती है और गड्ढों को भर दिया जाता है। कुछ समय बाद उत्तम चारा तैयार हो जाता है। इस प्रकार तैयार किए गए चारे को 'साइलेज' (silage) कहते हैं। यदि ज्वार, बाजरा या अन्य प्रकार की कड़वी की साइलेज तैयार की जाय तो चारा स्वास्थ्यवर्द्धक तथा अच्छा बना रह सकता है। सुखा देने से बहुत-सा चारा नष्ट हो जाता है और उसके गुण जाते रहते हैं। यदि ऊपर बताए गए उपायों का सहारा लिया जाय तो कोई कारण नहीं कि हम चारे की कमी को दूर न कर पाएँ।

पशुओं की नस्ल की समस्या

यह पहले बताया जा चुका है कि हमारे पशुओं की नस्ल खराब हो गयी है। पशुओं की कार्य-शक्ति बहुत कुछ उनके नस्ल पर निर्भर होती है। गाय-बैल की नस्ल बिगड़ने का मुख्य कारण स्वस्थ और मजबूत साँड़ों का अभाव है। हिन्दू-धर्म की एक प्रथा, जो अब तक चली आ रही है, यह है कि किसी वृद्ध के मरने पर उसके परिवार के लोग एक बछड़े को साँड़ बनाते हैं। पहले तो लोग अच्छी नस्ल के बछड़े को साँड़ बनाते थे। किन्तु अब लोग वैसा नहीं करते। केवल पुण्य कमाने के विचार से किसी खराब बछड़े को साँड़ बना देते हैं। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि इस प्रकार के साँड़ हजारों और लाखों

की संख्या में छूटे फिरते हैं और गाय बैल की नस्ल को खराब करते हैं। इसके अतिरिक्त बूढ़े और दुर्बल साँड़ों से भी वंशोत्पत्ति का काम लिया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे देश में बछड़ा पैदा करने का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं है। अतः पशुओं की नस्ल अच्छी कैसे रह सकती है?

अब प्रश्न यह है कि पशुओं की नस्ल कैसे सुधारी जाय। इस सम्बन्ध में सबसे पहला कार्य जो करना होगा, यह है कि किसी प्रकार इन खराब और ब्रीडिंग (breeding) के दृष्टिकोण से हानिकारक साँड़ों को दूर किया जाय। कतिपय विद्वानों की तो यह राय है कि इन्हें मरवा दिया जाय। किन्तु ऐसा करना जनता के धार्मिक भावों को चोट पहुँचाना होगा। अतः इन्हें नपुंसक करवा देना ही सबसे उत्तम होगा जिससे वे बछड़े उत्पन्न करने के योग्य न रह जायँ।

इन अयोग्य साँड़ों के हटाने से अधिक महत्वपूर्ण काम योग्य साँड़ों की पूर्ति में वृद्धि करना है। यह सच है कि भारत के असंख्य गाँवों के लिए योग्य और मजबूत साँड़ों को पूर्ति की समस्या आसान नहीं है। फिर भी इस काममें हमें तथा हमारी सरकार को तीव्र गति से कार्य करना ही होगा। हमारी सरकारें इधर ध्यान दे रही हैं और कुछ कार्य हुआ है। आवश्यकता इस बात की है कि हमारी सरकारें अपने प्रयत्नों के पैमाने तथा गति को अधिक बढ़ावें। नस्ल सुधारने के लिए बहुत से स्थानों में सहकारी ब्रीडिंग समितियों (co-operative breeding societies) की स्थापना हुई। सरकारी फार्मों पर ब्रीडिंग का काम हो रहा है। प्रत्येक जिला बोर्ड को अपने जिले की गाय और बैलों की जाँच करानी चाहिए

और उसके उपरान्त यह निश्चित करना चाहिए कि किस नस्ल का साँड़ उस जिले के लिए अच्छा पड़ेगा। पशु-चिकित्सालयों पर साँड़ों के रखने की व्यवस्था करनी होगी जिससे समीप के गाँवों को लाभ पहुँच सके।

किन्तु केवल सरकार के वश की बात नहीं है कि वह नस्ल की समस्या को शीघ्र हल कर सके। पशुओं की हितैषी प्रत्येक संस्था को इस कार्य में दिलचस्पी लेनी होगी। यदि सरकार पर ही सब काम छोड़ दिया गया तो बहुत विलम्ब होगा। हमारे देश में बहुत बड़ी संख्या में गोशालाएँ पाई जाती हैं। इन्हें अपने यहाँ अच्छे साँड़ों को रखना चाहिए। बड़े-बड़े जमींदारों से भी इस सम्बन्ध में काम लिया जा सकता है। इनकी इस ओर उदासीनता के कारण बहुत उन्नति नहीं हो पाई है। सरकार तथा उसके अफसरों को इन पर दबाव डालना चाहिए कि वे इस काम में दिलचस्पी लें। ग्राम-सुधार विभाग को भी इस कार्य में सहयोग देना होगा। कैटिल ब्रीडिंग सोसायटी स्थापित करने वाले तथा अच्छी नस्ल के साँड़ मोल लेने वाले गाँवों को ग्राम-सुधार विभाग से आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए। अन्त में समीपवर्ती गाँवों में पशुओं की वार्षिक प्रदर्शनी का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। इस प्रकार की प्रदर्शनियों में शरीक होने वाले गाँवों में जिस गाँव के गाय-बछड़े और बैल बहुत ही अच्छे हों उन पर यथेष्ट पुरस्कार दिया जाय। इससे अन्य गाँववालों को अपने पशुओं की दशा सुधारने की आवश्यक

प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलेगा । जब तक सरकार और लोक-सेवी संस्थाएँ इस ओर समुचित ध्यान न देंगी तब तक विशेष सफलता की आशा नहीं की जा सकती । यह काम न तो केवल किसानों के मान का है और न तो वे स्वयं दशा सुधारने की किसी प्रकार की कोशिश ही करेंगे । सरकार का यह कर्तव्य है कि उचित प्रकार की सहायता और सुविधा प्रदान करके किसानों को पशुओं की दशा सुधारने के लिए प्रोत्साहित और आवश्यकतानुसार बाध्य करे ।

पशुओं के रोगों की चिकित्सा की समस्या

प्रति वर्ष हमारे देश में लाखों की संख्या में विभिन्न रोगों के कारण पशुओं की अकाल-मृत्यु हुआ करती है । इससे निर्धन किसानों की पूँजी की बहुत क्षति होती है । पशुओं के रोगों में सबसे भयानक रोग रिन्डर पेस्ट (Rinderpest) जिसे पशुओं का प्लेग कहते हैं, है सेप्टीसीमिया (Septiceamia) तथा मुँह और पैर की बीमारियों से भी अत्यधिक संख्या में पशुओं की मृत्यु होती रहती है । रिन्डर पेस्ट पशुओं का सबसे भयानक रोग होता है और बड़ी तीव्र गति से फैलता है । पशु-चिकित्सालयों में पशुओं को सिरम (serum) का टीका लगाकर इस रोग से मुक्त किया जा सकता है । किन्तु हमारे यहाँ पशु-चिकित्सालयों की संख्या कितनी है ही । प्रायः पशु-चिकित्सालय जिलों और तहसीलों में ही होते हैं । दूर के किसानों के लिए अपने बीमार बैल को वहाँ ले जाना सम्भव नहीं होता । **अतः इस बात की कड़ी आवश्यकता है कि इन चिकित्सालयों की संख्या में प्रर्याप्त वृद्धि की जाय ।**

यह काम सरकार का है और उसे शीघ्रातिशीघ्र इतनी पर्याप्त संख्या में इन चिकित्सालयों की स्थापना करनी होगी कि प्रत्येक गाँव के लिए पशुओं को चिकित्सालय तक ले जाना सम्भव हो सके। **एक सरल उपाय यह भी है कि देश के समस्त पशुओं की संख्या को ध्यान में रखते हुए पर्याप्त मात्रा में सिरम (serum) तैयार किया जाय और गाँव के मुखिया, पटवारी या अध्यापक को टीका लगाना सिखा-कर दवा उन्हें दे दी जाय** और आवश्यकतानुसार वे ग्रामीण पशुओं को इस भयङ्कर रोग से इसके प्रयोग द्वारा बचाते रहें।

पशुओं की उन्नति के लिए दो सरकारी विभाग हैं। फौज-वाले उन पशुओं के पालन तथा नस्ल सुधारने का काम करते हैं जो फौजी रिसाले में लिए जाते हैं। सिविल विभाग साधारणतः बैल, भैंस, भेंड़, घोड़ा, खच्चर आदि पशुओं की उन्नति और चिकित्सा का प्रबन्ध करता है। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, लाहौर आदि स्थानों में ऐसे डाक्टरों और कर्मचारियों को शिक्षा दी जाती है। नैनीताल और बरेली में सरकारी प्रयोग-शालाएँ हैं, जहाँ पशुओं के रोग और उनकी चिकित्सा का अनु-सन्धान होता है। जिला बोर्डों की तरफ से सब-डिवीज़नों में पशु-चिकित्सक रक्खे जाते हैं। सरकारी पशु-रोग विभाग (Veterinary Department) महत्वपूर्ण सेवायें कर रहा है। किन्तु चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं की महती अपर्याप्तता के कारण अभी तक स्थिति में सन्तोषजनक सुधार नहीं हो पाया है। पहले तो हमारे अनपढ़ किसान अपने पशुओं को इन चिकित्सालयों में ले जाने में बहुत ही हिचकते हैं। किन्तु इनके होनेवाले लाभों के प्रचार से लोग अधिक संख्या

में अपने पशुओं का इलाज कराने के लिए चिकित्सालयों की शरण लेने लगे हैं। ऐसे लोगों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ती जा रही है। फिर भी चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाएँ अधिकांश गाँवों के किसानों की पहुँच के बाहर ही हैं। अतः इनको अत्यधिक बनाना होगा। कृषि-कमीशन (Agricultural commission) के विचार से प्रत्येक जिले में एक केन्द्रीय पशु-चिकित्सालय (Vetarinary Hospital) स्थापित किया जाना चाहिए तथा जिले भर में बहुत से छोटे-छोटे चिकित्सालय (Dispensaries) खुलने चाहिएँ। इनमें काम करनेवाले व्यक्तियों की संख्या बढ़ानी चाहिए और उन लोगों के लिए जिले का दौरा करना अनिवार्य हो जाना चाहिए ताकि पशुओं के रोगों का निरीक्षण होता रहे और उचित सलाह तथा चिकित्सा-सम्बन्धी सहायता दी जा सके। देहातों में घूम-घूमकर पशुओं की चिकित्सा करनेवाले डाक्टरों की भी नियुक्ति से स्थिति में पर्याप्त सुधार किया जा सकता है।

अन्त में इस सम्बन्ध में किसानों के दायित्व पर भी विचार कर लेना लाभप्रद और आवश्यक दोनों है। सरकार का कर्त्तव्य केवल चिकित्सा की सुविधाओं के प्रदान करने तक ही सीमित है किन्तु इस सम्बन्ध में किसानों के भी कुछ कर्त्तव्य हैं जिनका पालन नितान्त आवश्यक है। किसानों को निम्नलिखित प्रकार की सावधानी रखने की बड़ी आवश्यकता है:—जब कभी किसी मेले या अन्य स्थान से गाय-बैल या अन्य कोई जानवर खरीदकर लावें तब कुछ समय तक उस नए पशु को अन्य पशुओं से अलग रखना चाहिए। उसे अलग बाँधना और खिलाना चाहिए, और अन्य पशुओं से नहीं

मिलने देना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो उस नए पशु में यदि कोई छूत का रोग हुआ तो शीघ्रता से अन्य पशुओं में भी फैल जायगा। दूसरी सावधानी यह है कि जब कभी कोई पशु वीमार हो जाय तो उसे अन्य पशुओं से अलग कर देना होगा, ताकि वीमार पशु का रोग अन्य पशुओं में फैलने न पावे। तीसरी बात यह है कि पशुओं को गन्दे तालाबों और गड्ढों का पानी न पिलाया जाय। चौथी सावधानी यह है कि उनके रहने आदि के स्थान भी साफ-सुथरे और हवादार तथा प्रकाशमय होने चाहिएँ। अन्तिम, किन्तु महत्व की दृष्टि से अन्तिम नहीं, सावधानी जो किसान को करनी होगी यह है कि पशु के वीमार होते ही उसकी चिकित्सा के लिए सरकार द्वारा प्रदान की गई सुविधाओं का लाभ उठाना है। रोग चाहे छोटा हो या बड़ा उसका इलाज तुरन्त होना चाहिए। अन्यथा छोटे-से-छोटा रोग भी लापरवाही के कारण भयङ्कर रूप धारण कर लेता है जिसकी वहुत अधिक कीमत या तो पशु की मृत्यु या उसको इलाज सम्बन्धी दिक्कतों के रूप में चुकानी पड़ती है अतः पशुओं के रोगों की ओर भी हमें उसी प्रकार शीघ्र ध्यान देना चाहिए जिस प्रकार हम अपने बच्चों के वीमार हो जाने पर देते हैं।

यदि सरकार द्वारा पशु-चिकित्सा की व्यापक व्यवस्था हो जाय तथा किसान ऊपर वताई गई सावधानियों से काम करें तो यह समस्या भी अच्छी तरह से हल की जा सकती है। आशा है हमारी राष्ट्रीय सरकारें जनता के सहयोग द्वारा इस समस्या का वहुत शीघ्र समाधान कर सकेंगी।

ग्रामीण ऋण की समस्या

भारतीय गाँवों की प्रमुख जटिल समस्याओं में से एक अति

भयावनी समस्या ग्रामीण ऋण की है। खेती के अध्याय तथा अन्य अध्यायों में भी उपयुक्त स्थानों पर किसानों की ऋणग्रस्त अवस्था की ओर संकेत किया जा चुका है। साधारण भारतीय किसान सब प्रकार से साधन-हीन होता है। उसके खेतों की उपज लगान-मज़दूरी इत्यादि चुकाने के बाद उसके साल भर के खाने के लिए पर्याप्त नहीं होती। उसे अन्य पारिवारिक आवश्यकताओं की भी तृप्ति करनी होती है। सामाजिक और धार्मिक कई प्रकार के आवश्यक व्यय उसे करने पड़ते हैं। खेती के लिए हल-बीज का प्रबन्ध करना होता है। इन सबके लिए आवश्यक धन कहाँ से आवे। उसे प्राप्त करने के लिए केवल एक ही रास्ता उसके पास होता है। यह है गाँव के महाजन की शरण लेना। महाजन उसकी सब आवश्यकताओं के लिए उसे रुपए उधार देता है किसान उसकी आर्थिक सहायता, जो वह रुपया उधार देकर करता है, से किसी प्रकार अपना काम चलाता है। किन्तु उसकी खेती की अत्यन्त गिरी दशा के कारण तथा अन्य प्रकार की आय के सर्वथा अभाव के कारण वह अपने को महाजन के चंगुल से छुड़ाने में असमर्थ होता है। जमींदार और महाजन के अत्यधिक शोषण के कारण उसकी आर्थिक स्थिति निरन्तर खराब होती चली जाती है। एक बार महाजन के चंगुल में फँस जाने पर उसका छुटकारा पाना असम्भव-सा हो जाता है। कृषि-कमीशन का यह कथन, कि भारतीय किसान ऋणी जन्म लेता है, ऋण में ही जीवन व्यतीत करता तथा ऋणी ही मर जाता है और अपना बोझ अपने उत्तराधिकारियों के ऊपर छोड़ जाता है, अक्षरशः सत्य है। भारतीय किसान का ऋण ही उसके सामाजिक, आर्थिक और नैतिक पतन के लिए बहुत कुछ अंशों में

उत्तरदायी है। देश को आर्थिक पतन के गर्त से उठाने तथा उन्नति-पथ पर अग्रसर करने के लिए इस समस्या का समाधान शीघ्र से शीघ्र होना चाहिए।

समय-समय पर ग्रामीण ऋण का अनुमान लगाने का प्रयत्न हुआ है। इस सम्बन्ध में सन् १६३० में केन्द्रीय बैंकिंग-जाँच-समिति (central banking enquiry committee) ने ग्रामीण ऋण का अनुमान लगाने का प्रयास किया। इस समिति के मतानुसार उस समय ब्रिटिश भारत का कुल ग्रामीण ऋण लगभग ६०० करोड़ रुपये का था। किन्तु इसी समय से विश्व-व्यापी महामन्दी की शुरुआत हो रही थी जिससे कृषि-जन्य पदार्थों की कीमत अन्य कला-कौशल के सामानों की कीमत की अपेक्षा अधिक अंशों में उत्तरोत्तर गिरती गई। किसानों की अवस्था अत्यधिक शोचनीय होती गई। खेती से जितनी आय होती थी उससे भी बहुत कम आय होने लगी। हरएक काम के लिए उन्हें ऋण लेना पड़ता रहा। अतः ग्रामीण ऋण का आकार दिनोदिन बढ़ता ही गया। कतिपय अर्थशास्त्र के विद्वानों के अनुसार सन् १६३६ तक यह ऋण लगभग १८०० करोड़ रुपए के हो गया। यदि देशी रियासतों के किसानों का भी ऋण इसमें जोड़ दिया जाय तो यह ऋण-भार और अधिक बढ़ जायगा। सेण्ट्रल-बैंकिंग-जाँच-समिति ने संयुक्त-प्रान्त के कुल ग्रामीण ऋण का अनुमान लगभग १२४ करोड़ रुपये के लगाया था। सन् १६३६ में द्वितीय विश्वव्यापी युद्ध प्रारम्भ हुआ। इसके कारण वस्तुओं की कीमत बढ़ गई। खाद्य पदार्थों की कीमत में भी वृद्धि हुई। अतः किसानों की उपज की कीमत भी बढ़ गई। इसका कुछ अच्छा प्रभाव ग्रामीण ऋण पर पड़ा। उसका बोझ कुछ हलका हुआ, किन्तु एकदम गायब नहीं हुआ।

यह एक बहुत ही अनुकूल और सुन्दर अवसर ग्रामीण ऋण के अन्त करने का था। किन्तु सरकार को उदासीनता और किसानों की अदूरदर्शिता तथा अपव्ययता के कारण स्थिति में पर्याप्त, सन्तोषजनक परिवर्तन नहीं हो पाया। कतिपय अर्थशास्त्रियों की यह धारणा हो गई है कि द्वितीय महायुद्ध-जनित खाद्य-पदार्थों की मँहगी के फलस्वरूप किसान ऋण-मुक्त हो गया है। परन्तु वास्तव में यह विचार बिल्कुल भ्रामक है। ऋण के बोझ में कुछ कमी अवश्य हुई है, किन्तु उसका सर्वथा लोप नहीं हुआ है। मद्रास-सरकार ने कुछ ही दिन हुए इस सम्बन्ध में एक जाँच कराई थी। इस जाँच से यह ज्ञात हुआ कि ऋण-बोझ में केवल २० प्रतिशत की कमी हुई है। यह कमी भी केवल बड़े किसानों के ऋण में हुई है। छोटे किसानों की अवस्था ज्यों की त्यों बनी हुई है। यदि इस समय भी सरकार उचित और पर्याप्त ध्यान दे तो इस समस्या को सुगमता से सुलझाया जा सकता है, अन्यथा मन्दी आ जाने पर तो यह कार्य बड़ा कठिन हो जाएगा। हमारी राष्ट्रीय सरकारों को इस प्रश्न के हल करने के लिए शीघ्र बड़े से बड़ा कदम उठाने की आवश्यकता है।

अब हमें ग्रामीण ऋण के मुख्य कारणों पर दृष्टि डालनी है।

ग्रामीण ऋण के मुख्य कारण

ग्रामीण ऋण का कोई एक कारण नहीं है बल्कि बहुत से कारणों के एक साथ संयुक्त रूप से कार्यशील होने के परिणाम-स्वरूप यह समस्या इतनी भयावनी और जटिल हो गई है। इसके उत्पन्न करने में इतनी अधिक शक्तियों का हाथ है कि कार्य और कारण को सर्वथा एक दूसरे से पृथक करना

असम्भव है। कोई शक्ति ग्रामीण ऋण का कारण है या उसका परिणाम इसमें मतभेद होना अवश्यम्भावी है। फिर भी मोटे दर से ग्रामीण ऋण के निम्नलिखित मुख्य कारण साधारणतया बताए जाते हैं:—

(१) **ग्रामीण ऋण का एक मुख्य कारण कृषि का लाभप्रद पेशा न होना बताया जाता है।** जन-संख्या की तीव्र गति से वृद्धि और अन्य प्रकार के उद्योगों के अपेक्षाकृत अभाव के कारण आबादी का भूमि पर दबाव उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। हमारे यहाँ के खेतों के छोटे-छोटे और दूर-दूर बिखरे होने के कारण, कृषि के सहायक उद्योगधन्धों की अवनति, कृषि-जन्य पदार्थों की बिक्री सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की असुविधाओं (जिनका वर्णन पहले एक अध्याय में किया जा चुका है) तथा जमींदार के शोषण आदि सबके संयुक्त परिणाम-स्वरूप किसान को खेती से कोई लाभ नहीं होता। वह कृषि लाभ के लिए नहीं बल्कि किसी प्रकार जीविका चलाने के लिए करता है तथा इसलिए भी कि उसको अपने श्रम का लाभप्रद उपयोग करने का अन्यत्र अवसर नहीं प्राप्त होता। भूमि की उत्पत्ति से उसकी सब आवश्यकताओं की तृप्ति सम्भव नहीं होती जिसके कारण उसे विवश होकर ऋण लेना पड़ता है जिससे मुक्त होना अत्यन्त कठिन हो जाता है चाहे वह अपने खेतों पर कितना ही कड़ा परिश्रम क्यों न करे और अत्यधिक मितव्ययता से जीवन क्यों न बिताए।

(२) **ग्रामीण ऋण का दूसरा मुख्य कारण फसलों की असुरक्षा** (insecurity of harvests) बताई जाती है। प्रायः अति वृष्टि और अनावृष्टि के कारण फसलें नष्ट हो जाती

है। लोगों का अनुमान है कि प्रत्येक पाँच वर्ष में वर्षा की दृष्टि से एक साल अच्छा होता है, एक साल खराब होता है और बाकी तीन साल अनिश्चित होते हैं। साधारणतया अनावृष्टि और कभी-कभी अतिवृष्टि के कारण दुर्भिक्ष पड़ा करते हैं जिससे विपत्तियों के पहाड़ टूटकर इन किसानों के ऊपर गिर पड़ते हैं और उनकी रीढ़ की हड्डी ही मानों टूट जाती है। किसानों के पास अन्य साधनों के अभाव में ऋण लेने के सिवाय दूसरा चारा नहीं रह जाता है। पानी न बरसने, या पानी अत्यधिक बरसने या बाढ़ या आग लग जाने, या तुषार या ओले पड़ जाने या टिड्डियों के हमले या जिस किसी कारण से फसल खराब हुई कि मितव्ययी से मितव्ययी किसान को भी महाजन के चंगुल में फँसने के सिवाय दूसरा चारा रह ही नहीं जाता।

(३) ग्रामीण ऋण का तीसरा मुख्य कारण दुर्भिक्ष और रोगों के कारण उसके पशुओं की अत्यधिक संख्या में मृत्यु बतलाई जाती है। पशु-समस्या पर पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है। वहाँ हम देख चुके हैं कि चारे की कमी तथा विभिन्न प्रकार के रोगों के कारण लाखों की संख्या में बैल आदि कृषि के लिए अनिवार्यतः आवश्यक जानवरों की अचानक मृत्यु हो जाती है। बिना इन पशुओं के खेती का काम नहीं हो सकता। पशु के मर जाने पर नया पशु कहाँ से मिले। उसे खरीदना पड़ता है। खरीदने के लिए आवश्यक पूँजी किसान के पास होती नहीं। विवश होकर उसे ऋण लेना पड़ता है। यदि पशुओं के बीमा का प्रबन्ध (cattle insurance scheme) होता तो ऐसा नहीं करना पड़ता।

(४) ग्रामीण ऋण का चौथा मुख्य कारण किसानों की

अत्यधिक मुकदमेबाजी (litigation) **की आदत बताई जाती है।** भूमि सम्बन्धी झगड़े तथा ऋण सम्बन्धी झगड़े प्रायः हुआ करते हैं जिनमें इन किसानों का लाखों रुपया प्रति वर्ष बर्बाद होता है। ग्राम-पञ्चायत की प्रथा के क्रमशः लोप होने के साथ-साथ इन झगड़ों की संख्या बढ़ती गई और फलतः वकील-मुख्तारों की संख्या भी बढ़ती गई। गाँवों से मेल और सहकारी प्रवृत्ति का शनैः शनैः लोप होने लगा और उनके रिक्त स्थानों की पूर्ति झगड़े और दलबन्दी से होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि मुकदमेबाजी दिनों-दिन बढ़ती गई जिसके लिए भी कर्ज लेने के सिवाय दूसरा चारा नहीं होता। यहाँ यह संकेत कर देना अनुचित न होगा कि हमारी राष्ट्रीय सरकारें पञ्चायत-प्रथा को पुनः चालू करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील हैं। हमारे संयुक्त-प्रान्त में पञ्चायत का कानून भी बन गया है और हाल ही में ग्राम-पञ्चायतों की स्थापना गाँवों में हुई है। भगवान करें कि इससे किसानों के पारस्परिक झगड़े आसानी से बिना विशेष व्यय के तय हो जाँ और गाँवों का वातावरण पुनः शान्तिमय और स्नेहमय हो जाय।

(५) **ग्रामीण ऋण का पाँचवाँ मुख्य कारण गाँव के महाजन की नाजायज हरकतें हैं।** पहले के अध्यायों में उसकी इन अनुचित तथा निन्दनीय हरकतों पर यत्र-तत्र प्रकाश डाला जा चुका है जिनकी पुनरावृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं। हमारे यहाँ गाँवों में महाजन को छोड़कर अन्य साख-सुविधाओं (credit facilities) का एक तरह से सर्वथा अभाव है। कुछ सहकारी साख-समितियों की स्थापना हुई है किन्तु आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उनकी संख्या नगण्य के बराबर है। अतः किसानों को महाजन के यहाँ जाना ही

पड़ता है, जो उनको हर प्रकार से ठगने की कोशिश करता है और सफल भी रहता है ब्याज की दर इतनी ऊँची होती है कि किसानों के लिए प्रति वर्ष ब्याज का चुकाना ही असम्भव होता है। अतः वह पीढ़ी दर पीढ़ी ऋणग्रस्त चलता रहता है।

(६) ग्रामीण ऋण का छठवाँ कारण किसानों की अपव्ययता या फिजूलखर्ची बताई जाती है। प्रत्यक्ष में यह कथन बिल्कुल गलत और तर्कहीन मालूम पड़ता है। औसत भारतीय किसान को जीवन-रक्षक पदार्थों के लिए ही जब शोकातुर रहना पड़ता है तब उसको अपव्ययी बताना कहाँ तक न्यायसङ्गत और ठीक है। यह सच है कि साधारणतया वह अपनी आय का बड़ी मितव्ययिता से उपयोग करता है किन्तु ब्याह-शादी ऐसे सामाजिक कार्यों तथा मृत व्यक्तियों के श्राद्ध आदि धार्मिक कृत्यों के अवसरों पर प्रायः वह अपनी सामान्य मितव्ययता को ताक पर उठा कर रख देता है। इन अवसरों पर जो व्यय साधारणतया हमारे ग्रामीण भाई करते हैं उसका उनकी आय से कोई सम्बन्ध नहीं होता। महाजन से कर्ज लेकर आवश्यकता से अधिक धन सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं तथा परम्पराओं के दबाव के कारण उन्हें प्रतिवर्ष खर्च करना पड़ता है। उनका ऋण का बोझ उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि बहुत से स्थानों में दुलहिनें खरीदने में बड़ी रकम व्यय करनी होती है।

(७) ग्रामीण ऋण का सातवाँ कारण पैतृक ऋण (ancestral debt) बताया जाता है। ग्रामीण किसानों को ऋणी बनाने में पैतृक ऋण का बहुत बड़ा हाथ होता है। हमारे देश में पैतृक ऋण का भुगतान करना एक धार्मिक कर्तव्य

समझा जाता है। अधिकांश किसान पैतृक ऋण का बड़ा बोझ अपने सिर पर लिए हुए ही जीवन में प्रवेश करते हैं। अपनी सारी जिन्दगी वे उस बोझ को ढोते रहते हैं। भारतीय किसान ऋणी जन्म लेता है, जीवन भर ऋणी रहता है और ऋणी ही मर भी जाता है। कानून या नियम के अनुसार वह अपने पूर्वजों के उतने ही ऋण के लिए उत्तरदायी है जितनी कि सम्पत्ति उसे उत्तराधिकार में प्राप्त हुई होती है। यदि मरा व्यक्ति कुछ भी सम्पत्ति नहीं छोड़ जाता तो वह उसका ऋण चुकाने के लिए जिम्मेदार नहीं होता। किन्तु किसान इस नियम का लाभ नहीं उठाते, कुछ तो धार्मिक और सामाजिक दबाओं के कारण और कुछ इस नियम की जानकारी न होने के कारण।

(८) **ग्रामीण ऋण का आठवाँ कारण किसान की स्थिति में परिवर्तन बताया जाता है।** अँग्रेजी सत्ता के देश में स्थापित हो जाने के बाद यातायात के आधुनिक साधनों की उन्नति हुई जिनके कारण कृषि-जन्य पदार्थों की कीमत में भी वृद्धि हुई। हमारे उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये। खेती ही मुख्य पेशा रह गया। अतः भूमि की माँग भी दिनों दिन बढ़ती ही गई। माँग बढ़ जाने से उसकी कीमत भी बढ़ गई और इस प्रकार किसान की ऋण लेने की शक्ति भी बढ़ गई, क्योंकि भूमि की ही जमानत (security) पर तो वह ऋण लेता है। इसका भीषण परिणाम यह हुआ कि वह मनमानी ऋण महाजनों से लेता गया और महाजन भी उसे ऋण देते गए। आसानी से प्राप्त ऋण वह उचित-अनुचित, आवश्यक या अनावश्यक का ध्यान न रखते हुए मनमानी कार्यों में व्यय करता रहा और दिनों दिन उसका ऋण-भार बढ़ता गया।

(९) ग्रामीण ऋण का नवाँ कारण लगान की नीति बताई जाती है। अर्थ-शास्त्र के कुछ विद्वानों का मत है कि भूमि का लगान बहुत अधिक है और इसके वसूल करने में इतनी कड़ाई होती है कि समय पर उसे चुकाने के लिए आवश्यक धन न होने के कारण किसान को महाजन की शरण लेनी ही पड़ती है।

(१०) ग्रामीण ऋण का अन्तिम प्रमुख कारण किसानों की अशिक्षा और अज्ञान है। किसान की अशिक्षा उसकी सब प्रकार की उन्नति में बाधक होती है। अपनी अशिक्षा और अज्ञान के कारण वह दोनों सार्वजनिक और व्यक्तिगत जीवन में प्रत्येक पग पर अन्य चतुर व्यक्तियों द्वारा ठगा जाता है। अपने भोलेपन तथा अज्ञान के कारण वह चतुर, धूर्त और कार्य-कुशल व्यक्तियों का शिकार बनता रहता है। महाजन उसे ऋण लेने के लिए प्रलोभित करता है, वकील-मुख्तार लड़ाई-झगड़े की प्रेरणा देते हैं और व्यापारी उसे अपने माल को सस्ते दामों पर बेचने का जाल बिछाता है। अतः जो कुछ भी थोड़ी-बहुत उसकी आय होती है उसका सदुपयोग वह नहीं कर पाता है और उसे अपनी आवश्यकताओं के लिए ऋण लेना पड़ता है।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि ग्रामीण ऋण की समस्या उत्पन्न करने में विभिन्न प्रकार की शक्तियों का हाथ रहा है। हमारी ग्रामीण ऋण की भयावनी और जटिल समस्या इन सब शक्तियों की संयुक्त क्रियाशीलता का परिणाम है।

ग्रामीण ऋण-समस्या को हल करने का सरकारी प्रयत्न

भारतीय सरकार का ध्यान इस समस्या की ओर पिछली-

शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही आकर्षित हुआ था। उस समय से ही इस समस्या को हल करने के उद्देश्य से प्रेरित विभिन्न कानूनों का निर्माण सरकार ने किया। सन् १८८३ ई० में भूमि-सुधार-उधार कानून (Land Improvement Loans Act) तथा १८८४ ई० में कृषि उधार कानून (Agricultural Loans Act) पास हुआ। पहले कानून का उद्देश्य किसानों को कम सूद पर उत्पादक कार्यों, जैसे कृषि के उन्नत किस्म के औजारों की खरीद तथा भूमि की दशा सुधारने के लिए रुपया उधार देना था। दूसरे कानून का उद्देश्य अकालग्रस्त क्षेत्रों के किसानों को खेती के लिए आवश्यक बीज, बैल इत्यादि के खरीदने के लिए रुपया उधार देना था। सरकार किसानों को भूमि की जमानत पर उन्हें तकावी उधार (takkavi loans) देने लगी और किसानों को इनको सुविधाजनक किश्तों में चुकाने की सुविधा भी प्रदान की गई। कानून तो बन गया किन्तु उसका विशेष रूप से अमल नहीं हुआ। किसानों को भी इन सुविधाओं की प्राप्ति में बहुत अधिक परेशानी होती थी तथा समय पर रुपया नहीं मिल पाता था। अतः इन कानूनों और उनसे प्राप्त की जानेवाली सुविधाओं से किसानों को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

किसान प्रायः महाजन के यहाँ अपनी भूमि गिरवी रखकर रुपया उधार लेता था। प्रायः वह निश्चित समय पर रुपया लौटाने में असफल रहता था (और अब भी होता है)। इसका परिणाम यह होने लगा कि महाजन ने उसकी जमीन हड़प करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार किसानों के हाथ से भूमि तीव्र गति से निकलने लगी। सरकार का ध्यान इधर भी गया। इस त्रुटि को दूर करने के लिए सर्व प्रथम पंजाब सर-

कार ने १६०० ई० में एक कानून (Punjab Land Alienation Act) बनाया जिसके अनुसार किसानों से गैर-किसानों के हाथ भूमि का जाना रोक दिया। संयुक्त-प्रान्त में भी इस प्रकार के कानून बने हुए हैं। यू० पी० सरकार ने ऋण-सम्बन्धी कई कानून समय-समय पर बनाकर इस समस्या को प्रान्तीय पैमाने पर हल करने की चेष्टा की है।

किन्तु इन सब कानूनों से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ और ग्रामीण ऋण की स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही। इसी बीच में जर्मनी और इटली में सहकारी-आन्दोलन की सफलता से आकर्षित और प्रभावित होकर भारत-सरकार ने सहकारी-आन्दोलन द्वारा इसे हल करने का निश्चय किया। सन् १६०४ ई० में सहकारिता आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। देश के विभिन्न भागों में सहकारी साख-समितियों की स्थापना हुई। क्रमशः इनकी संख्या में वृद्धि हुई किन्तु इनसे भी कोई विशेष लाभ नहीं हुआ है। ग्रामीण ऋण की समस्या उसी प्रकार जटिल और भयावनी बनी हुई है। साख-समितियाँ, थोड़े समय के लिए कृषि में जिस ऋण की आवश्यकता होती है, उसी का प्रबन्ध कर सकती हैं किन्तु जब तक किसान अपना पुराना ऋण नहीं चुकाता तब तक उसे महाजन के चंगुल से मुक्ति नहीं मिल सकती। पुराने ऋण को चुकाने के लिए तथा अन्य स्थायी उत्पादक कार्यों के लिए दीर्घकालीन ऋण का प्रबन्ध भूमि-बन्धक-बैंक (Land Mortgage Bank) द्वारा हो सकता है। ये किसानों की भूमि गिरवी रखकर २० या २५ साल तक के लिए ऋण देते हैं और किसानों से किश्तों में वसूल करते हैं।

केन्द्रीय बैङ्किङ्ग-जाँच-समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने ऋण-समस्या को हल करने का

निम्नलिखित ढङ्ग बताया था:—इस कार्य के लिए प्रान्तीय सरकारों को विशेष कर्मचारियों की नियुक्ति करनी चाहिए जो गाँवों का दौरा करके किसानों के ऋण का पता लगावें। इसके बाद कानून बनाकर महाजनों को किसानों के ऋण का पूरा हिसाब बताने के लिए बाध्य किया जाय। यह सब कर लेने के बाद उक्त प्रकार के कर्मचारी को किसानों से कम से कम रुपया लेकर महाजनों को उन्हें ऋण-मुक्त करने के लिए तैयार करना होगा। जब यह निश्चित हो जाय कि कम से कम कितने रुपए से किसान ऋण-मुक्त हो जाएगा तब किसान को किसी साख-समिति का सदस्य बना देना होगा। साख-समिति को किसान का ऋण एक मुश्त या किश्तों में चुका देना होगा तथा खेती के लिए आवश्यक धन भी उसे किसान को देते रहना होगा। साख-समिति किसान से अपना रुपया किश्तों में धीरे-धीरे वसूल करती रहे। महाजन इस प्रकार का समझौता करने के लिए यदि तैयार न हों तो उन्हें कानून के द्वारा ऐसा करने के लिए बाध्य करना होगा। कुछ प्रान्तों से ऋण-समझौता बोर्ड (Debt Conciliation Board) तथा भूमि-बन्धक बैङ्कों की स्थापना हुई है।

पिछले चन्द वर्षों में विभिन्न प्रान्तों में ऋणग्रस्त जमींदारों और किसानों की रक्षा के हेतु कुछ कानून बने हैं। हमारे संयुक्तप्रान्त में भी कुछ कानून इस सम्बन्ध में बने हैं। इन कानूनों के द्वारा भूमि या जमींदारी ऋण के भुगतान में कुर्क नहीं की जा सकती। अदालत सूद की दर निश्चित करके किश्त बाँध देती है, जिसके अनुसार ऋणी को ऋण चुकाना होता है। इस प्रकार के कानूनों से जमींदारों को विशेष लाभ हुआ है किसानों की दशा में विशेष सन्तोषप्रद परिवर्तन नहीं

हुआ है। वास्तव में यह समस्या इतनी जटिल और टेढ़ी है कि इसका समुचित समाधान छिट-फुट प्रयत्नों से नहीं हो सकता है। इसके लिए तो कोई बड़ा क्रान्तिकारी कदम उठाने की आवश्यकता है।

ग्रामीण ऋण की समस्या के हल पर विचार करते समय भावनगर राज्य का ग्रामीण ऋण सम्बन्धी प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हमारे देश में इस समस्या को हल करने का वास्तविक प्रयत्न वहीं हुआ है और उसमें पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई है। अतः इस योजना की रूपरेखा का वर्णन इस सिलसिले में लाभप्रद ही होगा।

ग्रामीण ऋण-सम्बन्धी भावनगर-योजना

भावनगर के तत्कालीन दीवान सर प्रभाङ्कर पट्टनी ने पहला काम यह किया कि राज्य भर के समस्त ऋणी किसानों के ऋण की जाँच कराई। जाँच से ज्ञात हुआ कि यह ऋण कुल ८६ लाख से कुछ अधिक है। ग्रामीण ऋण का इस प्रकार अनुमान लगा लेने के बाद उन्होंने राज्य भर के महाजनों को बुलाया और उनसे २० लाख रुपया लेकर किसानों को ऋण-मुक्त कर देने के लिए कहा। आरम्भ में महाजनों ने इसे स्वीकार करने में कुछ आनाकानी की। किन्तु जब उन्हें यह बिलकुल स्पष्ट हो गया कि समझौता न करने पर राज्य ऐसा नियम या कानून बना देगा कि किसानों से रुपया वसूल करना बिलकुल असम्भव हो जायगा तब उन्होंने समझौता करना स्वीकार कर लिया और २० लाख रुपया लेकर वे किसानों को ऋण-मुक्त करने के लिए तैयार हो गए। राज्य की ओर से महाजनों को एक मुश्त २० लाख रुपए मिल गए। राज्य को

ग्रामीण ऋण की समस्या हल हो गई। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय बात है कि प्रति वर्ष किसानों को लगभग २५ लाख रुपए इन महाजनों को सूद में देने पड़ते थे। राज्य अब अपना रुपया किसानों से लगान के साथ वसूल करता है। सहकारी-साख-समितियों की स्थापना भी हो गई है जिनसे किसानों को कृषि-कार्य के लिए आवश्यक धन उधार मिलता रहता है और उनके महाजनों के चंगुल में फँसने की नौबत नहीं आने पाती। राज्य की ओर से भी किसानों को तकावी दी जाती है। जिससे उनका काम सुचारुरूप से चलता रहता है। इसका बड़ा ही सन्तोषजनक प्रभाव किसानों की आर्थिक दशा तथा खेती के सुधार पर पड़ा है। अधिकांश किसान स्वयं वैज्ञानिक ढङ्ग से खेती करने लगे हैं। अच्छे हल-बैल, उत्तम प्रकार की खाद और बीज का उपयोग निरन्तर बढ़ रहा है। ऐसी दशा में गाँवों की आर्थिक दशा सुधरती जा रही है।

देश के अन्य भागों में इस प्रकार का कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया है। आवश्यकता इस बात की है कि भावनगर-योजना की तरह कोई योजना समस्त देश के लिए कार्यान्वित की जाय तभी ग्रामीण किसानों को ऋण-मुक्त किया जा सकता है। प्रान्तीय सरकारों को अपने प्रान्तों के ऋण का पता लगाने के लिए आवश्यक जाँच करानी होगी। पुनः कानून बनाकर उस ऋण को उचित मात्रा में कम करना होगा। जिन किसानों की दशा इतनी खराब हो कि दस वर्ष में भी वे इस घटी हुई रकम को भी नहीं चुका सकते उन्हें 'ग्रामीण दिवालिया कानून' (Rural Insolvency Act) का निर्माण करके दिवालिया घोषित कर देना होगा तथा उन्हें नए सिरे से कार्य करने की अनुमति प्रदान करनी होगी। खेती की आवश्यक

वस्तुओं (जैसे हल-बैल, बीज इत्यादि) तथा कम से कम ६ मास के भोजन के लिए अन्न छोड़कर उनके पास जो बच रहे उसे उनके महाजनों में बाँट देना होगा। अन्य बाकी किसानों के कर्जे की घटाई हुई रकम सरकारी बांडों (Bonds) के रूप में महाजनों को दे देना होगा। इस प्रकार सरकार उन महाजनों की कर्जदार हो जायगी। जब तक सरकार इन महाजनों का पूरा भुगतान नहीं कर पाती तब तक उस पर २½ या अधिक से अधिक ३ प्रतिशत व्याज देती रहे। सरकार भी यह रकम किसानों से उसी सूद की दर से मय सूद के वसूल करती रहे। इसके साथ ही साथ गाँवों में साख-सुविधा को अधिक से अधिक व्यापक बनाना होगा, अन्यथा इन किसानों का महाजनों के जाल में फिर से फँस जाना अवश्यम्भावी है! ग्रामीण ऋण रूपी वृक्ष को समूल नष्ट करने के लिए दुधारी कुल्हाड़ी का प्रयोग करना होगा। सर्वप्रथम ऋण को भावनगर-योजना के आधार पर मिटा देना होगा। दूसरे इन किसानों के लिए साख-सुविधाओं का पर्याप्त मात्रा में प्रवन्ध करना होगा। बिना इस प्रकार के किसी क्रान्तिकारी कदम उठाए स्थिति में सन्तोषप्रद सुधार नहीं किया जा सकता है। अतः हमारी सरकारों को अविलम्ब रूप से कार्यरत हो जाना चाहिए। ग्रामीण जनता के ऋण का यही एक मात्र उपाय है। इसी में हमारे देश, समाज और राष्ट्र का कल्याण है। बिना इस विकट समस्या को हल किए देश की आर्थिक दशा नहीं सुधर सकती।

लड़ाई-झगड़े और मुकदमेबाजी

ग्रामीण ऋण के सिलसिले में किसानों की मुकदमेबाजी की आदत की ओर संकेत किया जा चुका है। यह उनके ऋणी

होने के कारणों में से एक मुख्य कारण है। यदि इन गाँवों पर दृष्टि डाली जाय तो सर्वत्र कलह, द्वेष और ईर्ष्या आदि का बोल-बाला दिखाई पड़ता है। ग्रामीण जनता का इतना अधिक नैतिक पतन हो गया है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को देखकर जलता रहता है, उसकी अच्छी आर्थिक दशा देखकर हृदय में जलभुन उठता है। उससे वह अपनी दशा अच्छी करने की प्रेरणा नहीं लेता बल्कि वह तो यही चाहता है कि उसकी दशा भी खराब हो जाय। इतना ही नहीं, वे हर प्रकार से एक दूसरे को हानि पहुँचाने की कोशिश भी करते हैं। अपने छोटे से छोटे हित के लिए वे दूसरों का बड़े से बड़ा अहित करने में नहीं हिचकते। जिस भारत की जनता अपनी सच्चाई, ईमानदारी और न्याय-प्रियता के लिए दुनिया के अन्य देशों के लिए आदर्श या नमूने का काम देती थी आज उसी भारत की ग्रामीण जनता का इतना नैतिक पतन हो गया है कि उसकी कल्पना आसानी से नहीं की जा सकती। जो देहातों के वातावरण से परिचित नहीं है उनके लिए तो यह कार्य और भी कठिन है। किन्तु वास्तविकता यह है कि आर्थिक दृष्टि से वे इतने असहाय और विवश होते हैं कि उनके लिए नैतिकता का कोई मूल्य नहीं। कहावत भी है कि: "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्" अर्थात् भूखा मनुष्य कौन पाप नहीं कर सकता (यानी सब कुछ कर सकता है)। इनकी दशा उन दो कुत्तों जैसी होती है, जो किसी टुकड़े के लिए आपस में एक दूसरे से लड़ते हों। यही कारण है कि ग्रामीण किसान छोटी-छोटी बातों में आपस में लड़ते और झगड़ते रहते हैं और लाखों रुपये व्यर्थ में हर साल बर्बाद करते हैं।

मुकदमेबाजी केवल आर्थिक दृष्टि से ही हानिकारक और

फलतः निन्दनीय नहीं होती वल्कि इसका विषैला प्रभाव लोगों की नैतिकता पर पड़ता है। इसके कारण गाँवों में तरह-तरह की दलवन्दियाँ होती हैं। एक दल दूसरे दल की हर वात में विरोध करता है। इन दलों का पारस्परिक वैमनस्य कभी-कभी तो इतना वढ़ जाता है कि वे एक दूसरे का विनाश करने के लिए हर प्रकार के अनुचित से अनुचित तरीकों को अपनाने में नहीं हिचकते। एक दल का दूसरे दल की फसल चोरी से काट ले जाना तो वहुत साधारण सी वात है। कभी-कभी आग लगाकर विरोधी दल की समूची फसल नष्ट कर दी जाती है। कभी-कभी कतिपय व्यक्तियों की जानें भी चली जाती हैं। सारा ग्रामीण जीवन अशान्तिमय और दूषित हो उठा है।

मुकदमेवाजी के प्रमुख कारण

प्रश्न उठता है, कि मुकदमेवाजी के मुख्य कारण क्या हैं? हमारी ग्रामीण जनता इस विनाशकारी आदत का शिकार क्यों कर वनी ? इस सम्वन्ध में निम्नलिखित वातें स्मरणीय हैं:—

सवसे प्रमुख कारण इन गाँवों की आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक हीन दशा है। अधिकांश किसान आर्थिक पतन के गर्त में डूवे हुए-से होते हैं। उन्हें अपने जीवन-रक्षक पदार्थों के लिए शोकातुर रहना पड़ता है। आर्थिक कारणों से व्यथित और पीड़ित व्यक्ति नैतिकता के वोझ को नहीं सँभाल सकता। "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्" वाली कहावत पुनः अपने आप मस्तिष्क में आ जाती है। आर्थिक दृष्टि से निश्चित व्यक्ति में सहन-शक्ति अधिक होती है। वह कुछ ज्यादती भी वर्दाश्त कर लेता है। किन्तु निर्धन व्यक्ति में इसका अभाव होता है। साधनहीन होने के कारण उसे छोटी से छोटी वातों के लिए

विशेष रूप से सावधान रहना पड़ता है। उसकी एक-एक वर्ग इञ्च भूमि उसके लिए अत्यधिक प्यारी होती है। अतः एक वर्ग इञ्च भूमि के लिए भी वह लड़ पड़ता है। यद्यपि इसमें उसकी अत्यधिक आर्थिक हानि होती है, किन्तु इसकी वह ज़रा भी पर्वाह नहीं करता। फिर एक बात यह भी तो है कि निर्धनता के कारण मनुष्य झगड़ालू अधिक हो जाता है। लड़ाई-झगड़े की प्रवृति तो मनुष्य मात्र में पाई जाती है। किन्तु सम्पन्न व्यक्तियों या उनके समुदाय में यह प्रवृत्ति दबी रहती है।

दूसरा प्रमुख कारण ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के साथ ग्राम-पंचायतों की प्रथा का गाँवों से लोप हो जाता है। प्राचीन काल में प्रत्येक गाँव में पंचायत हुआ करती थी और उसी के द्वारा ग्रामीण झगड़े आसानी से तय हो जाते थे। ग्राम-पंचायतों की उत्तरोत्तर अवनति के कारण न्याय के लिए कचहरी की शरण लेने के सिवाय किसानों के पास दूसरा चारा ही नहीं रह गया। अतः मुकदमों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती ही गई।

इस सम्बन्ध में पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क का भी बुरा प्रभाव पड़ा है। इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप लोगों में व्यक्ति वादी प्रवृति (Individualistic tendency) का क्रमश जोर बढ़ता ही गया है। आधुनिक युग की विचार धाराओं ने भारतीय किसान को भाई-चारे के विरुद्ध और निकृष्टतम प्रकार के व्यक्तिवाद की ओर झुका दिया है। मनुष्यों में एक दूसरे के लिए ज़रा सी भी सहानुभूति नहीं रह गई है। मनुष्य परले दर्जे का स्वार्थी हो गया है। स्वार्थान्ध मनुष्य केवल अपने स्वार्थ को देखता है और जहाँ उस पर तनिक आँच आई कि

लड़ने-झगड़ने के लिए तैयार हो जाता है। कहावत भी है, **"अर्थातुराणां न च पिता न बन्धुः"**। धन के लिए आतुर व्यक्ति के लिए न तो पिता कोई चीज है न भाई कोई चीज है।

मुकदमेबाजी का एक और प्रमुख कारण हमारे किसानों की अशिक्षा और अज्ञान है। अशिक्षित होने के कारण वह अदूरदर्शी होता है। किसी समस्या के विभिन्न पहलुओं के समझने की शक्ति उसमें नहीं होती। शिक्षितों में दूसरों की विचार-दृष्टि को समझने तथा उसके औचित्य और अनौचित्य के सम्बन्ध में निर्णय करने की क्षमता होती है। शिक्षित व्यक्ति साधारणतया शान्तिप्रिय होते हैं। हमारे अनपढ़ किसान अपनी ही बात को सही समझते हैं चाहे वह भले ही गलत हो। वे दूसरों के दृष्टिकोण पर ध्यान देने में असमर्थ होते हैं। ऐसी दशा में छोटी-मोटी बातों पर भी उनका दूसरों से लड़ बैठना स्वाभाविक ही है।

कुछ विद्वानों की राय में गाँवों में मनोरंजन के साधनों का सर्वथा अभाव भी किसानों के लड़ाई-झगड़े तथा मुकदमेबाजी का एक मुख्य कारण है। मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों (instincts) में एक मुख्य प्रवृत्ति झगड़ालूपन (instinct of combat) की भी होती है। इसके प्रकाशन का भी अवसर प्राप्त होना चाहिए। यदि खेल-कूद या अन्य प्रकार के मनोरंजन के कार्यों में यह शक्ति नहीं लगाई गई तो इसका प्रकाशन बुरे कार्यों द्वारा ही होगा। अतः इन विद्वानों के मतानुसार गाँवों में मनोरंजन तथा खेल-कूद के साधनों के अभाव के कारण किसानों का लड़ने-झगड़ने से कुछ मनबहलाव हो जाता है।

यही कारण है कि भोला-भाला किसान भी समय-समय पर लड़ बैठता है।

मुकदमेबाजी रोकने के उपाय

यदि ऊपर बताए गए लड़ाई-झगड़े के कारणों को स्मरण रक्खा जाय तो इनको दूर करने के उपाय भी आसानी से समझे जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक आवश्यक काम यह है कि किसानों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए ताकि किसी भी समस्या पर वे अच्छी तरह सोच-विचार कर सकें तथा दूसरों के दृष्टिकोण को भी समझने की शक्ति उनमें आ जाय। किसानों के शिक्षित हो जाने पर लड़ाई-झगड़े अपने आप कम हो जाएँगे और जब कभी झगड़ा हो भी जायगा तो वे आपस में ही उसे तय भी कर लेंगे।

दूसरा उपाय पंचायतों का पुनरुत्थान करना है। हर्ष और सन्तोष की बात है कि हमारी राष्ट्रीय सरकारें पुरानी पंचायत प्रथा को फिर से प्रचलित करने के लिए विशेष आकुल हैं। हमारे संयुक्त-प्रान्त में तो पंचायतों की स्थापना भी हो गई है। इन पंचायतों के द्वारा किसानों के अधिकांश झगड़े आसानी से तय हो जाया करेंगे और उन्हें कचहरियों तथा वकील-मुख्तारों की शरण लेने की आवश्यकता नहीं रह जायगी।

तीसरा उपाय है ग्रामवासियों की आर्थिक दशा में सुधार करना। इसके लिए खेती की दशा सुधारनी होगी तथा सहायक उद्योग-धन्धों की पर्याप्त मात्रा में वृद्धि करनी होगी। सहायक उद्योग-धन्धों की वृद्धि से यह भी लाभ होगा कि किसान को बेकार रहने का अवसर न मिलेगा। "खाली दिमाग शैतान का घर होता है।" अतः बेकार रहने के कारण जो खुराफात वह

सोचने और करने लगता है निरन्तर कार्यरत रहने के कारण नहीं कर पाएगा।

अन्त में हमें मनोरंजन तथा खेल-कूद के साधनों का भी प्रबन्ध करना होगा। हमें गाँव के समूचे वातावरण को स्वस्थ और सुन्दर बनाना होगा। जिस व्यक्ति का मन घर में नहीं लगता, जिसकी पत्नी गार्हस्थ्य जीवन को सुखमय बनाना नहीं जानती, शिशुओं का भली प्रकार लालन-पालन नहीं कर सकती तथा अपने पति को सहयोग प्रदान नहीं कर सकती, उसमें लड़ने-झगड़ने की मनोवृत्ति का उदय होना अवश्यम्भावी होता है। यदि परिवार का कार्य-संचालन भली प्रकार करनेवाली गृहिणी घर में हो, घर सुन्दर तथा आकर्षक हो तो कोई कारण नहीं कि लोग लड़ाई-झगड़ों में भाग लें। सामाजिक जीवन के लिए आत्म-नियन्त्रण (self control) और स्वाभिमान की अत्यधिक आवश्यकता होती है। ग्रामीण जनता में इसका बहुत अभाव पाया जाता है। इन गुणों को गाँवों में लाने के लिए स्त्रियों का शिक्षित होना तथा उनमें बच्चों के लालन-पालन करने का समुचित ज्ञान होना बहुत ही जरूरी है। अतः ग्रामीण स्त्रियों के सुधार की कड़ी आवश्यकता है। घरों की आकर्षकता बढ़ाने के हेतु कतिपय विद्वानों ने गृह-वाटिका आन्दोलन (home garden plot) चलाने की राय दी है। उनके विचार से प्रत्येक घर के साथ एक छोटी-सी वाटिका हो जिसमें फल-फूल के वृक्ष लगाए तथा विभिन्न प्रकार की तरकारियाँ बोई जा सकें। इससे घर का वातावरण अधिक सुन्दर बन जाएगा और मनबहलाव भी होता रहेगा।

यदि ऊपर बताए गए उपायों का सहारा लिया जाय तो निश्चय ही ग्रामीण किसानों की मुकदमेबाजी की अति हानि-

कारक आदत शीघ्र ही छूट जायगी और हमारे गाँवों का वातावरण स्नेहमय तथा शान्तिमय हो जायगा। सर्वत्र मेल और भाईचारे के सुन्दर दृश्य देखने को प्राप्त होंगे तथा ग्रामीण जनता सुखमय जीवन व्यतीत करने लगेगी।

पच्चीसवाँ अध्याय

स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ

सफाई की समस्या

नगरवासियों की यह धारणा होती है कि ग्रामीण व्यक्तियों का स्वास्थ्य बहुत ही अच्छा होता है, क्योंकि गाँवों में बस्ती बहुत घनी नहीं होती है। खुली हुई स्वच्छ और स्वास्थ्यप्रद वायु, जिसका बहुत बड़ा प्रभाव मानव-स्वास्थ्य पर पड़ता है, मिलती है। वे समझते हैं कि नगरों और शहरों में ही विभिन्न प्रकार की गन्दगी होती है जिससे समस्त वायुमण्डल दूषित होता रहता है और नगरवासी नाना प्रकार के रोगों से आक्रान्त रहते हैं। सूर्य का प्रकाश भी गाँवों में सबको खूब मिलता है जिससे नगरवासियों में वे लोग जो कई मञ्जिलवाले मकानों के निचले भाग में होते हैं वञ्चित रहते हैं। एक समय था जिसके लिए ग्रामीण जनता के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में यह धारणा ठीक थी। किन्तु वर्तमान समय में तो यह बिलकुल गलत मालूम पड़ती है। जो गाँव किसी समय सफाई और स्वच्छता के केन्द्र थे वे ही आज गन्दगी के केन्द्र-से दिखाई पड़ते हैं। यदि नगरवासी ग्रामों में जाकर उनकी सफाई की ओर ध्यान दें तो उन्हें अपनी गलत

धारणा का पता चल जाय। किसी भी गाँव को ले लीजिए। वहाँ आपको यत्र-तत्र कूड़ा-करकट, गन्दे तालाब, जिनका पानी सड़ता हुआ होता है, गन्दे कुएँ और गन्दी नालियाँ देखने को प्राप्त होंगी। घरों के बाहर कूड़ा-करकट फेंका रहता तथा जानवरों के मलमूत्र के घूरे लगे होते हैं। इन गन्दगियों में विभिन्न रोगों के कीटाणु जन्म लेते रहते हैं, जिससे तरह-तरह की बीमारियाँ फैला करती हैं। मक्खियाँ जो इन गन्दे स्थानों पर भिनभिनाती देखी जाती हैं, किसानों के भोजन पर भी बैठती हैं और उसे विषैला कर देती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि गाँवों में आजकल बहुत ही गन्दगी पाई जाती है जिससे गाँव का वायुमण्डल दूषित और विषाक्त होता है। एक बात और है। ग्रामवासी स्वयं अपने स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान भी नहीं देते। स्वास्थ्य की दृष्टि से उनके रहन-सहन का ढङ्ग बहुत ही त्रुटिपूर्ण होता है। उनके कपड़े अत्यन्त मैले होते हैं। यहाँ तक कि उनमें बदबू भी होती है। घर भी साफ-सुथरे नहीं होते। उनमें हवा-रोशनी का समुचित प्रबन्ध नहीं होता। घरों के पानी के बहाव का कोई प्रबन्ध नहीं होता। प्रायः पानी गलियों में बहा करता है। ये गलियाँ शत-प्रतिशत कच्ची होती हैं, जिससे उनमें पानी सड़ा करता है। बरसात में तो ये दलदल का रूप धारण कर लेती हैं। घर की औरतें तो घर को साफ रखने का कुछ प्रयत्न रखती हैं। किन्तु बेचारी इन गलियों की ओर ध्यान देनेवाला कोई नहीं होता। गाँवों में एक बड़ी त्रुटि यह है कि शौचादि के लिए लोग आबादी के चारों ओर मैदान और खेतों में जाया करते हैं। इससे भी चारों ओर बदबू फैलती रहती है। इसके अतिरिक्त यह भी देखने में आता है कि बहुत से किसान एक ही घर में पशुओं के साथ

रहते हैं जिससे घर और अधिक गन्दे हो जाते हैं। अतः गाँवों में सर्वत्र गन्दगी ही गन्दगी देखने को मिलती है। इसका भयङ्कर परिणाम यह होता है कि प्लेग, हैजा, चेचक, मलेरिया इत्यादि विभिन्न प्रकार की महामारियों और रोगों का प्रभुत्व साल भर तक जमा रहता है। लाखों की संख्या में मनुष्य और उनके पशु मृत्यु के शिकार बनते रहते हैं। लोगों का स्वास्थ्य साधारणतया खराब रहता है जिससे उनकी कार्य-शक्ति और क्षमता भी बहुत कम होती है। यदि लोग स्वास्थ्य की ओर ध्यान दें और विभिन्न प्रकार की गन्दगियों को दूर कर गाँव के वायु-मण्डल को शुद्ध करें तो उनकी कार्य-शक्ति और क्षमता दोनों में पर्याप्त सुधार अवश्य ही होगा। इससे उनकी खेती की उपज भी बढ़ेगी और उनकी आर्थिक दशा में सुधार होगा। इसके साथ ही साथ विभिन्न रोगों की चिकित्सा में जो कुछ भी उनका व्यय होता है वह बच रहेगा। इससे भी उनकी आर्थिक स्थिति के ठीक होने में मदद मिलेगी। अतः सफाई की समस्या ग्रामों की दशा सुधारने के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण और गम्भीर समस्या है जिसके समुचित समाधान पर इन गाँवों का सुख और शान्ति बहुत कुछ अंशों में निर्भर है। अतः शीघ्र से शीघ्र हमारी राष्ट्रीय सरकारों, अन्य लोकसेवी संस्थाओं तथा परोपकारी व्यक्तियों को इस समस्या को उचित ढंग से हल करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

अब हमें बारी-बारी से गाँवों में पाये जाने वाले गन्दगी के प्रमुख केन्द्रों की ओर ध्यान देना है और किस प्रकार उनको स्वच्छ और स्वस्थ बनाया जा सकता है इस पर विचार करना है।

गाँव के घर

गाँव की अपेक्षा उसके घरों में सफाई अधिक मिलती है। किसानों की धर्मपत्नियाँ घरों को मिट्टी और गोबर से लीप-पोत कर प्रायः साफ रखती हैं। वे अपने बर्तनों को भी साफ रखने का समुचित ख्याल रखती हैं। विशेष त्रुटि घरों के सम्बन्ध में यह होती है कि उनके बनाने में हवा और रोशनी का बिल्कुल ख्याल नहीं रखा जाता। अधिकांश मकानों में खिड़कियाँ और रोशनदान होते ही नहीं। प्रायः मकान आपस में बहुत सटे हुए भी होते हैं। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि एक ही कमरे में भोजन भी बनाया जाता, सामान भी रक्खा जाता है तथा सोया भी जाता है। बन्द कमरे में खाना बनाने से धुआँ भर जाता है। इससे सब चीजें काली हो जाती हैं और स्त्रियों की नेत्र-शक्ति पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः ऐसा नहीं होना चाहिए। रसोई बनाने के लिए अलग कमरा होना चाहिये। यदि कमरों की कमी हो तो आँगन या बरामदे में एक ओर अलग चूल्हे-चौके का प्रबन्ध हो तो अच्छा होगा।

दूसरी विशेष सावधानी यह करनी होगी कि एक घर में जानवरों के साथ रहने की प्रथा का सर्वदा परित्याग करना होगा। ऐसा करने से पशुओं द्वारा बाहर निकाली गई साँस का मनुष्य भीतर लेते हैं और मनुष्य की बाहर निकाली हुई साँस को पशु भीतर लेते हैं। इसका हानिकारक प्रभाव दोनों के स्वास्थ्य पर पड़ता है। एक बात और है। पशु जहाँ रहते हैं वहीं पाखाना-पेशाब करते रहते हैं। अतः इससे भी घर विशेष रूप से गन्दे होते रहते हैं और घर की सारी हवा

दूषित होती रहती है। अतः पशुओं के निवास-स्थान के लिए अलग प्रबन्ध करना होगा।

गाँव की गलियाँ और सड़कें तथा पानी का बहाव

गाँव की गलियाँ और सड़कें बिल्कुल कच्ची होती हैं। कच्ची तो होती हैं किन्तु दूसरी बड़ी कमी यह है कि वे समतल भी नहीं होतीं। गलियों में घरों का पानी निरन्तर सड़ा करता है। सड़कें भी बहुत पतली होती हैं। प्रायः सड़कों के दोनों ओर के खेतों के मालिक दोनों ओर सड़क को काट कर अपने-अपने खेतों में मिलाने का प्रयत्न करते रहते हैं। जिससे सड़क पतली और टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है। प्रायः यह भी देखने में आता है कि सड़कों की मिट्टी खोद कर लोग अपने खेतों की मेंड़ बनाते हैं या अन्य किसी काम के लिए भी यदि मिट्टी की आवश्यकता हुई तो खोद ले जाते हैं। इससे सड़कों और रास्तों में छोटे-छोटे गड्ढे बन जाते हैं। अधिकांश सड़कें आस-पास के खेतों से नीची होती हैं और बरसात के दिनों में उनमें पानी भर जाता है। इससे इन सड़कों पर बैल गाड़ियों, जो देहात में यातायात के मुख्य साधन हैं, का चलना असम्भव होता है। सरकार को इस ओर ध्यान चाहिए और इन सड़कों को पक्की करा देना चाहिए। जब तक यह नहीं हो जाता तब तक इन सड़कों की निगरानी का भार ग्राम-पंचायतों पर डाल दिया जाय। वे लोगों को सड़कों से मिट्टी खोदने की मनाही करेंगी। प्रति वर्ष बरसात के बाद गाँव-वाले सब मिलकर सड़क की मरम्मत करें। सरकार और जिला बोर्ड को नियम बनाकर यह घोषित कर देना चाहिए कि जो गाँव सड़कों के बनाने के लिए आवश्यक श्रम मुफ्त में

देगा उसको कंकड़ और अन्य सामान सड़क को पक्की बनाने के लिये मुफ्त में दिए जाएँगे। इस तरह अपेक्षाकृत बहुत थोड़े व्यय में इन सड़कों की दशा सुधारी जा सकती है। गाँव की गलियों की ओर भी ध्यान देना होगा। भोजन बनाने और बर्तन धोने आदि के कार्यों में जो पानी घरों में गिरता है वह प्रायः इन्हीं गलियों में सड़ा करता है क्योंकि उसके बहाव का कोई प्रबन्ध नहीं होता। जिधर नजर दौड़ाइए उधर ही गाँव की गलियों में काली कीचड़ दिखाई देती है। कुओं के पास भी जो पानी गिरता है उसके बहाव का कोई प्रबन्ध नहीं होता! गलियों में जहाँ तहाँ पानी जमा रहता है और उनमें मच्छर पैदा होते रहते हैं, जो लोगों को काटकर मलेरिया जैसे भीषण प्रकार के ज्वर को फैलाते रहते हैं। कुओं के पास जो पानी गिरता है उसके निकास के प्रबन्ध न होने के कारण धीरे-धीरे वह कुएँ की पास की ही जमीन में मिलता रहता है और वही पानी फिर कुएँ में जाता है जिससे पानी खराब हो जाता है। अधिकतर कुओं की जगत जमीन की सतह के बराबर हो होती है जिससे बाहर का पानी भी उसमें कभी-कभी गिरता रहता है। अतः कुओं की जगत उसके पास की भूमि से कम से कम डेढ़ फीट ऊँची होनी चाहिए। यदि कुओं के चारों ओर ढलवाँ सीमेंट की नाली बनवा दी जाय तो गिरनेवाला पानी कुएँ के पास ही न भरे। कुएँ की नाली को एक बड़ी नाली से मिला देना होगा। यदि यह नाली भी कंकड़ की बन जाय तो अत्युत्तम होगा। इस नाली के द्वारा पानी गाँव के बाहर ले जाया जाय। एक अच्छा उपाय यह भी है कि कुओं के पास एक छोटा बाग हो जिसमें फल-फूल के पेड़ और तरकारियों के पौदे लगे हों। कुओं के पास गिरनेवाला पानी

इन पेड़-पौदों को सिंचाई में लगाया जाय। इससे आर्थिक लाभ भी होगा और सफाई भी रहेगी। जिन घरों में पानी का वहुत अधिक उपयोग होता है वहाँ भी गिरे हुए पानी को गृहवाटिका के पौदों की सिंचाई में लगाने से सफाई अधिक रहेगी। हमारे संयुक्तप्रान्त में पानी के वहाव की समस्या को हल करने के लिए सोकेज पिट (sookage pit) कुछ स्थानों में वनवाए गए हैं। इन सोकेज पिट से समुचित लाभ तभी हो सकता है जव कि वे वहुत वड़े और खूव अधिक गहरे हों। साथ ही साथ उनको अच्छी तरह का वनवाना भी वहुत जरूरी है।

खाद के गड्ढे (Manure Pits)

किसान अपने घर के कूड़ा करकट तथा पालतू पशुओं के गोवर आदि का ढेर अपने मकानों के पास ही लगाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि एक तो खाद अच्छी नहीं तैयार होती; दूसरे उससे वायु अशुद्ध होती है, तीसरे उसमें मक्खियाँ और विभिन्न प्रकार के कीड़े पैदा होते रहते हैं जिनसे वीमारियाँ फैलती हैं। इसके अतिरिक्त वायु द्वारा उसमें से धूल उड़-उड़कर किसानों के भोजन तथा कुओं के पानी इत्यादि में मिलती रहती है। जो स्वास्थ्य की दृष्टि से ठीक नहीं होता। अतः इस प्रथा का अन्त करना होगा। किसानों को अपने घरों के पास गोवर आदि का ढेर लगाने की मनाही करदी जाय। खाद और अन्य प्रकार के कूड़ा करकट को रखने के लिये गड्ढे खोदे जायँ प्रत्येक किसान अपने लिए दो गड्ढे खोदे। उसमें से एक में खाद और कूड़ा करकट रोज भरता जाय। जव गड्ढा भर जाय तव उसे मिट्टी से ढक दे। इसके वाद दूसरे गड्ढे में गोवर

और कूड़ा इत्यादि भरना आरम्भ कर दे। जब तक यह गड्ढा भरेगा तब तक पहले गड्ढे में अच्छी खाद बनकर तैयार हो जायगी।

तालाबों की सफाई

तालावों की अधिकतर भारतीय गाँवों की एक प्रमुख विशेषता है। प्रत्येक गाँव में कई एक तालाव या पोखरे मिलते हैं। इन तालावों और पोखरों में वर्षा का पानी वह कर जमा होता रहता है। वाहर से पानी तालावों में वह कर तो आता है किन्तु इन तालावों से पानी वाहर जाने का रास्ता नहीं होता, जव तक इतनी अधिक वृष्टि न हो जाय कि तालाव लवालव भर जायँ और उनके ऊपर से पानी वह कर निकल जाय। यदि यह हुआ भी तो केवल तालाव भर जाने के वाद जो अधिक पानी होगा वही वह सकेगा। कुछ समय के वाद जव अधिक पानी वह जाता है पानी की सतह कम हो जाती है और फिर तालाव का पानी तालाव से वाहर नहीं जा सकता वह स्थिर रहता है। स्थिर पानी, जैसा कि सव जानते हैं, स्वास्थ्य की दृष्टि से खराव होता है। स्थिर होने के कारण वह सड़ा करता है। अतः ग्रामीण तालावों का पानी वहुत गन्दा होता है। अधिकांश में वदवू भी रहती है।

किन्तु तालावों के पानी के गन्दा होने का कारण केवल पानी की स्थिरता ही नहीं है। इसके अन्य और कारण भी हैं। सर्वप्रथम वरसात के दिनों में जो पानी गाँवों से वह कर आता है उसमें गाँव का कूड़ा-करकट, गोवर आदि भी शामिल होता है। पानी के साथ ये सव गन्दी चीजें तालावों में जमा होती रहती हैं। दूसरी वात यह है कि इन तालावों के इर्द-गिर्द

ही ग्रामीण जनता शौचादि के लिए जाती है और तालावों में ही आवदस्त लिया जाता है। इससे भी तालावों का पानी गन्दा रहता है। **तृतीय कारण** तालाबों के पानी गन्दा होने का यह है कि इन्हीं तालावों में किसान अपने जानवरों को धोते-नहलाते हैं जो इन कार्यों के सम्पादन के समय बहुधा तालाव के पानी में ही मल-मूत्र कर बैठते हैं जिसको किसान वाहर निकालने की भी कोशिश नहीं करते। **चौथा कारण यह है** कि बहुधा ग्रामीण स्त्रियाँ इन्हीं तालावों में अपने बर्तन आदि भी धोती हैं। बर्तन साफ करने में वहुत-सा जूठा अन्न पानी में शामिल हो जाता है और उसमें सड़ता रहता है। इन सब कारणों से ग्रामीण तालाव का पानी वहुत गन्दा होता है और स्वास्थ्य की दृष्टि से उसमें स्नान करना तक हानिकारक होता है उसके पीने की तो कोई वात ही नहीं।

तो फिर प्रश्न यह है कि इन तालाबों की सफाई कैसे हो। इस सम्वन्ध में सव से मुख्य वात यह है कि तालावों की संख्या प्रत्येक गाँव में अधिक होती है। अतः सर्वप्रथम अनावश्यक तालाबों और पोखरों को मिट्टी से पाट देना होगा। इससे यह लाभ होगा कि इस प्रकार प्राप्त भूमि का उपयोग खेल-कूद के मैदान के लिए किया जा सकेगा। वर्तमान परिस्थिति में वहुधा खेल-कूद के लिए गाँवों में स्थान ही नहीं होता। इन अनावश्यक तालाबों को भर देने से यह समस्या भी हल हो जायगी।

दूसरा काम यह करना होगा कि विभिन्न कार्यों के लिए पृथक्-पृथक् तालाव निश्चित कर दिए जाँय। शौचादि के लिए एक तालाव निश्चित कर दिया जाय, पशुओं के नहलाने-धोने के लिए एक अलग तालाव निश्चित होना चाहिए, जिसमें गाँव भर के पशु नहलाए-धोए जायेंगे; आदमियों के नहाने-धोने के लिए

एक अलग तालाव हो जिसमें नहाने के सिवाय दूसरा कोई काम न हो, औरतों के वर्तन धोने और धोवी के कपड़ा धोने के लिए भी अलग तालाव निश्चित हो जाना चाहिए। यदि ऐसा कर दिया जाय तो इन तालावों का पानी इतना गन्दा न होगा और तरह-तरह की वीमारियाँ जो इस पानी के गन्दा होने के कारण फैला करती हैं कम हो जायँगी।

इस सम्बन्ध में अन्य आवश्यक कार्य, जो इन तालावों की सफाई के लिए करने होंगे, निम्नलिखित हैं :—इन तालावों के चारों ओर एक मजबूत मेंड़ वनानी होगी। इससे यह लाभ होगा कि गाँव का गन्दा पानी उनमें वहकर नहीं आने पाएगा। गाँव के पानी को खेतों की ओर वहाने का प्रवन्ध करना होगा।

तालावों के सम्वन्ध में यह भी स्मरण रहे कि गाँवों में इनकी 'अधिकता का मुख्य कारण यह होता है कि गाँवों में अधिकांश घर मिट्टी के वने होते हैं जिनसे वरसात के मौसिम में दीवारों को क्षति पहुंचती रहती है। वरसात के वाद किसान लोग अपने घरों की मरम्मत करते हैं। इसके लिए मिट्टी की आवश्यकता होती है। घरों की मरम्मत के लिए वे मिट्टी गाँव के पास ही से खोद लेते हैं। कुछ समय वाद वह एक गड्ढा-सा वन जाता है। यही गड्ढा धीरे-धीरे कुछ वर्षों में तालाव का रूप धारण कर लेता है। अतः हमें ग्रामीण जनता की इस आदत को भी मिटाना होगा। मकानों आदि की मरम्मत के लिए उन्हें दूर से मिट्टी लानी होगी। यदि इन सव उपायों का सहारा लिया जाय तो इन तालावों की सफाई की समस्या अवश्य हल हो जायगी और गाँवों का वातावरण शुद्ध हो जायगा जिससे रोगों और वीमारियों का विशेष प्रभाव नहीं होने पाएगा।

शौच स्थान

प्रायः ग्रामीण घरों में शौच-स्थान (latrines) नहीं होते। शौचादि के लिए लोग खेतों में जाते हैं। कुछ लोग इतने आलसी होते हैं कि गाँव के आस-पास ही मल-त्याग के लिए बैठ जाते हैं। किसानों के बच्चे साधारणतया घर के सामने ही मल-त्याग के लिए बैठते हैं। इन सबका परिणाम यह होता है कि गाँव के चारों ओर गन्दगी रहती है। प्रायः ग्रामीण लोग नंगे पैर रहते हैं जिनसे उनके पैरों में मल लग जाता है। इसके कारण किसानों में हुकवर्म (hook-worm) नाम का रोग हो जाता है। इसके अतिरिक्त मल की गन्दगी से वायु दूषित हो जाती है। लोगों का खेतों में मल-त्याग भी विशेष अच्छा नहीं कहा जा सकता। साधारण धारणा यह होती है कि खेतों में मल-त्याग करने से खेतों को उत्तम प्रकार की खाद मिल जाती है और जमीन इससे उपजाऊ हो जाती है। किन्तु यह स्मरण रहे कि मल के खाद का रूप धारण करने में बहुत समय लगता है। खाद बनने के पहले उसके द्वारा भूमि में बहुत से हानिकारक कीटाणु पैदा हो जाते हैं। इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि गाँवों में शौच-स्थान का उचित प्रबन्ध होना परम आवश्यक है।

तो फिर इस समस्या का समाधान किस प्रकार किया जाय। सबसे अच्छा तो यह होगा कि प्रत्येक गृह में एक शौच-स्थान हो तथा बाहरी अजनबी व्यक्तियों के लिए कुछ सार्वजनिक शौच-गृह हों। सुझाव तो बड़ा ही सुन्दर है। किन्तु वर्तमान ग्रामीण परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए इस सुझाव को क्रियात्मक रूप देना सर्वथा असम्भव जान पड़ता है। तो फिर क्या किया जा सकता है? साधारणतया निम्नलिखित तीन सुझाव इस सम्बन्ध

में पेश किए जाते हैं :—पहला सुझाव यह है कि खाद के गड्ढे में ही शौच-स्थान का काम लिया जाय। दूसरा सुझाव यह है कि वोर-लैट्रिन प्रथा का प्रचार किया जाय। इसके अनुसार भूमि में सूराख करके शौच-स्थान वनाया जाता है। किन्तु इसमें कुछ व्यय होता है और अधिकांश किसानों के लिए यह भी वर्तमान परिस्थिति में सम्भव नहीं है। इसमें एक त्रुटि और भी है। स्वास्थ्य-विभाग की राय है कि इससे पानी के दूषित हो जाने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। तीसरा सुझाव यह है कि एक साधारण गड्ढा खेत में खोदकर उसके चारों ओर अरहर की एक बाड़ खड़ी कर दी जाय और उस पर दो तख्ते रख दिए जायँ। इस प्रकार एक खासा अच्छा शौच-स्थान तैयार हो जायगा। मेरी राय में यह सुझाव भी ग्रामवासियों की वर्तमान मनोवृत्ति को ध्यान में रखते हुए सर्वधारण के लिए व्यावहारिक नहीं वनाया जा सकता है। अधिकांश किसान तो इसका महत्त्व ही नहीं समझते। अतः सवसे उत्तम उपाय यह है कि ग्राम-वासियों में इस वात का अत्यधिक प्रचार किया जाय कि शौचादि के लिए वे दूर खेतों में जायँ। प्रत्येक आदमी अपने साथ एक खुरपी लेता जाय और खेत में एक छोटा-सा गड्ढा खोदकर मल-त्याग उसी में करे और उसके वाद उसे खोदी हुई हुई मिट्टी से ढक दे। इससे दो लाभ होंगे। सर्वप्रथम गन्दगी न होने पाएगी। द्वितीय स्थान में मल का रूपान्तर सुन्दर खाद के रूप में हो जायगा जिससे भूमि की उत्पादकता वढ़ जायगी। स्वर्गीय राष्ट्रपिता गान्धीजी ने इस समस्या का यही समाधान वताया था। यह उपाय कितना सरल है। यदि ग्रामीण जनता इस पर ध्यान दे और उसे अमल में लाने का प्रयत्न करे तो गाँवों की सफाई की सामान्य समस्या के समाधान में विशेष

मदद मिलेगी, गाँवों का वातावरण शुद्ध और निर्मल होगा, लोगों का स्वास्थ्य क्रमशः अच्छा होने लगेगा और वे सुखी जीवन व्यतीत करने लगेंगे।

ग्रामीण जनता का स्वास्थ्य

मानव-स्वास्थ्य के लिए सब से अधिक जरूरी तीन वस्तुएँ होती हैं।

(१) शुद्ध और निर्मल वायु,

(२) स्वच्छ पानी,

(३) उचित पर्याप्त भोजन।

इन तीनों के अतिरिक्त उचित प्रकार का वस्त्र और रहने के लिए स्वास्थ्य-वर्द्धक घर इत्यादि भी जरूरी हैं। खेतों में काम करते समय तो ग्रामवासियों को शुद्ध वायु-सेवन का अवसर प्राप्त होता है किन्तु जब वे घर पर गाँव में होते हैं तब उन्हें शुद्ध वायु नहीं मिलती। कारण भी स्पष्ट है। विभिन्न प्रकार की ग्रामीण गन्दगियों के कारण गाँव का वातावरण दूषित होता है। उनके घरों में शुद्ध वायु और सूर्य-प्रकाश का प्रबन्ध प्रायः नहीं होता है। इन सबका वर्णन गाँव की सफाई के सिलसिले में किया जा चुका है इसलिए उसके दुहराने से कोई लाभ नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि खेतों में काम करने के समय को छोड़कर उसे बाकी समय शुद्ध वायु-सेवन को नहीं मिलता। पानी भी स्वच्छ और निर्मल नहीं होता। कुओं और तालाबों की गन्दगी का वर्णन पहले किया ही जा चुका है। अब रही भोजन की बात। सो मत पूछिए। ग्रामीण जनता के अधिकांश भाग के भोजन में दो प्रकार की कमी होती है। सर्वप्रथम उनको पर्याप्त मात्रा में अर्थात् भर भेट भोजन नहीं मिलता। द्वितीय

स्थान में, उनको जो भोजन प्राप्त भी होता है उसमें स्वास्थ्य के आवश्यक तत्वों का अभाव होता है। इस सम्बन्ध में पाठकों का ध्यान सन्तुलित आहार (balanced diet) वाले अध्याय की ओर दिलाया जाता है जहाँ इस प्रश्न पर हम पहले विचार कर चुके हैं। अन्य आवश्यक वस्तुएँ भी पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलतीं। और इन सबके ऊपर गाँव की विभिन्न प्रकार की गन्दगी, जिसका वर्णन इस अध्याय के पहले भाग में किया जा चुका है, और शोचनीय स्थिति उत्पन्न कर देती है। जहाँ लोगों को उचित और पर्याप्त मात्रा में भोजन नहीं मिलता, न तो पीने के लिए स्वच्छ निर्मल पानी ही मिलता हो, रहने के घर अस्वास्थ्यकर हों, चारों ओर दूषित वायुमण्डल हो, वहाँ स्वास्थ्य किस प्रकार ठीक रह सकता है। यही हाल हमारी ग्रामीण जनता का है। अधिकांश ग्रामवासियों का स्वास्थ्य ठीक नहीं होता। वे अति दुर्बल होते हैं। यही कारण है कि देहातों में विभिन्न प्रकार के रोगों और बीमारियों का बोलबाला होता है। इसका परिणाम यह होता है कि लाखों की संख्या में लोग प्रति वर्ष अति अल्प आयु में ही मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं। जो जीवित रहते हैं उनकी कार्यक्षमता भी बुरे स्वास्थ्य के कारण बहुत कम होती है। अतः उत्पत्ति-कार्य में वे जिस हद तक सहायक हो सकते हैं उस हद तक नहीं हो पाते। अतः देश और समाज की दशा सुधारने के लिए ग्रामीण जनता के स्वास्थ्य को सुधारना होगा। किसी भी राष्ट्र की उन्नति उसके नागरिकों के स्वास्थ्य पर ही निर्भर करती है। अस्वस्थ मनुष्य दुनिया में कुछ नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में कविवर कालिदास की यह पंक्ति याद रखने योग्य है :—

"शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्"

अतः राष्ट्रीय कल्याण की दृष्टि से यह समस्या बड़ी महत्व-

पूर्ण है। इसके समुचित समाधान पर देश की उन्नति बहुत कुछ अंशों में निर्भर करती है।

अब प्रश्न यह है कि इसका उपाय क्या है? सर्व प्रथम ग्रामीण वायुमण्डल को शुद्ध बनाना होगा। इस सम्बन्ध में गाँव की सफ़ाई के सम्बन्ध में जो-जो बातें पहले बताई जा चुकी हैं उन्हें करना होगा। गाँव के घरों, तालाबों, कुओं, शौचादि के स्थानों इत्यादि के सम्बन्ध में जो सुधार पहले बताए जा चुके हैं उन्हें करना होगा। इसके अतिरिक्त भारतीय ग्रामों की आर्थिक समस्याओं (जिनका भी विवेचन पहले हो चुका है) को हल करके प्रत्येक ग्रामीण व्यक्ति की आय को इतना बढ़ाना होगा कि वह अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण एक खासे सन्तोषजनक स्तर (standard) के साथ कर सके। ग्रामीण जनता के रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना होगा। उसकी बुनियादी आवश्यकतों तथा कार्यक्षमता में वृद्धि करनेवाली आवश्यकताओं की सन्तुष्टि उचित मात्रा में करने के लिए खेती की उन्नति, विभिन्न प्रकार के सहायक-उद्योग धन्धों की वृद्धि आदि करनी होगी, जिससे उसकी आय (income) पर्याप्त मात्रा में बढ़ जाय।

किन्तु स्वास्थ्य के लिए केवल शुद्ध वायु, स्वच्छ पानी और उचित भोजन-वस्त्र-गृह आदि की ही आवश्यकता नहीं होती। मानव-स्वास्थ्य के लिए शरीर की सफाई भी उतनी ही महत्वपूर्ण और आवश्यक होती है। अतः अब हम उसी ओर ध्यान देंगे।

शरीर की सफाई (personal hygiene)

स्वास्थ्य के वातावरण की सफ़ाई तो आवश्यक होती ही है। किन्तु उससे किसी माने में शरीर की सफाई कम आवश्यक नहीं

होती। शारीरिक सफाई के लिए सावधानी और साधारण ज्ञान की अधिक आवश्यकता होती है, न कि अधिक धन-व्यय की। अतः ग्रामीण जनता में शारीरिक सफाई के सिद्धान्तों के प्रचार की बड़ी आवश्यकता है। औसत भारतीय किसान अपनी असहाय दशा के कारण जीवन में बहुत-सी बातों से सर्वथा उदासीन रहता है। शरीर की सफाई भी उन्हीं में से एक है। वह अपनी अशिक्षा तथा अज्ञान के कारण इसके महत्व को भलीभांति नहीं समझ पाता। प्रायः उसके दाँत, नाखून, कान, आदि बहुत गन्दे होते हैं। नाखून साफ न रखने से भोजन के साथ उसकी गन्दगी पेट में चली जाती है। उसी प्रकार दाँत गन्दे होने के कारण सब मैल भोजन चबाते समय उसमें मिलकर पेट में चली जाती है जिसके कारण तरह-तरह के रोग हो जाते हैं। इसी तरह शरीर के अन्य अवयवों के सम्बन्ध में भी ध्यान रखना होगा। स्नान न करने के कारण विभिन्न प्रकार के चर्मरोग हो जाते हैं। अतः सबको प्रत्येक दिन स्नान करना चाहिए।

शरीर की सफाई के साथ-साथ वस्त्र की सफाई भी होनी चाहिए। शारीरिक सफाई का पूरा लाभ तभी होगा जब कि लोगों के कपड़े भी साफ-सुथरे हों। यदि कपड़ा मैला और गन्दा हो तो उससे भी विभिन्न प्रकार की बीमारियाँ फैलती हैं क्योंकि जहाँ कहीं भी गन्दगी होगी वहाँ रोगों के कीटाणुओं का होना अनिवार्य है। अतः कपड़ों का साफ रहना भी उतना ही जरूरी है।

यदि ऊपर बताई गई बातों की ओर ध्यान दिया जाय तो ग्रामीण जनता के स्वास्थ्य में सन्तोषजनक परिवर्तन किया जा सकता है। किन्तु इतने ही से काम नहीं चल सकता। हमें विभिन्न प्रकार के रोगों से बचाव का भी समुचित प्रबन्ध करना

होगा। यह सच है कि स्वस्थ व्यक्ति कम वीमार पड़ते हैं। उनमें रोगों के कीटाणुओं का सामना करने की अधिक शक्ति होती है। फिर भी समय पर मनुष्यों का वीमार पड़ जाना या विभिन्न भयंकर रोगों से आक्रान्त हो जाना स्वाभाविक है। अतः स्वास्थ्य को ठीक वनाए रखने के लिए इन रोगों से वचाव का भी प्रवन्ध होना नितान्त आवश्यक है।

रोगों से वचाव

प्रायः गाँवों में विभिन्न प्रकार की रोग-व्याधियों का प्रभुत्व जमा रहता है। कोई मलेरिया से पीड़ित होता है, तो कहीं प्लेग, हैजा, चेचक आदि से हजारों-लाखों की संख्या में मनुष्य मरते हैं। कहीं दाद, खजुली से ग्रामवासी व्यथित दिखाई पड़ते हैं, तो कहीं दाँत और आँख-कान के विविध रोगों के कारण ही वे आकुल और वेचैन नजर आते हैं। इन वीमारियों के कारण प्रतिवर्ष हमारे देश में लाखों व्यक्तियों की जानें अल्पायु में ही चली जाती हैं। विशेषज्ञों का अनुमान है कि केवल मलेरिया से प्रतिवर्ष लगभग १०,०००,००० (दस करोड़) व्यक्ति पीड़ित होते हैं और इस रोग से सवसे अधिक संख्या में व्यक्तियों की मृत्यु होती है। इस रोग से लगभग १२½ लाख व्यक्ति सालाना मर जाते हैं। लगभग ७०,००० व्यक्ति प्रतिवर्ष चेचक से मृत्यु को प्राप्त होते हैं, क्षय रोग से ५००,००० व्यक्तियों की मृत्यु होती है।

इन रोगों के परिणाम भी भीषण ही होते हैं। इस सम्वन्ध में निम्नलिखित वातें स्मरणीय है—(१) इनके कारण लाखों व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है। अतः इनके श्रम तथा अनुभव का घाटा राष्ट्र को उठाना पड़ता है। (२) इन रोगों से आक्रान्त व्यक्तियों में सौभाग्यवश जो जीवित रह जाते हैं वे अति दुर्वल

हो जाते हैं और उनकी कार्य-शक्ति में ह्रास हो जाता है। इससे हमारे देश के श्रम की कार्यक्षमता उत्तरोत्तर कम होती जाती है। राष्ट्रीय आर्थिक हित की दृष्टि से इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे देश की आर्थिक प्रगति में काफी रुकावट पड़ती है। (३) प्रायः यह भी देखा जाता है कि ये बीमारियाँ बहुधा उस समय फैलती हैं जब कि किसान के ऊपर कृषि-कार्यों का अधिक दबाव होता है। ऐसे समय में किसान का बीमार पड़ जाना उसके लिए बड़ा घातक सिद्ध होता है। उसकी सारी खेती ही चौपट हो जाती है। (४) इन रोगों का समय-समय पर फैलना और उसके द्वारा किसानों का पीड़ित और व्यथित होना उनकी विचार-धारा को ही विकृत और दूषित बना देता है। वे आलसी और भाग्यवादी हो जाते हैं। अतः राष्ट्रीय उत्थान के लिए इन रोगों के प्रसार का रोकना बहुत ही आवश्यक और महत्वपूर्ण है।

दुर्भाग्य की बात है कि इन भयङ्कर रोगों की व्यापकता तथा उनके दुष्परिणामों की गम्भीरता के बावजूद इनसे बचाव का कोई समुचित प्रबन्ध इन ग्रामवासियों के लिए नहीं है। भारतीय ग्रामों में चिकित्सालयों का सर्वथा अभाव है। स्थिति का अनुमान निम्नलिखित आँकड़ों से लगाया जा सकता है।—भारत में प्रति ६००० व्यक्तियों के लिए केवल एक डाक्टर है। लगभग ९०% जनता ग्रामों में बसती है, किन्तु ९०% डाक्टर, हकीम या वैद्य शहरों और कस्बों में ही पाए जाते हैं। यही कारण है कि इन ग्रामों में लाखों की तादाद में लोग अपनी जान गँवा देते हैं। सरकार को इन गाँवों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव पेश किए जा सकते हैं:—

(क) भविष्य में खोले जानेवाले चिकित्सालयों की स्थापना शहरों में न होकर देहातों में हो।

(ख) जब तक गाँवों में अस्पतालों का निर्माण नहीं हो जाता तब तक घूम-घूम कर दवा करनेवाले डाक्टरों-वैद्यों की नियुक्ति होनी चाहिए। ये लोग पूर्वनिश्चित कार्यक्रम के अनुसार गाँवों में घूम-घूम कर रोगियों का इलाज करें। ५ या ६ गाँवों पीछे एक डाक्टर का होना आवश्यक है।

(ग) यदि कोई डाक्टर, हकीम या वैद्य गाँव में जाकर बसना चाहे तो सरकार को उसकी आर्थिक सहायता करनी चाहिए। कुछ प्रान्तों में ऐसा हो रहा है। इसके अधिक प्रसार की आवश्यकता है। शिक्षित डाक्टर, वैद्य या हकीम की गाँव में उपस्थिति से ग्रामवासियों पर विशेष प्रभाव पड़ेगा। स्वास्थ्य-रक्षा सम्बन्धी बहुत-सी बातों का प्रचार हो जायगा। विभिन्न प्रकार के रोगों तथा उनसे बचने के उपायों के सम्बन्ध में खूब प्रचार करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

(घ) प्रत्येक गाँव में स्वास्थ्य-रक्षक समिति का निर्माण करना चाहिए। गाँव के प्रत्येक परिवार को उस समिति का सदस्य होना चाहिए। सदस्यों से कुछ फीस भी ली जाय। चिकित्सक का निवास-स्थान केन्द्र गाँव में होना चाहिए जिससे प्रत्येक गाँव के मरीजों को वह बारी-बारी से घूम-घूम कर देख सके। प्रति मास चिकित्सक लोगों को एक बार स्वास्थ्य-रक्षा सम्बन्धी बातों को समझावे। दवाई की कीमत स्वास्थ्य-रक्षा-समिति के ऊपर हो। चिकित्सक का वेतन प्रान्तीय सरकार या जिला बोर्ड की ओर से मिलना चाहिए। यदि इन उपायों से काम लिया गया तो इन रोगों का प्रसार रोकना कोई कठिन कार्य न होगा।

छब्बीसवाँ अध्याय

मनोरंजन के साधन (Means of Recreation)

मानव-जीवन को सुखी और आनन्दमय बनाने के लिए मनोरंजन के साधनों का बड़ा ही महत्व है। अपने कार्यों में शारीरिक या मानसिक परिश्रम करने से मनुष्य की शक्ति कम हो जाती है। वह थक जाता है। उस समय वह कुछ समय तक किसी प्रकार का गाना सुनकर, या किसी खेल-कूद में अपने को लगाकर या अन्य किसी प्रकार अपना मनोरंजन करके अपनी व्यय की हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करना चाहता है और करता है। विश्राम करने से भी खोई हुई शक्ति लौट आती है। किन्तु यदि मनुष्य के पास काम से थक जाने की दशा में विश्राम करने के सिवाय अन्य किसी प्रकार का मनोरंजन का साधन न हो तो उसका जीवन नीरस हो जाता है। मानव-जीवन की सरसता बहुत कुछ अंशों में मनोरंजन के साधनों के बाहुल्य या अभाव पर निर्भर करती है। विश्राम से व्यय की हुई शक्ति लौट आती है किन्तु इसके साथ-साथ यदि मनोरंजन के साधन भी हों तो उनसे मनुष्य में नवीन स्फूर्ति भी उत्पन्न होती रहती है। प्रतिदिन एक प्रकार का जीवन व्यतीत करते-करते मनुष्य का उससे ऊब जाना स्वाभाविक है। उसमें समय-समय पर परिवर्तन होता रहना चाहिए। इसी परिवर्तन की समस्या को हल करने के लिए मनुष्य ने विभिन्न प्रकार के मनोरंजन के साधनों की रचना की है।

मनोरंजन व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिए भी विशेष रूप से आवश्यक होता है। इसका प्रभाव

मनुष्य की कार्य-क्षमता पर पड़ता है। अतः मनोरंजन की समस्या आर्थिक दृष्टि से भी बड़ी महत्वपूर्ण समस्या है।

भारतीय ग्रामों में मनोरंजन की दशा

किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि हमारे ग्रामों की दशा इस सम्बन्ध में भी अत्यन्त चिन्ताजनक है। आज कल की बीसवीं सदी में जब कि मनुष्य ने विभिन्न प्रकार के मनोरंजन के साधनों को जन्म दिया है हमारे भारतीय ग्राम उन सबसे वंचित ही होते हैं। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि मनोरंजन के दृष्टिकोण से ग्रामीण जनता की दशा नितान्त शोचनीय है। हमारे ग्रामों में मनोरंजन के साधनों का सर्वथा अभाव होता है। ग्रामीण जीवन की नीरसता का यह एक प्रमुख कारण है। इन ग्रामों में खेल-कूद का कोई प्रबन्ध नहीं होता। दिल-बह-लाव का कोई साधन ही नहीं होता। ग्रामीण जनता की दिन-चर्या केवल खेतों में काम करने, रूखा-सूखा भोजन कर लेने तथा घर में स्त्री-बच्चों के साथ बातचीत या लड़ाई-झगड़ा करने तक ही सीमित होती है। गाँवों में दलबन्दी तो खूब होती ही है। काम और भोजन से फुर्सत पाकर एक दल के लोग प्रायः किसी अपेक्षाकृत सम्पन्न व्यक्ति के, जिसे दल का नेता समझना चाहिए, दरवाजे पर एकत्र हो जाते हैं और कुछ समय तक हुक्का-तम्बाकू चलता रहता है और गप-सड़ाका होती रहती है। इसके सिवाय मन बहलाने का और साधन उनके पास होता ही क्या है ?

इस सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय है। मनोरंजन के साधनों से सब प्रकार से हीन इन गाँवों में कभी मदारी या नट या सँपेरा (snake charmer) घूमते हुए आ जाता है

और अपनी कला का प्रदर्शन कर असहाय ग्रामीण जनता का कुछ मनोरंजन कर जाता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी कतिपय सहृदय व्यक्ति, जिन्हें संगीत से कुछ प्रेम होता है, रात को किसी के दरवाजे पर एकत्र होकर ढोल और झाल लेकर रामायण गाते हैं और पड़ोसियों का कुछ दिल-बहलाव कर जाते हैं। कभी नटों को आल्हा गाकर श्रोताओं का मनोरंजन करते हुए भी देखा जाता है। इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार का मनोरंजन न तो ग्रामीण जनता को सुलभ होता है और न तो वह इसकी कोई कमी ही महसूस करती है। अपनी सीमित दिनचर्या में वह इस प्रकार उलझी होती है कि उसे मनोरंजन का ध्यान ही नहीं होता और यदि होता भी है तो इस दिशा में वह बिल्कुल असहाय होती है। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक उचित प्रकार के मनोरंजन के साधनों का इतना अभाव होता है कि हमारे गाँव जीवन-शून्य से मालूम पड़ते हैं। रात्रि होते ही गाँवों में निस्तब्धता-सी छा जाती है। दिन में भी गाँव अधिकतर सुनसान ही मालूम पड़ते हैं। उनमें चहल-पहल का अभाव होता है। ग्रामीण अशिक्षित स्त्रियों के पारस्परिक झगड़ों से कभी कभी चहल-पहल अवश्य हो जाती है और दर्शकोंका उससे भी कुछ दिल-बहलाव हो जाता है। परन्तु इस प्रकार के दिल-बहलाव का न होना ही अच्छा है।

गाँवों में मनोरंजन के साधनों के अभाव का बुरा प्रभाव जनता पर पड़ता है। इस अभाव के कारण उनका शारीरिक, मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। औसत किसान प्रायः उदास चित्तवृत्ति का होता है। उसकी बुद्धि का विकास नहीं होता क्योंकि उसे देखने, सुनने या विचार करने

के लिए कोई बात ही नहीं मिलती। दुनिया में क्या हो रहा है, उसे क्या पता! और पता हो भी कैसे? जिस वातावरण में वह रहता है उसमें यह सम्भव हो ही नहीं सकता। अनुभव की वृद्धि तो विभिन्न परिस्थितियों के अवलोकन से होती है और अनुभवों की वृद्धि से ही तो बुद्धि का विकास होता है। ग्रामीण परिस्थिति में कोई परिवर्तन होता नहीं। अतः विभिन्न प्रकार के अनुभवों का अवसर भी नहीं प्राप्त होता। ऐसी दशा में लोगों की बुद्धि का कुण्ठित रह जाना स्वाभाविक ही है। ग्रामीण जनता के जीवन में सरसता न होने के कारण उनका दृष्टिकोण निराशावादी हो जाता है जिसके कारण वे किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर पाते। उन्नति करने के लिए आशावादी विचारधारा की आवश्यकता होती है, क्योंकि उससे प्रयत्न करने की प्रेरणा मिलती है। निराशावादी मनुष्य प्रयत्न करने में बहुत हिचकता है। वह आवश्यकता से अधिक हानि-लाभ का विचार करने लगता है। अतः वह कुछ कर नहीं पाता है। यही हाल हमारी ग्रामीण निरीह जनता का है।

अतः इस बात की कड़ी आवश्यकता है कि किसानों को इस असहाय दशा से निकाला जाय। प्रश्न है कि किस प्रकार? इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं:—

(१) प्रत्येक गाँव में खेल-कूद का समुचित प्रबन्ध किया जाय। इसके लिये आवश्यक मैदान का प्रबन्ध करना होगा। गाँव की परती और बंजर भूमि का प्रयोग इसके लिए किया जा सकता है। जिस गाँव में इस प्रकार की भूमि का अभाव हो वहाँ गाँव के पास पाए जाने वाले किसी तालाब को मिट्टी से पाट कर भूमि को चौरस बनाकर खेल का मैदान तैयार किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में एक विचारणीय प्रश्न यह

है कि गाँवों में किस प्रकार के खेलों का प्रचार किया जाय। खेलों के चुनाव में निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना होगा:—(क) खेल ऐसे हों जिनमें विशेष व्यय की आवश्यकता न हो; (ख) जिनमें अधिक से अधिक लोग एक साथ भाग ले सकें; (ग) जिनसे शारीरिक विकास, साहस और स्फूर्ति की वृद्धि हो सके; (घ) जिनसे खिलाड़ियों में अनुशासन का उदय हो, और (ङ) जिनसे संगठन और सामूहिक भावना लोगों में बढ़े। हमारे देश के विभिन्न भागों में बहुत तरह के खेल प्रचलित हैं; जैसे कबड्डी, रस्सा कशी, नमक चोर, रामडंडा इत्यादि। इन स्वदेशी खेलों का प्रचार किया जाय। गाँवों की आर्थिक दशा को ध्यान में रखते हुए इन्हीं का प्रचार सबसे अच्छा होगा, क्योंकि इनमें किसी प्रकार के विशेष धन-व्यय की आवश्यकता नहीं होती। इन सब स्वदेशी खेलों के नियम निर्धारित कर देने होंगे और उन पर पुस्तकें प्रकाशित करनी होंगी। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों ने "ग्रामीण खेल बोर्ड" स्थापित करने का सुझाव रक्खा है। इस बोर्ड के ऊपर ग्रामीण खेलों के प्रचार तथा देख-रेख का भार होगा। स्वदेशी खेलों के अलावे वालीवाल और फुटबाल आदि खेल भी कुछ सीमित पैमाने पर आरम्भ किए जा सकते हैं।

(२) भजन-मंडलियों की स्थापना तथा उसके प्रसार से भी समुचित लाभ इस दिशा में उठाया जा सकता है। ग्रामीण जनता में अधिकांश लोग भजन को बहुत ही अधिक पसन्द करते हैं। अतः ग्रामीण जीवन का चित्र खींचनेवाले भजनों का संग्रह प्रत्येक प्रान्त में करना चाहिए तथा त्योहारों और अन्य प्रकार के उत्सवों के अवसर पर भजन-मण्डलियों द्वारा उन्हें गवाया जाय और जनता में उनका प्रचार किया जाय।

(३) ग्राम-सुधार-प्रेमी व्यक्तियों तथा ग्रामीण पाठशाला के अध्यापकों के सहयोग से गाँवों में नाटक और प्रहसन का भी प्रचार किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक गाँव में एक मनोरंजन-समिति की स्थापना जरूरी है। प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में ग्रामीण जीवन सम्बन्धी समस्याओं पर प्रहसन और नाटक लिखवाना होगा और गाँव के नवयुवकों की सहायता से उन्हें विभिन्न त्योहारों के अवसर पर दिखाना होगा। इससे लोगों का मनोरंजन भी होगा तथा उनमें सुरुचि का विकास होगा।

(४) प्रत्येक गाँव में बालचर-आन्दोलन का भी प्रवेश कराना होगा। इससे ग्रामीण नवयुवकों में संगठन की वृद्धि होगी. मिल-जुलकर काम करने की आदत पड़ेगी तथा गाँवों में भ्रातृभाव का सृजन हो सकेगा। गाँव के वातावरण को स्वच्छ और शुद्ध बनाने में भी इन बालचरों से पर्याप्त मदद मिलेगी।

(५) प्रत्येक गाँव में पुस्तकालय और वाचनालय की स्थापना से भी इस दिशा में सुधार किया जा सकता है। वाचनालयों में विभिन्न प्रकार के समाचार-पत्र, दैनिक, साप्ताहिक पाक्षिक, मासिक इत्यादि का प्रबन्ध होना चाहिए। इससे विभिन्न प्रकार के समाचार ग्रामीण जनता को प्राप्त होते रहेंगे। पुस्तकालयों से कहानी, उपन्यास, नाटक आदि की पुस्तकों को पढ़ने से भी लोगों का मनोरञ्जन हो सकेगा तथा उनमें सुरुचि की वृद्धि हो सकेगी। किन्तु साक्षरता के पर्याप्त प्रसार के बाद ही यह सम्भव हो सकेगा।

(६) ग्रामीण जनता के मनोरंजन का एक मुख्य साधन गाने (songs) हैं। गाँववाले प्रायः विभिन्न प्रकार के गाने

बिरहा, लोरिकायन, आल्हा इत्यादि गाते हैं। इनका भी विशेष प्रसार होना चाहिए। इनमें पाई जानेवाली अश्लीलता को दूर करना होगा। इसके लिए सरकार की ओर से विशेषज्ञों की नियुक्ति होनी चाहिए जो इन गानों में आवश्यक सुधार करें और राष्ट्रीय तथा अन्य प्रकार के उपयोगी गाने तैयार करावें और उनका प्रचार करावे।

(७) मनोरंजन और शिक्षा-प्रचार दोनों के लिये रेडियो का सहारा लिया जा सकता है। सरकार को चाहिए कि प्रत्येक दो-तीन गाँव में एक रेडियो सेट लगवा दे। सायंकाल को ग्रामवासी एकत्र होकर इसके द्वारा अच्छे-अच्छे गानें, उपदेशपूर्ण व्याख्यान, देश-विदेश के हाल सुन कर अपना मनोरंजन तथा ज्ञान-वृद्धि कर सकते हैं।

(८) रेडियो के अतिरिक्त ग्रामीण फिल्मों के द्वारा भी गाँववालों का मनोरंजन किया जा सकता है तथा उन्हें बहुत-सी उपयोगी बातें बताई जा सकती हैं। सरकार को चाहिए कि सरल भाषा में छोटी-छोटी फिल्में तैयार करावे और प्रत्येक गाँव में मुफ्त दिखावे। अधिकांश फिल्में ऐसी हों जिनमें ग्रामीण जीवन के सुधार की बातें हों। ग्रामीण रोग-व्याधि और उनके दूर करने के उपाय, सहकारिता से होनेवाले लाभ, महाजन की अनुचित हरकतें और उससे बचने के उपाय आदि सम्बन्धी बातें फिल्म द्वारा कहानी के रूप में चित्रित की जा सकती हैं। अन्य देशवाले इस प्रकार की फिल्मों से बहुत अधिक लाभ उठा चुके हैं। हमें भी इसी से लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिए।

फिल्मों का छोटा रूप जादू की लालटेन है। सिनेमा की फिल्मों को तैयार करने में अधिक व्यय पड़ता है तथा ग्रामीण

जीवन को उत्तम ढंग से चित्रित करनेवाले लेखकों तथा उसका प्रदर्शन करनेवाले अभिनेताओं की भी हमारे यहाँ कमी ही है। अतः जादू की लालटेन (magic lantern) के द्वारा ग्रामीण समस्याओं से सम्बन्धित उपयोगी चित्र अधिक सुगमता से दिखाए जा सकते हैं।

यदि ऊपर बताए गए उपायों को अपनाया गया तो हमारे गाँवों के जीवन में कायापलट हो जायगी। उनमें पर्याप्त उत्साह, स्फूर्ति और ताजगी देखने को मिलेगी। लोगों की विचारधाराओं में परिवर्तन हो जायगा। इससे लोगों के शारीरिक, मानसिक और नैतिक सुधार की निश्चित सम्भावना उत्पन्न हो जायगी। उनका जीवन सुखमय हो जायगा। हमारे गाँवों से अज्ञानता दूर हो जायगी और वे पुनः ज्ञान तथा ज्योति से जगमगा उठेंगे।

सत्ताईसवाँ अध्याय

ग्रामीण शिक्षा-समस्या

पिछले अध्यायों में ग्रामीण जनता की अशिक्षा और अज्ञान तथा उनके दुष्परिणामों की चर्चा विभिन्न उपयुक्त स्थानों पर की गई है। उसकी वर्तमान दयनीय अवस्था के मुख्य कारणों में से एक प्रमुख कारण यह भी है। किसान का आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, स्वास्थ्य-सम्बन्धी इत्यादि पतन के लिए बहुत कुछ अंशों में वही उत्तरदायिनी है। शिक्षित व्यक्ति में साहस और उत्साह होता है, वह अपने अधिकार और कर्तव्य को भली भाँति समझता है, वह दूसरों

के चंगुल में जल्दी नहीं फँसता, उसमें समस्याओं को विभिन्न विचार-दृष्टियों से समझने और उनके समुचित समाधान ढूँढ़ निकालने की क्षमता होती है। अनपढ़ और अशिक्षित व्यक्ति में इन सब गुणों का अभाव होता है। ग्रामीण जनता का का यही हाल है। अपनी अशिक्षा के कारण वह अपनी अत्यन्त गिरी दशा का वास्तविक कारण समझने में सर्वथा असमर्थ होती है। वह नहीं समझ पाती कि किस प्रकार उसका अत्यधिक शोषण हो रहा है। ग्रामीण यह भी नहीं जानते कि जो कुछ साधन उनके पास हैं उनका सदुपयोग किस प्रकार किया जाय। उनकी विचारधारा यह होती है कि उनकी वर्तमान गिरी और असहाय दशा के लिए उनके पूर्व जन्म के पाप ही जिम्मेदार हैं। समाज या अन्य व्यक्तियों का कोई दोष नहीं। जो कुछ पहले जन्म में कुकृत्य उन्होंने किया है उसी का बुरा परिणाम वे भुगत रहे हैं। जब तक पूरा फल नहीं भोग लेंगे तब तक उनकी दशा का सुधरना असम्भव है। वे भाग्यवाद का अन्ध-भक्त होते हैं। ऐसी विचारधारा रखने के कारण वे अपनी दशा सुधारने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील भी नहीं होते। वे जीवन से ही उदासीन रहते हैं। उदासीन की दशा में वे किसी भी समस्या को हल नहीं कर पाते और कैसे पावें भी? किसी विपत्ति या विकट समस्या का सर्वोत्तम समाधान तभी सम्भव हो सकता है जब उसके द्वारा आक्रान्त व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय में उसका सामना करने तथा उसे दूर करने की उत्कट इच्छा हो। हमारे ग्रामीण किसान न तो अपनी स्थिति के कारणों को समझ पाते हैं और न तो उनके अन्दर उसे सुधारने की उत्कट इच्छा ही होती है। प्रायः देहातों में लोगों को यह कहते सुना जाता है कि—"चल भगवान जवन

करिहैं तवन होई के परेशान होखे जाय।" इन सबका कारण उनकी अशिक्षा और अज्ञानता है। अतः किसी भी प्रकार का सन्तोषजनक परिवर्तन उनकी दशा में लाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उनको अशिक्षा और अज्ञान के गर्त से निकाल कर शिक्षा और ज्ञान की सतह पर लाया जाय ताकि वे अपनी आँखें खोल कर देख सकें कि इन-इन कारणों से, जो ईश्वरीय नहीं हैं बल्कि मनुष्य-रचित हैं, उनकी दशा इतनी खराब है। जब ये यह भली प्रकार समझ लेंगे कि प्रयत्नों द्वारा उनकी दशा बदली जा सकती है तब उनके अन्दर स्वयं सुधार और उन्नति करने की बलवती इच्छा का उदय होगा। शिक्षा के ही द्वारा उनमें इस प्रकार की इच्छा का सृजन किया जा सकता है। अतः हमारी राष्ट्रीय उन्नति के लिए ग्रामीण जनता की शिक्षा का समुचित समाधान अति आवश्यक है। इसे शीघ्रातिशीघ्र हल करना ही होगा, तभी हमारे देश, समाज और राष्ट्र की उन्नति हो सकती है।

ग्रामीण जनता की शिक्षा के सम्बन्ध में दो बातों की ओर विशेष रूप से ध्यान देना होगा। **सर्वप्रथम शिक्षा की सुविधाओं तथा साधनों की सीमा** और **द्वितीय शिक्षा का प्रचार**। दोनों विचार-दृष्टियों से हमारे गाँवों की दशा नितान्त शोचनीय है। न तो शिक्षा के साधनों और सुविधाओं का पर्याप्त मात्रा में प्रबन्ध ही है और न, जो कुछ साधन है और जो शिक्षा दी जाती है, वह ही सन्तोषप्रद है। इस सम्बन्ध यह स्मरण रहे कि समस्त भारत में सन् १९४४-४५ में कुल २०६,५८४ शिक्षा-संस्थाएँ थीं। इनमें से बहुत अधिक संख्या शहरी संस्थाओं की है। समस्त देश में, पाकिस्तान को लेकर लगभग ७००,००० गाँव हैं। यदि यह मान लिया जाय कि

गाँवों में पाई जानेवाली पाठशालाओं की संख्या २००,००० है तो भी प्रत्येक ३५ गाँव पीछे एक पाठशाला आती है। इसी से शिक्षा की सुविधाओं की पर्याप्तता या अपर्याप्तता का अनुमान लगाया जा सकता है। हर्ष और सन्तोष की बात है कि हमारी प्रान्तीय सरकारें इस ओर विशेष ध्यान दे रही हैं और स्कूल की संख्या बढ़ाने और अध्यापकों की ट्रेनिङ्ग के लिए खासकर प्रयत्नशील हैं। हमारे संयुक्तप्रान्त में तो यह काम बड़ी तेजी से हो रहा है। अध्यापकों की ट्रेनिङ्ग के लिए प्रान्त के लगभग सब जिलों में सरकारी नार्मल स्कूल खोल दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त सचल-शिक्षा दल भी तीव्र गति से अध्यापकों को तैयार कर रहा है। प्रति वर्ष हजारों की संख्या में सरकार की ओर से प्राइमरी पाठशालाएँ देहातों में खुल रही हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे प्रान्त में माननीय शिक्षा-मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द के सफल नेतृत्व में शिक्षा-विकास की विभिन्न योजनाएँ कार्यान्वित हो रही हैं और आशा है कि शीघ्र ही हमारा प्रान्त अपनी शिक्षा-समस्या को समुचित प्रकार से सुलझा लेगा। अन्य प्रान्तों में भी शिक्षा की प्रगति हो रही है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक गाँव में, जिसकी आबादी १००० के लगभग हो वहाँ एक प्राइमरी स्कूल अवश्य हो। इसी प्रकार ५ या ७ गाँव के बीच में एक मिडिल स्कूल, या जिसे अब जूनियर हाईस्कूल कहते हैं, होना चाहिए। इसी प्रकार २५ या ३० गाँवों के मध्य में एक सीनियर हाईस्कूल या हायर सेकेन्डरी स्कूल हो। जब तक शिक्षा-सुविधाओं को व्यापक नहीं बनाया जाता तब तक सन्तोषजनक प्रगति नहीं हो सकती। सरकारों को प्राइमरी शिक्षा तो अनिवार्य और निःशुल्क घोषित कर देनी चाहिए। हर्ष की बात है कि हमारा संयुक्तप्रान्त इस

दिशा में आगे है और यहाँ के म्यूनिसिपैलिटियों के क्षेत्र में प्राइमरी शिक्षा अनिवार्य कर दी गई है।

ग्रामीण पाठशालाओं का पाठ्यक्रम

अब हमें ग्रामीण-शिक्षा के दूसरे पहलू पर विचार करना है। **ग्रामीण जनता को किस प्रकार की शिक्षा दी जाय?** यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसके पूर्व गाँवों में जो शिक्षा पहले से चली आ रही है उसके स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ लिख देना आवश्यक है। ग्रामीण शिक्षालयों में जो शिक्षा दी जा रही है उसमें शहरों की छाप अधिक होती है और गाँवों की छाप कम होती है। शिक्षा-क्रम शहरी और ग्रामीण पाठशालाओं दोनों के लिए एक ही है। पाठ्य-पुस्तकें, विषय और पद्धति सब एक ही हैं। आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण पाठशालाओं के शिक्षा-क्रम को निर्धारित करते समय ग्रामीण वातावरण का ध्यान रक्खा जाय। स्कूलों को गाँवों और उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया जाय। ग्रामीण शिक्षा के शहराती होने का बुरा प्रभाव पड़ता है। प्रायः देखने में आता है कि इन स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थी ग्रामीण सभ्यता और संस्कृति को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। वे प्रत्येक बात में शहरी व्यक्तियों और उनके रहन-सहन के ढङ्ग का अनुकरण करना चाहते हैं। अधिकांश तो ग्रामों में रहना भी पसन्द नहीं करते। वे शहरी जीवन और शहर की विलासिता से प्रेम करने लगते हैं। ग्रामीण जीवन की सादगी को वे हेय समझने लगते हैं। वे शारीरिक श्रम को भी तुच्छ समझने लगते हैं। केवल मानसिक कार्य करना—लिखना-पढ़ना—पसन्द करते हैं। वे अपने को अन्य

ग्रामवासियों से अधिक महत्वपूर्ण समझने लगते हैं। पढ़-लिखकर वे ग्रामीण समस्याओं को सुलझाने का कोई प्रयत्न नहीं करते। उससे सर्वथा उदासीन रहते हैं। अतः ग्रामीण पाठशालाओं के पाठ्य-क्रम में इस प्रकार के परिवर्तन करने की आवश्यकता है कि ये सब बुराइयाँ विद्यार्थियों में उत्पन्न न होने पावें। वे ग्रामीण सभ्यता और संस्कृति को घृणा की दृष्टि से देखना छोड़ दें और उससे प्रेम करने लगें, श्रम चाहे वह मानसिक हो, चाहे शारीरिक उसके वास्तविक महत्व को समझें और ग्रामों की उन्नति में सहायक हो सकें।

अतः ग्रामीण पाठशालाओं के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव पेश किए जा सकते हैं:—

(१) पाठ्यक्रम में कृषि और उससे सम्बन्धित विषयों का समावेश हो। ग्रामीण विद्यार्थियों को कृषि-सम्बन्धी बातों की विशेष जानकारी करानी चाहिए क्योंकि अधिकांश विद्यार्थियों का पैतृक पेशा कृषि ही होती है और शिक्षा प्राप्त करने के बाद उसी में अधिकांश को अपने को लगाना होता है। कृषि-सम्बन्धी बहुत-सा व्यावहारिक ज्ञान तो ग्रामीण बालकों को अपने माँ-बाप के साथ खेतों पर जाने, कार्यों को देखने तथा करने से अपने आप प्राप्त हो जाता है। किन्तु जो बातें वे अपने आप नहीं सीख नहीं सकते उनका बताना आवश्यक है। इस दृष्टि से बाग लगाना और पेड़-पौदों का निरीक्षण करना, सिंचाई के विभिन्न साधनों और उनसे सम्बन्धित सावधानियों, सहकारी-समितियों से लाभ और उनके सञ्चालन का ढङ्ग इत्यादि बहुत सी बातों का ज्ञान इन ग्रामीण पाठशालाओं के बालक-बालिकाओं को कराना होगा। इससे उनके अन्दर ग्रामीण वातावरण से अरुचि उत्पन्न न होने पाएगी।

साथ ही साथ कृषि-सम्बन्धी छोटी-छोटी पुस्तकें तैयार करके इन विद्यार्थियों को पढ़ने के लिए देनी होंगी, जिससे कृषि और उससे सम्बन्धित कार्यों में उनकी रुचि उत्पन्न हो जाय ताकि वे कृषि की उन्नति में सहायक हो सकें।

(२) खेती के अतिरिक्त गाँवों में अन्य बहुत से घरेलू उद्योग-धन्धे भी पाए जाते हैं। अतः इन उद्योग-धन्धे सम्बन्धी विषयों का भी समावेश पाठ्यक्रम में होना चाहिए। यदि ऐसा हो जाय तो बालकों में आरम्भ से ही इन धन्धों के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाएगा और बड़े होकर वे इनके पुनरुत्थान में सहायक हो सकते हैं। बुनियादी शिक्षा-प्रणाली में इन दस्तकारियों पर विशेष ज़ोर दिया जा रहा है।

(३) पिछले कुछ अध्यायों में ग्रामीण जीवन की बहुत-सी त्रुटियों का वर्णन किया जा चुका है। हमारे गाँवों में कितनी गन्दगी रहती है और उसके कौन-कौन से दुष्परिणाम होते हैं, यह पहले बताया जा चुका है। इसके अतिरिक्त हम यह भी देख चुके हैं कि किसानों में आपस में लड़ने-झगड़ने की बुरी आदत पाई जाती है, जिससे प्रति वर्ष लाखों रुपए उनके बर्बाद हो जाते हैं। धार्मिक और सामाजिक अवसरों पर निर्धन किसान कितना अपव्ययी हो जाता है और इसके कारण किस प्रकार वह महाजनों के चंगुल में फँस जाता है तथा जिससे जीवन भर मुक्ति पाना उसके लिए असम्भव होता है—इन सब बातों पर पहले दृष्टिपात किया जा चुका है। ग्रामीण जीवन के इन सब पहलुओं से सम्बन्धित विषयों की शिक्षा भी स्कूलों में देनी होगी, ताकि अपनी शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद जब वे जीवन में प्रवेश करें तब इन समस्याओं का सामना अच्छी प्रकार कर सकें।

(४) खेती और ग्रामीण दस्तकारियों की शिक्षा के साथ-साथ बौद्धिक विकास के लिए आवश्यक अन्य विषयों जैसे गणित, इतिहास, भूगोल, भाषा इत्यादि की भी शिक्षा बालकों के पाठ्यक्रम में होनी चाहिए। किन्तु इन सब विषयों की शिक्षा भी केवल साहित्यिक दृष्टिकोण से ही न दी जाय, बल्कि भरसक उन्हें व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न करना होगा। प्रत्येक बात का निर्णय करने में हमें ग्रामीण वातावरण और उसकी आवश्यकताओं की ओर ध्यान देना होगा।

अध्यापन-विधि

बालकों को शिक्षित करने का ढङ्ग जो पहले से चला आ रहा है, बड़ा ही त्रुटिपूर्ण होता है। उसमें वैज्ञानिक शिक्षण-पद्धति का अनुसरण नहीं किया जाता है। शिक्षा का केन्द्र पुस्तकें होती हैं। जो पुस्तकों में दिया हुआ होता है उसी के अनुकूल बालक को बनना पड़ता है। पुस्तकें बालक की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नहीं बनतीं। अतः हमें बालक को शिक्षा का केन्द्र बनाना होगा और उसकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की दृष्टि से पुस्तकों की रचना करनी होगी। अध्यापन का ढङ्ग भी मनोवैज्ञानिक बनाना होगा। प्रायः बच्चों को सभी बातें बता दी जाती हैं और उन्हें कण्ठस्थ कर लेने के लिए आदेश दे दिया जाता है। इससे बालकों की बौद्धिक प्रगति में बाधा पड़ती है। अध्यापक का काम केवल पथ-प्रदर्शन का काम होता है। वह अपने विद्यार्थियों की जिज्ञासा को तीव्र कर दें और उसकी तृप्ति का मार्ग दिखला दें। रास्ता वे स्वयं तय करेंगे। इससे वे जो कुछ ज्ञान प्राप्त करेंगे वह एक स्थायी चीज होगी जिसे वे जीवन भर न भूलेंगे। शिक्षा में

केवल उनकी स्मृति का उपयोग न किया जाय। बल्कि हाथ, आँख, कान आदि इन्द्रियों और मस्तिष्क का एक साथ विकास हो। शिक्षा का उद्देश्य केवल बच्चों को साक्षर बनाना ही नहीं होना चाहिए। बल्कि इसके साथ-साथ उन्हें एक उन्नत राष्ट्र का भव्य नागरिक बनाना हमारा ध्येय होना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक बात स्पष्ट कर देनी है। यद्यपि 'बच्चों' शब्द से केवल बालकों का ही बोध होता है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि केवल उन्हीं की शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। बालक और बालिकाओं दोनों का शिक्षित होना समाज और राष्ट्र के हित के लिए अनिवार्य है। यद्यपि हमारे देश में बालकों की शिक्षा का भी पर्याप्त प्रसार नहीं हुआ है तथापि उनकी तुलना में लड़कियों की शिक्षा की स्थिति तो और अधिक हमारे समाज के लिए लज्जास्पद है। प्रायः देहात के रहनेवाले लड़कियों की शिक्षा को बिल्कुल आवश्यक नहीं समझते। उन्हें प्रचार के द्वारा यह भली-भाँति समझा देना होगा कि लड़कियों की शिक्षा भी उतनी ही आवश्यक है जितनी लड़कों की। हर्ष की बात है कि धीरे-धीरे लोगों का विचार बदल रहा है और हमारी सरकार को इस ओर अधिक ध्यान दे रही है। किन्तु अब तक लड़कियों की शिक्षा की प्रगति बहुत कम हो पाई है। अतः इस दिशा में और तीव्र गति से काम करने की आवश्यकता होगी। गाँवों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने के लिए ग्रामीण स्त्रियों का शिक्षित होना आवश्यक है। जब तक वे किसी परिवर्तन या सुधार को अपनाने के लिए तैयार न होंगी तब तक ग्रामीण पुरुष उस परिवर्तन की उपयोगिता को समझते हुए भी उसे सन्तोषजनक ढङ्ग से कार्यान्वित नहीं करा सकते।

अतः यह कहा जा सकता है कि बालिकाओं की शिक्षा की

ओर बालकों की शिक्षा से अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। अब यहाँ पर संक्षेप में इस बात का विचार कर लेना, कि बालिकाओं को किस प्रकार की शिक्षा दी जाय, आवश्यक मालूम पड़ता है। बालिकाओं को शिक्षा बालकों की ही शिक्षा की तरह होगी या उससे भिन्न होगी? कुछ अंशों में एक-सी होगी और कुछ अंशों में भिन्न होगी। जहाँ तक साक्षरता का प्रश्न है दोनों की शिक्षा एक-सी होगी। किन्तु बालिकाओं को शिक्षित करने का तात्पर्य केवल उन्हें साक्षर बनाना ही नहीं है। आज की बालिकाएँ कल की गृहिणियाँ होंगी जिनके ऊपर परिवार का बोझ पड़ेगा। अतः बालिकाओं की शिक्षा का ध्येय उन्हें कुशल गृहिणी बनाना भी होगा। उनको साक्षर बनाते हुए ऐसी शिक्षा दी जाय कि गार्हस्थ्य जीवन के उत्तरदायित्वों को समझने और सुलझाने की पर्याप्त शक्ति और क्षमता उनमें आ जाय। शिशुओं का लालन-पालन, घरों को सुन्दर और साफ रखना, भोजन बनाना, खाद्य पदार्थों के आवश्यक गुणों और स्वास्थ्य के लिए आवश्यक तत्वों का ज्ञान, पारिवारिक आय-व्यय का हिसाब रखना, साधारण बीमारियों में किए जानेवाले उपचार और सावधानियाँ इत्यादि का समुचित ज्ञान होने पर ही वे कुशल गृहिणी हो सकती हैं। अतः उनके लिए निर्धारित पाठ्य-क्रम में इन बातों से सम्बन्धित विषयों का समावेश होना चाहिए।

प्रौढ़ों की शिक्षा

अब तक हम बालक-बालिकाओं की शिक्षा पर विचार करते रहे हैं। किन्तु ग्रामीण अवस्था में जल्द उन्नति कर दिखाने के लिए केवल बालक-बालिकाओं की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध

करना ही पर्याप्त न होगा। राष्ट्र के भविष्य की दृष्टि से तो वह करना ही है किन्तु तत्कालीन समस्याओं को उचित प्रकार से हल करने के लिए हमें प्रौढ़ों को भी शिक्षित करना होगा। यदि हमारा उद्देश्य इन गाँवों को जीवन और ज्योति से जगमगाते हुए देखना है तो हमें प्रौढ़ों की शिक्षा का व्यापक और समुचित प्रबन्ध करना ही होगा। ग्राम-सुधार की उत्तम से उत्तम योजना सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं हो सकती यदि प्रौढ़ किसान अशिक्षित और अनपढ़ रह जाता है। अतः यह प्रश्न भी उतना ही महत्वपूर्ण है। निम्नलिखित बातों से प्रौढ़ शिक्षा का महत्व स्पष्ट हो जायगा—

(१) शिक्षा द्वारा प्रौढ़ किसानों के निराशावादी दृष्टिकोण तथा भाग्यवादी विचारधारा में आवश्यक तथा लाभदायक परिवर्तन अपने आप हो जायगा। उनका आलस्य और उदासीनता दोनों समाप्त हो जायँगी। इसका परिणाम यह होगा कि उनकी कार्यक्षमता (efficiency) में पर्याप्त वृद्धि होगी।

(२) कृषि के आधुनिक वैज्ञानिक सुधारों के अपनाने की समस्या अपने आप हल हो जायगी। जहाँ इन प्रौढ़ ग्रामीण किसानों को शिक्षा-सूर्य का पूरा प्रकाश मिला कि वे इन सुधारों के महत्व को समझने लगेंगे और बड़ी प्रसन्नता के साथ उन्हें अपनाने के लिए प्रयत्नशील दिखाई पड़ेंगे। इससे कृषि में पर्याप्त उन्नति होगी।

(३) शिक्षित हो जाने पर दूसरों की चालों को समझना उनके लिए सम्भव और आसान हो जायगा। इससे वस्तुओं की खरीद-बिक्री या अन्य लेन-देन के कार्यों में उनके ठगे जाने की सम्भावना का अन्त हो जायगा।

(४) प्रौढ़ों की शिक्षा से यह भी लाभ होगा कि उनके बच्चों

की साक्षरता स्थायी हो जायगी। प्रायः देखने में आता है कि ग्रामों के वे लड़के जो केवल प्राइमरी शिक्षा प्राप्त करते हैं स्कूल छोड़ने के बाद कुछ वर्षों में निरक्षर हो जाते हैं। क्यों? क्योंकि उनका सम्बन्ध पुस्तकों के साथ स्कूल छोड़ते समय ही हमेशा के लिए छूट जाता है। अशिक्षित माँ-बाप अपनी सन्तान की साक्षरता बनाए रखने के लिए कोई प्रबन्ध नहीं करते। अतः साक्षरता को स्थायी बनाए रखने के लिए प्रौढ़-शिक्षा का उपाय बहुत ही अच्छा है।

यहाँ भी यह अच्छी तरह से याद रहे कि प्रौढ़ों की शिक्षा से तात्पर्य प्रौढ़ पुरुष और प्रौढ़ स्त्री दोनों की शिक्षा से है। समुचित पर्याप्त लाभ तभी होगा जब कि स्त्री-पुरुष दोनों शिक्षित हों।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि प्रौढ़ों को शिक्षित किस प्रकार किया जाय? क्या उनके लिए प्रौढ़ पाठ-शालाओं का निर्माण करना होगा जिसमें वे बालकों की तरह दिन में पढ़ने जाया करेंगे? नहीं, कदापि नहीं। प्रौढ़ों के पास इसके लिए समय कहाँ होता है? यदि प्रौढ़ लोग भी प्रौढ़-स्कूलों में पढ़ने चले जायँगे तो खेती इत्यादि का काम कौन करेगा? स्त्री-पुरुष-बच्चे सब जब स्कूलों में पढ़ते ही रहेंगे तब उत्पादन-कार्य कौन करेगा? इससे यह निष्कर्ष निकला कि प्रौढ़ों की शिक्षा के लिए दिन में कोई प्रबन्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह समय उनका खेतों में काम करने का होता है जो छोड़ा नहीं जा सकता। अतः प्रौढ़-शिक्षा के लिए रात्रि का ही समय ठीक होगा। हमें रात्रि-पाठशालाओं की स्थापना करनी होगी। किसान जब रात को खा-पीकर हर एक काम से फुर्सत पा जाते हैं तब उनकी शिक्षा के लिए उन्हें एक जगह

एकत्र किया जाय। स्त्री और पुरुष के लिए अलग-अलग स्थान प्रत्येक गाँव में निश्चित होने चाहिएँ। लोकसेवी और परोपकारी व्यक्तियों के ऊपर रात्रि-पाठशालाओं का भार देना होगा। ग्राम-पञ्चायतों को यथाशक्ति उन्हें इस कार्य में सहयोग देना होगा। एक दूसरा उपाय प्रत्येक गाँव में सहकारी शिक्षा-समितियों (Cooperative Education Societies) की स्थापना है। इसका प्रयोग पञ्जाब में हुआ है और इसमें सफलता भी प्राप्त हुई है। स्त्री-पुरुषों की पृथक्-पृथक् समितियाँ होनी चाहिएँ। गाँव के जनसेवी शिक्षित व्यक्तियों का सहयोग सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है। सरकार को इन शिक्षा-समितियों की आवश्यकतानुसार सहायता करनी होगा। रात्रि-पाठशाला के अध्यापकों को इस बात का विशेष प्रयत्न करना चाहिए कि गाँववालों को वे जो कुछ पढ़ाते हैं उसके अतिरिक्त समाचार-पत्रों और अन्य पुस्तकों के पढ़ने की आदत हो जाय। इसके लिए गाँवों में पुस्तकालयों की स्थापना करनी होगी। अतः रात्रि-पाठशालाओं के अतिरिक्त पुस्तकालयों की सुविधा ग्रामीण जनता के लिए उतनी ही महत्वपूर्ण है।

रात्रि-पाठशालाओं और पुस्तकालयों से तो इस दिशा में लाभ होगा ही। किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य उपायों का सहारा भी प्रौढ़ों को शिक्षित करने में लिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में रेडियो का उल्लेख विशेष प्रकार से किया जा सकता है। इसके द्वारा अन्य देशों का समाचार तथा अपने देश के विभिन्न भागों में होनेवाली घटनाओं का ज्ञान ग्रामीण जनता को कराया जा सकता है। इससे उनके ज्ञान में वृद्धि होगी, साथ ही साथ उनका मनोरञ्जन भी होगा। रेडियो के द्वारा प्रचार-कार्य बड़ी सफलता के साथ किया जा सकता है। एक

बात स्मरण रहे कि रेडियो का कार्यक्रम (प्रोगाम) बनाने में गाँव के लिए उसकी उपयोगिता का ध्यान रक्खा जाय।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

गाँव और जिले का शासन

ग्राम्य जीवन के अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी को गाँव के शासन का भी समुचित ज्ञान होना चाहिए। अतः इस अध्याय में गाँव और जिले के शासन का वर्णन किया जायगा।

सर्वप्रथम गाँव के शासन को लीजिए। यह चार मुख्य सरकारी कर्मचारियों के द्वारा होता है, जिनके नाम निम्न-लिखित हैं:—मुखिया, पटवारी, चौकीदार और नम्बरदार।

मुखिया

प्रत्येक गाँव में एक मुखिया होता है। साधारणतया गाँव का कोई सम्पन्न व्यक्ति ही जिसका गाँव के लोगों पर प्रभाव और दबदबा होता है मुखिया बनाया जाता है। गाँव के मुखिया का मुख्य काम शासन की दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रामीण घटनाओं से अपने थाने के पुलिस को सूचित करता रहता है। जब कभी गाँव में किसी के यहाँ चोरी हो जाती है या और कोई दुर्घटना हो जाती है तो मुखिया गाँव के चौकीदार के द्वारा इसकी सूचना थाने में भिजवा देता है। गाँव में शान्ति रखने का भी कुछ भार उसके ऊपर होता है। जो लोग उसका कहना नहीं मानते उनके खिलाफ वह रिपोर्ट भी कर सकता है। थाने

के अतिरिक्त तहसील से भी मुखिया का सम्बन्ध होता है। मुखिया को सरकारी कर्मचारियों के दौरे के समय उन्हें सहयोग देना होता है।

पटवारी

ग्रामीण शासन का एक बहुत बड़ा महत्वपूर्ण कर्मचारी गाँव का पटवारी होता है। पटवारी को कहीं-कहीं कुलकर्णी भी कहा जाता है। पटवारी के सम्बन्ध में पहले ('पटवारी के काग़ज़ात' वाले अध्याय में) लिखा जा चुका है। इसका मुख्य काम भूमि सम्बन्धी काग़ज़ात का रखना है।

चौकीदार

इसका मुख्य काम गाँव में पहरा देना होता है। इसका दूसरा काम गाँव के मुखिया के आदेशों को थाने तक पहुँचाना होता है। इसका तीसरा महत्वपूर्ण कार्य जन्म और मृत्यु की साप्ताहिक खबरें देना होता है। प्रत्येक सप्ताह में कितने बच्चे पैदा हुए या कितने आदमी मरे, इसकी खबर चौकीदार गाँव की शासन सम्बन्धी बातों की रिपोर्ट थाने में करता है।

नम्बरदार

यह केवल वहीं होता है जहाँ जमींदारी प्रथा का प्रचार है। नम्बरदार का मुख्य काम जमींदारों से मालगुजारी वसूल करना तथा सिंचाई की रक़म वसूल करना और तहसील में जमा कर देना होता है।

तहसीलदार

गाँव के चारों कर्मचारी—मुखिया, पटवारी, चौकीदार और नम्बरदार—तहसीलदार के अधीन होते हैं। बहुत से गाँवों को मिलाकर एक तहसील बनती है जिसका प्रधान अफसर

तहसीलदार कहलाता है। तहसीलदार की सहायता के लिए नायब तहसीलदार, कानूनगो इत्यादि होते हैं।

तहसील भी कई हिस्सों में बँटी होती है जिसमें प्रत्येक हिस्से को परगना कहते हैं। प्रत्येक परगना में एक कानूनगो होता है। वह अपने परगने के पटवारियों के काम की देख-भाल करता है। तहसीलदार के मुख्य काम होते हैं:—(१) अपनी तहसील की मालगुजारी वसूल करना, (२) फौजदारी के झगड़ों और मामलों की सुनवाई करना। तहसीलदार को तीसरी या दूसरी श्रेणी के मजिस्ट्रेट (वह सरकारी कर्मचारी जिसे शासन तथा न्याय सम्बन्धी कुछ अधिकार प्राप्त होता है) के सब अधिकार प्राप्त होते हैं। वह दोषी व्यक्ति को एक से लेकर छः महीने तक कारावास का दण्ड दे सकता है और ५०) से १००) तक आर्थिक दण्ड लगा सकता है।

ग्रामीण जनता को स्थानीय मामलों में पूर्ण स्वराज्य देश के स्वतन्त्र होने के बहुत पहले से ही प्राप्त है। प्रत्येक जिले में एक बोर्ड होती है जिसे जिला बोर्ड या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड कहते हैं। इन बोर्डों का मुख्य काम अपने जिले भर में शिक्षा और स्वास्थ्य का समुचित प्रबन्ध करना होता है। बोर्डों के सदस्य जनता द्वारा चुने हुए होते हैं। किसी किसी जिले में एक ही जिला बोर्ड होती है जो समस्त जिले का काम करती है। कहीं कहीं जिला बोर्ड के अधीन कई स्थानीय, तालुक या सर्किल बोर्डें (local, taluqa or circle boards) होती हैं। ये सब जिला बोर्ड के अधीन होती हैं और जिले के निश्चित भागों में प्रत्येक अपने भाग में काम करती है! हमारे संयुक्त प्रान्त में स्थानीय या सर्किल बोर्डें नहीं पाई जाती। अन्य प्रान्तों में ये पाई जाती हैं।

जिला बोर्ड के सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा होता है। नाबालिगों और पागलों को छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति, चाहे स्त्री चाहे पुरुष, जो एक निश्चित मात्रा में मालगुजारी अथवा लगान चुकाता है, मत देने का अधिकार रखता है। प्राइमरी शिक्षा प्राप्त प्रत्येक व्यक्ति को मत देने का अधिकार होता है।

बोर्ड के सदस्यों के चुनाव के लिए पूरा जिला विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक सदस्य बोर्ड में जाता है। अतः बोर्ड के सदस्यों की संख्या के बराबर ही संख्या में निर्वाचन-क्षेत्र जिले में बनाए जाते हैं। प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र से कई उम्मीदवार खड़े हो सकते हैं किन्तु जिस उम्मीदवार को सबसे अधिक मत प्राप्त होते हैं वही चुना जाता है। प्रत्येक जिला-बोर्ड का एक सभापति होता है जिसे जिले का चेयरमैन (District Chairman) कहते हैं। हाल तक चेयरमैन के पद के लिए बोर्ड के लिए निर्वाचित सदस्य ही अपने में से किसी सदस्य को चुन लेते थे। अब यह बदल गया है। चेयरमैन के पद के लिए उम्मीदवार खड़े होते हैं और समस्त जिले के मतदाता अपने मत देकर उसका चुनाव करते हैं। चेयरमैन के चुनाव के लिए पूरे जिले का एक ही निर्वाचन-क्षेत्र होता है। उस पद के लिए उम्मीदवार कई व्यक्ति खड़े हो सकते हैं। जिसे सबसे अधिक मत प्राप्त होते हैं वही चेयरमैन निर्वाचित हो जाता है। पहले चेयरमैन को कोई वेतन बोर्ड की ओर से नहीं मिलता था। किन्तु अब नए नियम के अनुसार चेयरमैनों को वेतन भी मिलने लगा है। प्रति मास उसे ३०० रु० बोर्ड की ओर से वेतन के रूप में मिलते हैं।

जिला बोर्डों के कर्त्तव्य

जिला बोर्डों का मुख्य कर्तव्य अपने जिले के ग्रामीण भाग

की उन्नति करना है। इनके कार्यों को चार वर्गों में रक्खा जा सकता है—

(१) शिक्षा सम्बन्धी कार्य;
(२) स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य;
(३) सुधार सम्बन्धी कार्य;
(४) सार्वजनिक निर्माण सम्बन्धी कार्य।

ग्रामीण जनता की शिक्षा का भार इन्हीं संस्थाओं पर होता है। देहातों में पाए जानेवाले अधिकांश प्राइमरी और मिडिल स्कूल जिला-बोर्डों की ओर से ही खुले होते हैं। शिक्षा के अतिरिक्त ग्रामीण जनता और पशुओं की चिकित्सा का भी प्रबन्ध करना पड़ता है। बीमारियों और महामारियों की रोक-थाम के लिए अस्पतालों का खोलना और डाक्टरों को देहातों में भेजकर प्लेग, हैजा इत्यादि के प्रकोप के समय लोगों के टीका लगाने इत्यादि का काम भी इन्हें करना पड़ता है। ग्रामीण तालाबों की सफाई कराना भी इन्हीं का काम है। जिले की नदियों के पार करने के लिए घाटों की व्यवस्था भी जिला बोर्ड ही करती है। नदियों पर पुल भी बोर्ड की ओर से बने होते हैं। सड़कों और पुलों की मरम्मत और देखभाल भी करना होता है। अनाथालयों का भी प्रबन्ध जिला-बोर्डों को करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इन्हें गाँवों में पीने तथा सिंचाई के लिए पानी की व्यवस्था करनी होती है। ग्रामीण जनता के मनोरञ्जन और ज्ञान-वृद्धि के लिए पुस्तकालयों, वाचनालयों, पार्क, नुमाइश इत्यादि का प्रबन्ध करना भी इनके मुख्य कर्त्तव्यों में से है। इनका एक महत्वपूर्ण कार्य कांजो हाउस अर्थात् ऐसे स्थान की व्यवस्था करना है जहाँ खेती को हानि पहुँचानेवाले पशु रोककर रखे जाते हैं। यदि किसी

किसान के खेत में दूसरे के चौपाए चरने लगें और फसल को हानि पहुँचावें तो किसान उन चौपायों को ले जाकर कांजी-हाउस पहुँचा देता है। चौपायों के मालिक को जुर्माना देकर अपने पशुओं को छुड़ाना पड़ता है।

इन कर्त्तव्यों के पालन के लिए जिला बोर्ड की कई छोटी-समितियाँ बना दी जाती हैं और उन्हें पृथक्-पृथक् काम सौंप दिया जाता है। इन समितियों में शिक्षा, अर्थ, स्वास्थ्य और निर्माण-कार्य की समितियाँ मुख्य हैं। शिक्षा का भार शिक्षा-समिति के ऊपर होता है जिसका काम देहातों में स्कूलों का खुलवाना और उनकी देखभाल करना है। चिकित्सा इत्यादि के लिए हेल्थ आफिसर (Health Officer) और कम्पाउण्डर की नियुक्ति होती है। सड़कों और अन्य उन्नति के कार्यों के लिए इञ्जीनियर और ओवरसियर होते हैं।

जिला-बोर्डों की आय

ऊपर बताए गए कार्यों के सम्पादन के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता होती है। यह धन कहाँ से आता है। सर्वप्रथम प्रान्तीय सरकार से इन कार्यों के लिए प्रति वर्ष कुछ आर्थिक सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त इनकी आय के मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं:—

(१) स्कूलों से प्राप्त फीस;

(२) कांजी हाउस की आमदनी;

(३) तालाब, घाट, सड़क पर महसूल की वसूली से प्राप्त आय;

(४) मेलों और नुमाइशों में व्यापारियों पर लगे कर की वसूली की आय;

(५) पशु-चिकित्सालयों की फीस ;

(६) सड़कों के किनारे लगे वृक्षों की बिक्री से प्राप्त आय ; और

(७) आमदनी कर (Local rates) से प्राप्त आय ।

जिले में कलक्टर और कमिश्नर इन बोर्डों का निरीक्षण करते हैं। वे इनके आय-व्यय सम्बन्धी बजट को देखते और विभिन्न विषयों पर अपनी राय देते हैं। जन-हित के विरुद्ध कार्य करनेवाली बोर्डों को ऐसा करने से रोक देने का अधिकार इनको प्राप्त होता है। सुचारु रूप से काम न कर सकने पर प्रान्तीय सरकार जिला-बोर्ड को तोड़ सकती है। ऐसी दशा में बोर्ड का नया चुनाव होता है।

जिले का शासन

शासन की सुविधा के ख्याल से प्रत्येक जिला कई तहसीलों में बँटा होता है। शासन-सम्बन्धी कार्यों के समुचित सम्पादन के लिए विभिन्न कार्य विभिन्न विभागों को सुपुर्द होते हैं। जैसे शिक्षा कार्य शिक्षा-विभाग, और शान्ति और सुरक्षा का कार्य पुलिस-विभाग करता है। इसी प्रकार भूमि-कर, न्याय, कृषि और सिंचाई इत्यादि के भी अलग-अलग विभाग होते हैं। प्रत्येक विभाग का एक प्रधान अधिकारी होता है। शिक्षा-विभाग का जिले का प्रधान अधिकारी जिले का इन्सपेक्टर (District Inspector) होता है और उसकी अधीनता में डिप्टी इन्सपेक्टर और कई सब-डिप्टी होते हैं जो जिले में शिक्षा-सञ्चालन का कार्य करते हैं। पुलिस-विभाग का प्रधान अधिकारी पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट (superintendent of police) या पुलिस कप्तान कहलाता है। चिकित्सा विभाग

का प्रधान अधिकारी सिविल सर्जन होता है। निर्माण-कार्य के लिए एक्जीक्यूटिव इञ्जीनियर होता है। न्याय-विभाग का प्रधान जिला जज होता है। ये अफसर अपने-अपने विभागों के उच्च कर्मचारियों के अधीन होते हैं। किन्तु जिले के शासन की दृष्टि से केवल जिला जज और मुंसिफ आदि को छोड़ कर सब पर जिलाधीश ही प्रधान होता है। सभी विभागों के यथोचित कार्य-संचालन तथा शासन में एकता की भावना उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही जिलाधीश पर सभी विभागों के निरीक्षण करने का उत्तरदायित्व रक्खा गया है।

जिले का प्रधान अफसर जिलाधीश होता है। उसे प्रायः कलक्टर और कहीं-कहीं डिप्टी कमिश्नर कहते हैं। अपने जिले की मालगुजारी की वसूली का उत्तरदायित्व उसी पर होता है। इसलिए उसे कलक्टर कहते हैं। इसके अतिरिक्त अपने जिले की भूमि सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करता है, जमींदारों और किसानों के झगड़ों का निपटारा और फैसला करता है। जिले के सरकारी कोष का उत्तदायी वही होता है। दुर्भिक्ष, बाढ़ या अन्य प्रकार की असाधारण परिस्थितियों में किसानों को सरकारी सहायता उसी की सम्मति के अनुसार मिलती है। उसे प्रथम कोटि के मजिस्ट्रेट के अधिकार भी प्राप्त होते हैं। जिलाधीश फौजदारी के मुकदमे भी देखता है। किसी अपराध के लिए उसे दो साल का कारावास दण्ड और १०००) एक हजार रुपए आर्थिक दण्ड या जुर्माना लगाने का अधिकार होता है। जिले में हर प्रकार के कुप्रबन्ध का सुधार करना और प्रत्येक बात की रिपोर्ट उच्च कर्मचारियों के पास भेजना उसी का कर्तव्य है। जिले में शान्ति और सुव्यवस्था रखना जिलाधीश का प्रधान कर्तव्य है। शान्ति-भङ्ग होने की आशङ्का उत्पन्न

होने पर संदिग्ध व्यक्तियों को वह पुलिस द्वारा गिरफ्तार करा सकता है। किसी जमींदार या तालुकेदार की रियासत का कुप्रबन्ध देखकर वह उसे कोर्ट आफ वार्डस के सिपुर्द कर सकता है।

जिलाधीश की सहायता के लिए उसके नीचे डिप्टी कलेक्टर और असिस्टेन्ट कलेक्टर होते हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि शासन की सुविधा के ख्याल से जिला सबडिवीजनों या तहसीलों में विभक्त कर दिया जाता है। सबडिवीजन बड़े जिले में होता है और उसका चार्ज एक सोनियर डिप्टी कलेक्टर या असिस्टेन्ट कलेक्टर को सुपुर्द होता है। जो काम जिलाधीश का पूरे जिले के लिए होता है वही काम सबडिवीजन अफसर का अपने सब-डिवीजन के लिए होता है।

तहसीलें सब-डिवीजन से छोटी होती है। तहसील का सर्वोच्च अधिकारी डिप्टी कलेक्टर कहलाता है, जो जिले के सदर मुकाम में रहकर मुकद्में देखता है। उसे अपनी तहसील का दौरा करके अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण भी करना होता है। डिप्टी कलेक्टर के नीचे तहसीलदार होता है। तहसीलदार और उसके अधीनस्थ कर्मचारियों का पहले वर्णन किया जा चुका है। अतः अब उसकी पुनरावृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं।

||२५|

द्वितीय-खण्ड

उन्तीसवाँ अध्याय

गाँववालों का पारस्परिक सम्बन्ध

भारतीय ग्रामों के सामाजिक जीवन के अध्ययन के लिये ग्राम निवासियों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से ग्रामीण जन-समूह को तीन वर्गों में रक्खा जा सकता है:—

(१) सरकारी कर्मचारियों का वर्ग जिसमें पटवारी, चौकीदार इत्यादि शामिल हैं।

(२) जमींदार और महाजनों का समुदाय जो निरीह जनता के शोषण कार्य में लगा होता है।

(३) शोषित वर्ग जिसमें किसान और अन्य ग्रामीण मजदूर और कारीगर आते हैं।

(१) गाँव के अफ़सर भोले-भाले किसानों और कारीगरों के ऊपर अपना विशेष प्रभुत्व जमाये रखने की कोशिश करते हैं और रखने में सफल भी होते हैं। यद्यपि देश के स्वतन्त्र हो-

1124

जाने के बाद से इस दिशा में कुछ सन्तोषप्रद परिवर्तन हो रहा है। लोगों में जागृति आ गयी है और उनमें साहस का उदय हो रहा है जिससे इन कर्मचारियों के व्यवहार में भी कुछ परिवर्तन हो रहा है। इस सम्बन्ध में पटवारी का उल्लेख विशेष रूप से करना आवश्यक है। ब्रिटिश शासन काल में तो वह गाँव का एक तरह से कलक्टर अर्थात् सर्वोच्च अधिकारी होता था। और अब भी उसी तरह से है। यद्यपि अब उसका दबदबा शनैः शनैः कम होता जा रहा है। ग्रामवासी उसका विरोध करने की हिम्मत नहीं करते। वे उसकी खुशामद में लगे रहते हैं। वह ग्रामीण जनता से विभिन्न प्रकार की नाजायज रकमें वसूल करता है और वे उसे हर्ष के साथ देती है, क्योंकि उन्हें इस बात का सदैव डर बना रहता है कि कहीं मुंशी जी नाराज न हो जायँ और भूमि सम्बन्धी कागजातों में हानिकारक और परेशान करनेवाली गड़बड़ियाँ न कर दें। उनकी अशिक्षा उनकी दशा और अधिक असहाय बना देती है और पटवारी जो एक चतुर व्यक्ति होता है, उनकी इस विवशता का अनुचित लाभ उठाता है। इन कर्मचारियों का गाँव के जमींदारों और महाजनों के साथ अच्छा सम्बन्ध होता है। वास्तव में गाँव के महाजन, जमींदार और वे कर्मचारी तीनों मिल कर निरीह जनता का शोषण करते हैं।

(२) जमींदार और महाजन का ग्रामीण जनता के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध और व्यवहार होता है पिछले अध्यायों में उपयुक्त स्थानों पर वर्णन किया जा चुका है। और उसकी पुनरावृत्ति से कोई लाभ नहीं होगा। केवल इतना ही स्मरण रखना पर्याप्त होगा कि इनका सम्बन्ध वर्तमान परिस्थिति में

किसानों और कारीगरों के साथ अच्छा नहीं होता। वे हर प्रकार के सम्भव उपायों से इनका शोषण करने का प्रयत्न करते हैं। इसका शोषण ग्रामीण जनता की अत्यन्त गिरी हुई आर्थिक दशा के कारणों में से एक मुख्य कारण है।

(३) ग्रामीण किसानों और कारीगरों का पारस्परिक सम्बन्ध यद्यपि प्राचीन समय का सा नहीं है फिर भी उसमें भ्रातृ भाव और सहयोग का कुछ अंश शेष रह गया है। वे विभिन्न अवसरों पर प्रायः एक दूसरे का मदद करते हुए देखे जाते हैं। वे लागशादी-ब्याह या मृत्यु इत्यादि के अवसरों पर विशेष कर एक दूसरे की सहायता करते हैं। चूँकि आर्थिक दशा अधिकांश की खराब होती है इसलिये वे एक दूसरे की आर्थिक सहायता करने में असमर्थ होते हैं। किन्तु गाँवों में दलबन्दी के दिनों दिन बढ़ते हुए प्रभाव के कारण इसका भी पारस्परिक सम्बन्ध खराब होता चला जा रहा है। एक दल वाले दूसरे दल वालों को सब प्रकार से क्षति पहुँचाने की कोशिश करते हैं। पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क के कारण और आर्थिक पतन के फलस्वरूप गाँवों का संगठन नष्ट होता जा रहा है।

ग्रामीण संस्थायें

गाँवों में प्रायः एक या दो प्रकार की संस्थायें भी देखने में आती हैं। इनमें ग्राम-पंचायत और सहकारी समिति मुख्य हैं। सहकारी समितियों के कई भेद होते हैं जैसे सहकारी साख समिति, क्रय-विक्रय समिति, रहन-सहन-सुधार समिति इत्यादि। इन समितियों के सम्बन्ध में सहकारिता के अध्याय में आगे लिखा जायगा। यहाँ केवल पंचायतों के सम्बन्ध में आवश्यक बातों पर प्रकाश डाला जायगा।

ग्राम-पंचायतों का संक्षिप्त इतिहास

ग्राम-पंचायतें प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता हैं। मानव सभ्यता के प्रारम्भिक अवस्था से ही इनका अस्तित्व भारतीय ग्रामों में पाया जाता है। भारतीय ग्रामों का शासन हिन्दू-शासन-काल और मुसलमानी शासन-काल तक भी पंचायतों द्वारा ही होता था। हिन्दू शासन काल में तो इनका बड़ा ही महत्व रहा है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'विश्व इतिहास की झलक' में पंचायतों के सम्बन्ध में लिखा है। "गाँव करीब-करीब आजाद होते थे और चुनी हुई पंचायत उन पर शासन करती थी। कई गाँवों या छोटे कसबों को मिलाकर उनपर एक राजा या सरदार राज करता था, जो कभी तो चुना हुआ होता था और कभी पुश्तैनी। अक्सर गाँवों के अनेक गिरोह एक दूसरे से सहयोग कर के सड़कें, धर्मशालायें, सिंचाई के लिये नहरें या इस प्रकार की पंचायती चीजें, जिनसे सार्वजनिक फायदा हो सकता था बनाया करते थे। यह भी मालूम होता है कि राजा यद्यपि राज्य का प्रमुख होता था लेकिन वह मनमानी नहीं कर सकता था। उसे आर्यों के कानून और प्रथा यानि रस्म रिवाज के मुताबिक चलना पड़ता था। उसकी रिआया उस पर जुर्माना कर सकती थी और उसे गद्दी से उतार सकती थी। इस तरह आर्य बस्तियों में एक किस्म का लोकतंत्र पाया जाता था, यानी आर्य-प्रजा शासन पर कुछ हद तक नियंत्रण रखती थी।" उसी अध्याय में अन्यत्र स्थान पर लिखते हैं:—"गाँव के बीच में पंचायत-घर होता था जहाँ पर गाँव के बड़े बूढ़े या बुजुर्ग लोग इकट्ठे होते

थे। छोटे गाँव में पंचायत घर के बजाय कोई एक बड़ा पेड़ हुआ करता था। हर साल गाँव के सब स्वाधीन आदमी इकट्ठे होकर अपनी पंचायतें चुनते थे।"

मुसलमानों के आगम के साथ पंचायतों को कुछ धक्का अवश्य पहुँचा। उनके कार्य में तरह तरह की अड़चनें और कठिनाइयाँ पड़ने लगीं। फिर भी उनका अस्तित्व बना रहा और वे किसी न किसी रूप में कार्य करती रहीं। कतिपय मुसलमान बादशाहों ने भी इनको प्रधानता दी। किन्तु देश में ब्रिटिश सत्ता के स्थापित होने से इन पंचायतों की मानों जड़ ही कट गई। ब्रिटिश शासन-काल में उनके अधिकार और आय प्रान्तीय सरकारों द्वारा हड़प कर लिये गये। शान्ति और सुरक्षा के लिये विभिन्न प्रकार की पुलिस और फौजदारी की अदालतों की स्थापना हुई और इन पंचायतों का तीव्रगति से ह्रास होता गया फिर भी पंचायतें जातीय, सामाजिक अथवा किसी ऐसे विकृत अवस्था में चलती रहीं।

कुछ वर्षों के बाद ब्रिटिश सरकार ने भी इनके महत्व को समझा या समझने का ढोंग किया। पंचायतों के पुनरुत्थान के लिए कुछ दिखावटी प्रयत्न भी होने लगे। यदि किसी गाँव की जनता अपने यहाँ पंचायत स्थापित करना चाहती थी तो उसे अपने जिले के कलक्टर के यहाँ प्रार्थना पत्र देना होता था। जिलाधीश को पंचायत सम्बन्धी कार्य-संचालन के लिए आवश्यक योग्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में जाँचें करनी पड़ती थीं। यदि उन्हें यह विश्वास हो जाता कि इस गांव में पंचायत चलाने के योग्य व्यक्ति हैं तो वे पंचों को नामजद कर लेते थे नामजद पंचों में से एक को सरपंच बना दिया जाता था। ऐसा हो जाने पर

पंचायत का स्थान, समय आदि भी निश्चित कर दिया जाता था। बेईमान और अनुचित आचरण करने वाले पंच को कलक्टर ही निकाल सकता था। किसी पंच के स्तीफा दे देने की दशा में उसके रिक्त स्थान की पूर्ति कलक्टर ही नये पंच की नामजदगी से करता था। किसी पंचायत को तोड़ देने के लिए कलक्टर को कमिश्नर की लिखित सम्मति ले लेनी पड़ती थी। पंचायत के सदस्यों की संख्या कम से कम पाँच और अधिक से अधिक सात होती थी। किन्तु पंचायत अपना कार्य तभी कर सकती थी जब की कम से कम तीन सदस्य मौजूद हों।

इस प्रकार की पंचायतों को निम्न लिखित अधिकार प्राप्त थेः—(१) छोटे छोटे दिवानी और फौजदारी के मामलों का निर्णय करना। (२) कृषि को हानि पहुंचाने वाले इधर उधर घूमने वाले पशुओं के स्वामियों पर जुर्माना करने का अधिकार था। (३ , ग्रामीण सफाई कानून (village sanitation Act) के अनुसार पंचायतों की सफाई सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे। (४ , फौजदारी के मामलों में अधिक से अधिक १० रू०, अवारा पशुओं द्वारा कृषि को हानि पहुँचाने वाले मामलों में अधिक से अधिक ५ रू० और ग्रामीण सफाई से सम्बन्धित मामलों में अधिक से अधिक १ रू० (एक रुपया) जुर्माना करने का अधिकार था।

प्रत्येक पचायत का एक अपना ग्रामीण कोष (village fnud) होता था। मुकदमा लड़ने वाले व्यक्तियों से फीस या जुर्माने के रूप में वसूल की गई रकम इस कोष में रक्खी जाती थी। जिनका बोर्डों या प्रान्तीय सरकार द्वारा

इनकी सहायता के लिये प्राप्त रक़म भी इसी कोष में रक्खी जाती थी।

इस कोष का उपयोग शिक्षा, सफाई, स्वास्थ्य और अन्य सार्वजनिक हित के कार्यों में करना होता था।

यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे के खिलाफ कोई मुकदमा चलाना चाहता था तो वह सरपंच के पास इसकी लिखित या मौखिक दरख्वास्त देता था और इसकी निर्धारित फीस जमा कर देता था। उस व्यक्ति की दरख्वास्त रजिस्टर में लिख ली जाती थी और उसपर उसके हस्ताक्षर बनवा लिये जाते थे। पंचायत की अगली बैठक में उस पर विचार होता था और यदि पंचों की राय में शिकायत में कुछ सत्यता हुई तो प्रतिवादी के नाम समन निकाल दिया जाता था। पंचायतों में वादी या प्रतिवादी के ओर से किसी प्रकार के वकील की पैरवी नहीं हो सकती थी। फैसला या निर्णय बहुमत से होता था।

ब्रिटिश शासन काल में यह थी व्यवस्था पंचायतों की। यद्यपि इनमें कई त्रुटियाँ थीं किन्तु फिर भी इस रूप में भी पंचायतों को ठीक ढंग से चलाने का प्रयत्न किया गया होता तो बहुत कुछ सुधार किया जा सकता था। किन्तु वास्तव में बात तो यह है कि हमारी विदेशी सरकार को कोई इसकी विशेष चिन्ता नहीं था। वह इस मामले में सर्वथा उदासीन थी। केवल दिखाने के लिये यह कागजी कारवाई थी कि सरकार ग्रामीण समस्याओं की ओर से भी जागरुक है। यही कारण है, कि पंचायतों के पुनस्संगठन और पुनरुत्थान के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया और फलतः पंचायतों का प्रसार पर्याप्त मात्रा

में नहीं हो सकता। जिन ग्रामों में इस प्रकार के पंचायतों की स्थापना भी हुई वहाँ भी उनका संचालन सन्तोषजनक ढंग पर नहीं हो सका। ऐसी संस्थाओं की सफलता के लिये यह बहुत ही आवश्यक होता है कि उसके सञ्चालक लोग अपने उत्तरदायित्व को भली भाँति समझें। वे अधिकारियों के दबाव के कारण कोई कार्य न करें बल्कि जो कुछ करें अपने नैतिक बल के आधार पर करें। यदि ऐसा नहीं है तो जनता का सहयोग मिलना असम्भव हो जायगा और पंचों पर लोगों का विश्वास नहीं रह जायगा। ब्रिटिश शासन काल में ग्राम-पंचायतों की वृद्धि के लिये अनुकूल वतावरण का अभाव था। अतः इनका पर्याप्त प्रसार नहीं हो सकता।

राष्ट्रपिता गाँधी जी ने देश का ध्यान गाँवों की ओर दिलाया। "गाँवों की ओर" के जबर्दस्त आन्दोलन का उन्हीं ने सूत्रपात किया। उन्होंने यह भलीभाँति स्पष्ट कर दिया कि गाँवों के प्रबन्ध के लिये ग्राम-पंचायतों का होना नितान्त आवश्यक है। उनके इस संकेत को सबसे पहले हमारे प्रान्त ने अपनाया। सन् १९३९ ई० में ही जब कि सर्वप्रथम कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना देश के अधिकांश प्रान्तों में हुई थी, हमारे संयुक्तप्रांत की सरकार ने पंचायत ऐक्ट बनाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था और वह बहुत कुछ तैयार भी हो चुका था। किन्तु महायुद्ध छिड़ जाने तथा उसके फलस्वरूप कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्याग-पत्र दे देने के कारण वह ज्यों का त्यों अधूरा ही रह गया। कुछ वर्षों के लिये यह कार्य स्थगित सा हो गया। किन्तु ज्यों ही कांग्रेस ने पुनः शासन की बागडोर हाथ में ली, पंचायत कानून को लागू करने की ठान

लिया। विधान-परिषद् ने भी गाँव पंचायतों का अस्तित्व स्वीकार कर लिया है। अतः पंचायतें अब देश के शासन की एक अंग बन गई हैं। प्रान्तीय सरकारें शीघ्र ही इस कानून को लागू करके गाँव के शासन को गाँवों को सौंप देंगी। हमारे संयुक्तप्रान्त में तो यह कानून पास भी हो गया है तथा उसके अनुसार प्रान्त के समस्त गाँवों में ग्राम-पंचायतों की स्थापना भी हो चुकी है और वे कार्य भी करने लगी हैं। ग्रामीण जनता अपना प्रबन्ध अब अपने आप करने लगी है। उनके दैनिक जीवन के अधिकांश कार्य अब ऊँचे सरकारी कर्मचारियों तक पहुँचने के बजाय गाँव में ही तय हो जाया करेंगे सरकार से सहायता के लिये नित्य प्रति भीख नहीं माँगनी पड़ेगी। अब ग्रामीण लोग अपने सुख का प्रबन्ध स्वयं करेंगे। जिस काम में वे असमर्थ होंगे उनमें सरकार और स्थानीय संस्था में सहायता करेंगी। अतः यह जानना आवश्यक है कि गाँवों के प्रबन्ध और सुख-समृद्धि में सरकार द्वारा बनाई गई पंचायतें कितना सहायक होंगी। वे पंचायतें किस प्रकार बनेंगी, उन्हें कौन बनायेगा, इसका संक्षिप्त वर्णन आगे किया जायेगा।

संयुक्तप्रान्त का पंचायत राज्य ऐक्ट

इस ऐक्ट के अनुसार हमारी प्रांतीय सरकार ने गाँव सभा, गाँव पंचायत और पंचायती अदालत की व्यवस्था की है। ये ही तीनों संस्थायें गाँवों का कार्य संचालन करेंगी।

गाँव सभा, गाँव पंचायत, पंचायत अदालतें क्या हैं ?

गाँव सभा

कोई गाँव सभा एक गाँव अथवा कई छोटे गाँवों को

मिलाकर बन ई जायगी जिसकी आबादी १ हजार या उससे अधिक हो। यह सरकार द्वारा बनाये गये पंचायत राज्य कानून १६४७ की धारा ३ में बताया गया है। जो गाँव जिस गाँव सभा में शामिल किये गये हैं उनके रहने वाले प्रत्येक प्रौढ़ बालिग स्त्री और पुरुष जिनकी अवस्था २१ वर्ष के ऊपर है उस गाँव सभा के सदस्य होंगे। इन्हीं सदस्यों को वोट देने का अधिकार होगा। लेकिन ऐसा कोई प्रौढ़ पुरुष या स्त्री गाँव सभा का सदस्य नहीं हो सकेगा यदिः—

(१) उसका दिमाग खराब हो;

(२) उसको कोढ़ हो;

(३) वह दिवालियेपन से बरी नहीं किया गया हो;

(४) सरकारी नौकर हो या आनरेरी मजिस्ट्रेट हो, आनरेरी मुंसिफ या आनरेरी असिस्टेन्ट कलेक्टर हो जिसके अधिकार क्षेत्र में किसी गाँव सभा का क्षेत्र हो;

(५) उसे चुनाव सम्बन्धी किसी अपराध के लिये दण्ड दिया जा चुका हो; या

(६) उसको किसी नैतिक अपराध में दण्ड दिया जा चुका हो या नेक चलनी के लिये जमानत जमा करने की आज्ञा दी गई हो।

गाँव सभाओं के निश्चित करने में इस बात का प्रयत्न किया गया है कि पड़ोस के गाँव ही एक गाँव सभा में सम्मिलित किये जाँय। गाँव सभा के केन्द्र स्थल से साधारणतया कोई गाँव २ मील से दूर नहीं रक्खा गया है।

गाँव पंचायत

गाँव सभा का प्रबन्ध करने के लिये उनके सभी सदस्य

एक कार्यसमिति बनायेंगे। इस कार्यसमिति में एक सभापति, एक उप सभापति और ३० से लेकर ५१ तक सदस्य रक्खे गए हैं। यही समिति गाँव पंचायत कहलायेगी। गाँव पंचायत कहने से इन्ही चुने हुए ३० से ५१ सदस्यों का बोध होगा। अर्थात् गाँव सभा के सदस्य का अर्थ गांव के प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष से होगा किन्तु गांव पंचायत का वही सदस्य कहलायेगा जो चुना जायगा और ३० से ५१ में से एक होगा। दोनों का यह अन्तर अच्छी तरह ध्यान में रखना होगा।

(क) जिस गाँव सभा के क्षेत्र में १००० की आबादी है उसमें ३० मेम्बर होंगे।

(ख जिस गांव सभा के क्षेत्र में १००० से अधिक किन्तु २००० के भीतर आबादी है उसमें ३६ मेम्बर होंगे।

(ग) २००० से ३००० आबादी तक वाले गाँव सभा में ४५ मेम्बर होंगे।

(घ) ५००० से अधिक आबादी वाले गाँव, सभा में ५१ मेम्बर होंगे।

मुसलमान ईसाई और दलित वर्ग के लिये जगहें निर्धारित रहेंगी। ये जगहें आबादी के अनुपात से गांव सभा में नियत कर दी जाया करेंगी जिसकी सूची तहसील और गांव सभा के केन्द्र पर चुनाव के पहले लटका दी जायगी।

पंचायती अदालत

३ से लेकर ५ गाँव सभाओं को मिलाकर एक पंचायती अदालत बनाई जायगी। प्रत्येक पंचायती अदालत में १५ से लेकर २५ तक पंच होंगे। यह पंचायती अदालत न्याय करने

वाली संस्था है। प्रत्येक गाँव सभा की ओर से ५ पंच अदालती पंचायत के लिये चुने जायँगे।

गाँव सभा के कर्तव्य और कार्य

हर गाँव सभा प्रति वर्ष दो सार्वजनिक बैठकें करेगी—एक खरीफ की बैठक और दूसरी रबी की बैठक

गाँव सभा हर खरीफ की बैठक में आगामी वर्ष के आय-व्यय के हिसाब पर विचार करेगी और उसको स्वीकार करेगी और रबी की बैठक मे विगत वर्ष के हिसाब-किताब पर विचार करेगी।

गाँव पंचायत के अधिकार और कर्तव्य

प्रत्येक ग्राम पंचायत का यह कर्तव्य होगा कि वह अपने अधिकार क्षेत्र में, जहाँ तक उसके कोष को ध्यान में रखते हुए सम्भव हो सके, नीचे दी हुई बातों के लिते समुचित व्यवस्था करें:—

(१) गाँव के रास्ते बनवाना और उनकी मरम्मत का प्रबन्ध करना, उन्हें अच्छी दशा में रखना, उनकी सफाई तथा उनमें रोशनी की व्यवस्था करना।

(२) लोगों की चिकित्सा सम्बन्धी सहायता करना।

(३) सफाई के लिये तथा छूत वाले रोगों को दूर करने और उनको फैलने से रोकने के लिये चिकित्सा-सम्बन्धी और रोक थाम के उपायों को काम में लाना।

(४) ऐसी इमारतों या दूसरी सम्पत्ति को जो गाँव सभा की हों या जो प्रबन्ध करने के लिये उसको दी गई हों अच्छी दशा में रखना, उनकी रक्षा करना और उनकी देख रेख करना।

(५) जन्म, मृत्यु और विवाहों के व्यौरे रजिस्टर में चढ़ा कर रखना।

(६) जन-मार्ग, सार्वजनिक स्थानों एवं उस सम्पत्ति पर से जिनकी गाँव सभा मालिक हो अनुचित हस्तक्षेप (मदाखलत बेजा) को दूर करना।

(७) मनुष्यों और पशुओं की लाशों और किसी दूसरे दुर्गन्ध पदार्थ का ठीक प्रबन्ध करने के लिए स्थानों की व्यवस्था करना।

(८) ऐसे मेलों, बाजारों और हाटों को नियंत्रित करना जो उसके क्षेत्र में लगते हैं और जिनमें वे मेले, बाजार और हाट सम्मिलित नहीं हैं, जिनका प्रबन्ध प्रान्तीय सरकार करती है।

(९) बालकों और बालिकाओं के लिए प्रारम्भिक शिक्षा के स्कूल खोलना और कायम रखना।

(१०) उसके अधिकार क्षेत्र के भीतर रहने वाले लोगों के सामान्य लाभ के लिए सार्वजनिक चरागाहों और भूमि को छोड़ना या क़ायम करना और उनका प्रबन्ध तथा देख रेख करना।

(११) पीने, कपड़ा धोने और नहाने के लिए पानी की व्यवस्था के हेतु सार्वजनिक कुओं, तालाबों और पोखरों को बनवाना, सुधारना और उनको अच्छी दशा में बनाये रखना और पीने का पानी प्राप्त करने के साधनों को नियंत्रित करना।

(१२) नई इमारत के बनवाने और वर्तमान इमारत के बढ़ाये जाने या उसमें परिवर्तन के लिए नियम बनाना।

(१३) खेती-बारी, व्यापार और उद्योग-धन्धों की उन्नति में सहायता करना।

(१४) आग लग जाने पर आग बुझाने और लोगों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करने में सहायता करना।

(१५) सूतिका और शिशु का हित साधन करने के लिए अस्पताल बनाना।

(१६) खाद इकट्ठा करने के लिए स्थान नियत करना।

(१७) ऐसे दूसरे जिम्मेदारी को पूरा करना जो किसी दूसरे कानून द्वारा किसी गाँव सभा पर लगाये गये हों।

ऐच्छिक कार्य

कोई गांव पंचायत अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर नीचे दी हुई बातों के सम्बन्ध में भी व्यवस्था कर सकती है:—

(अ) जन-मार्ग के दोनों ओर तथा दूसरे सार्वजनिक स्थानों में पेड़ों को लगाना और उन्हें अच्छी दशा में रखना।

(ब) मवेशियों की नस्ल सुधारना, उनकी चिकित्सा और उनके रोगों की रोक थाम करना।

(स) गन्दे गड्ढों को भरवाना और भूमि को समतल कराना।

(द) नियत किये हुए नियमों के अधीन गाँव की रक्षा और चौकी-पहरे के लिए, गाँव पंचायत और पंचायती अदालत को, उनके काम पूरा करने में सहायता करने के लिए और उनके द्वारा जारी किये हुए सम्मनों और नोटिसों की तामील करने के लिए, गाँव-स्वयं-सेवक-दल का संगठन करना।

(य) सरकारी ऋण प्राप्त करने और उन्हें आपस में

बाँटने और उनके चुकाये जाने के सम्बन्ध में किसानों की सहायता करना और उनको परामर्श देना।

(फ) सहयोग सम्बन्धी कामों की उन्नति और उन्नत बीजों और औजारों के गोदामों की स्थापना करना।

(र) दुर्भिक्ष या अन्य प्रकार की दूसरी विपत्तियों के समय सहायता करना।

(ल) गाँव सभा के अधिकार-क्षेत्र के भीतर के क्षेत्र के सम्बन्ध में जिला बोर्ड से ऐसे कार्यों के करने के लिए अनुरोध करना जो गाँव सभा के अधिकारों से बाहर हों।

(व) पुस्तकालय या वाचनालय स्थापित करना और उसे कायम रखना।

(प) मनोविनोद और खेलों के लिए अखाड़े या क्लब या दूसरे स्थान का स्थापित करना और क़ायम रखना।

(श) खाद और बहारन (कूड़ा-करकट) जमा करने, हटाने और इसके प्रबन्ध करने के लिए नियम बनाना।

(ह) आबादी के २२० गज के अन्दर चमड़े को साफ करने, कमाने और रंगने की मनाही करना या उसके सम्बन्ध में नियम बनाना।

(क्ष) विभिन्न जातियों में सद्भाव और सामाजिक एकता बढ़ाने के लिए संस्थाएँ स्थापित करना।

(त्र) सार्वजनिक रेडियो और ग्रामोफोनों का प्रबन्ध करना।

(ज्ञ) सार्वजनिक उपयोगिता का कोई दूसरा कार्य करना जिससे ग्रामवासियों की नैतिक और भौतिक उन्नति हो या जिससे उनकी सुविधाएँ बढ़ें।

(म) जिलाबोर्ड की पहले से अनुमति लेकर गाँव सभा के अधिकार क्षेत्र में रहने वाले लोगों की भलाई के लिये कोई ऐसा दूसरा काम करना जो जिला बोर्ड के कामों के अन्तर्गत आता हो।

जन-मार्गों तथा जल-मार्गों के सम्बन्ध में अधिकार

ग्राम पंचायत का नियंत्रण ऐसे सब जन-मार्गों पर और ऐसे सब जल-मार्गों पर रहेगा, जिनमें नहरें सम्मिलित नहीं हैं। इस सम्बन्ध में उसे निम्न-लिखित अधिकार होंगे:—

(क) वह नये पुल या पुलिया बनवा सकेगी।

(ख) किसी जनमार्ग, पुलिया या पुल को आवश्यकतानुसार बदलने, छोड़ने या बन्द करने का अधिकार होगा।

(ग) जलमार्ग को और गहरा या उसमें और किसी प्रकार का सुधार करने का अधिकार होगा।

(घ) किसी रास्ते, पुलिया या पुल के आस पास के खेतों को कम से कम हानि पहुँचाते हुए चौड़ा करने बढ़ाने या उनमें किसी और प्रकार के सुधार करने का अधिकार होगा।

(ङ) जनमार्गों पर झुकी हुई पेड़ों की शाखाओं को काट देने का अधिकार होगा।

(च) सार्वजनिक उपयोग में आने वाले किसी स्रोत (चश्मे) को केवल पानी पीने या खाना बनाने इत्यादि के काम के लिये सुरक्षित रखने की घोषणा करने तथा उसे नहाने, कपड़ा धोने, जानवरों को नहलाने या ऐसे दूसरे काम के

लिये उपयोग में लाने की मनाही कर देने, जिससे ऐसे सुर-क्षित रक्खे हुए स्रोत के गन्दा होने की आशंका हो, का अधि-कार होगा।

सफ़ाई सम्बन्धी अधिकार

सफाई सम्बन्धी सुधार के लिये किसी गांव-पंचायत को अधिकार होगा कि वह एक नोटिस द्वारा किसी भूमि या इमारत के मालिक या उस भूमि या इमारत पर कब्जा रखने वाले व्यक्ति को उसकी आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए और उसे यथोचित्त समय देकर, निम्नलिखित बातों को करने के लिये आदेश दे: –

(अ) किसी पाखाने, पेशाबखाने, नाबदान, नाली, या दूसरी गन्दगी का वर्तन, मोरी का गन्दा पानी, कूड़ा करकट या मैला जमा करने की जगह, जो ऐसी भूमि या इमारत से सम्बन्धित हो, बन्द करना, हटाना—उसमें परि-वर्तन करना, उसकी मरम्मत करना, उसकी सफाई करना, कीटाणु-नाशक दवाइयों द्वारा उसे शुद्ध करना या अच्छी दशा में रखना, या किसी ऐसे पाखाने, पेशाब खाने या नाब-दान को जो किसी सड़क या नाली पर खुलता हो, हटाना या उसके किसी दरवाजे को बदलना या उसके लिये नाला बनाना, या ऐसे पाखाने, पेशाबखाने या नाबदान को एक उपर्युक्त छत और दीवार या आड़ द्वारा राहगीरों या पड़ोस में रहने वालों की दृष्टि से छिपाये रखना।

(ब) किसी निजी कुएं, तालाब, हौज, पोखर, गढ़ा या खुदी हुई गहरी जगह की जो उस भूमि या इमारत में हो और जो गांव पंचायत की राय में स्वास्थ्य के लिये हानि

कारक हो या पड़ोस में रहने वालों के लिये नागवार हो, साफ करना, उसकी मरम्मत करना, उसे ढक देना, भरना, गहरा करना या उसमें से पानी निकालना।

(स) वहाँ से वनस्पति, पेड़ों के नीचे डालने वाली झाड़ियाँ नाग फनी या सब जंगल को साफ करदेना।

(द) वहाँ से धूल, गोवर, गलीज, खाद या किसी वदबूदार चीज को हटाना और भूमि या इमारत की सफाई करना।

अन्य सामान्य अधिकार

किसी गाँव पंचायत को अधिकार होगा कि वह: —

(क) अपने अधिकार-क्षेत्र के भीतर रहने वाले व्यक्तियों की भलाई के लिये कोई प्रार्थना-पत्र दे।

(ख) गाँव पंचायत के अधिकार-क्षेत्र के भीतर काम करने वाले सिंचाई विभाग के पतरौल पटवारी या मुखिया की नियुक्ति, वदली या वर्खास्तगी के लिये सिफारिश करे।

(ग) किसी गांव पंचायत के अधिकार-क्षेत्र के भीतर रहने वाले किसी व्यक्ति से अमीन, मजकूरी, टीका लगाने वाला, सिपाही, पटवारी, सिंचाई विभाग के पतरौल या किसी सरकारी विभाग के चपरासी के विरुद्ध सरकारी कर्त्तव्यों के पालन करने में, दुराचरण के बारे में शिकायत मिलने पर, ऐसी पंचायत का, यदि प्रकट रूप से प्रमाण हो, अधिकार होगा कि वह उस शिकायत को अपनी रिपोर्ट के साथ उपयुक्त अधिकारी के पास भेजदे। उस अधिकारी के लिये मान्य होगा कि वह ऐसी अतिरिक्त जाँच करने पर, जो करना आवश्यक हो, उपयुक्त

कार्यवाही करे और उसके नतीजे की सूचना गाँव-पंचायत को भेज दे।

(घ) किसी गाँव पंचायत के लिए मान्य होगा कि वह एक सेक्रेटरी नियुक्त करे और जिला बोर्ड के प्रेसीडेण्ट के पास उन कर्मचारियों के सम्बन्ध में, जो वह पूरे समय के लिए या कुछ समय के लिए रखना चाहती हो, वेतन या भत्ते यदि कोई हों, जो उनको दिये जायँगे और उनमें से प्रत्येक के कामों के सम्बन्ध में अपने प्रस्ताव भेजें। जिला बोर्ड के प्रेसिडेण्ट को अधिकार होगा कि वह नियत तरीके पर प्रस्तावों को स्वीकार करे, उनमें संशोधन करे या उन्हें अस्वीकार करें। गाँव पंचायत को अधिकार होगा कि तब प्रसीडेण्ट डिस्ट्रिक्ट बोर्ड द्वारा स्वीकृत योजना के अनुसार कर्मचारियों को नियुक्त करे।

(ङ) गाँव-पंचायत आकस्मिक आवश्यकता के समय नियत अधिकारी की स्वीकृत लिए बिना भी किसी कर्मचारी को ऐसी अवधि के लिए नियुक्त कर सकती है जो तीन महीने से अधिक न हो।

(च) गाँव पंचायत के किसी कर्मचारी को नियुक्त करने अलग करने या बरखास्त करने के अधिकार को पंचायत प्रयोग में लायगी, लेकिन दंड देने, अनुशासन सम्बन्धी कारवाई करने या तरक्की देने के अधिकार पंचायत के किसी ऐसे अधिकारी को दिये जा सकते हैं, जो नियत किया जाय। पर शर्त यह है कि ऐसे अफसर के हुक्म के विरुद्ध अपील नियत तरीके के अनुसार गाँव पंचायत के सामने हो सकेगी।

(छ) प्रान्तीय सरकार को ओर से तहसील वसूल के खर्च के रूप में ऐसी रकम दिये जाने पर, जो नियत की जाय;

ऐसे कोई टैक्स या महसूल को जो कायदे के अनुसार वाजिबुल अदा हो, वसूल करने के लिये प्रान्तीय सरकार से मुआहिदा करे। किसी मालिक या मालिकों की ओर से तहसील वसूल के खर्च के रूप में ऐसी रकम दिये जाने पर नियत की जाय उसकी या उनकी ओर से लगान वसूल करने के लिये सभी मालिकों या उनमें से किसी एक मालिक से मुआहिदा करे।

गाँव-कोष

प्रत्येक गाँव-सभा के अधिकार में एक गाँव-कोष होगा। जिससे गाँव पंचायत धारा १२ के अधीन पास किये गये बजट में दी हुई रकमों की पाबन्दी के साथ, इस ऐक्ट के अधीन अपने कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में होने वाले खर्चों को उठाने के लिये इस्तेमाल करेगी।

गाँव-कोष में निम्नलिखित रकमें जमा होंगी:—

(क) इस ऐक्ट के अधीन लगाये गये किसी टैक्स से वसूल की हुई रकमें।

(ख) ऐसी कुल रकमें जो प्रान्तीय सरकार ने गाँव-सभा के सिपुर्द कर दी हो।

(ग) बकाया, यदि कोई हो, जो ऐसी गाँव-पंचायत के खाते में जमा हो जो 'गाँव पंचायत ऐक्ट' के अधीन पहिले से बनी हो।

(घ) ऐसी सब रकमें जो किसी अदालत के हुक्म से गाँव-कोष में जमा की जायँ।

(ङ) गाँव पंचायत के कर्मचारियों द्वारा इकट्ठा किया हुआ कूड़ा करकट, घूर, गोबर तथा मरे हुए जानवरों की लाशें इत्यादि के बेचने से जो आमदनी हो।

(च) ऐसी रकमें जो गाँव-कोष के लिये कोई जिला बोर्ड या दूसरा स्थानीय अधिकारी दे।

(छ) वे सब रकमें जो ऋण या दान के रूप में प्राप्त हों।

(ज) ऐसी दूसरी रकमें जो प्रान्तीय सरकार के किसी साधारण या विशेष आज्ञा द्वारा गाँव-कोष के लिये दे दी जाय।

ग्राम-पंचायतों को गाँवों की उन्नति के लिये धन कहाँ से प्राप्त होगा ? ग्राम पंचायतें निम्नलिखित व्यक्तियोंपर टैक्स लगा सकती हैं :—

(१) गाँवों में तौलने वालों (जिन्हें बया कहते हैं) पर,

(२) गाँव में पल्लेदारों (बोरा ढोने वालों) पर;

(३) गाड़ीवानों पर;

(४) ऊँट, घोड़े और बैल लादने वालों पर;

(५) गाँव के व्यापारी वर्ग या अन्य पेशा करने वालों के ऊपर;

(६) किसानों पर एक आना प्रति रुपया की दर से मालगुजारी पर;

(७) जमींदारों पर अधिक से अधिक ६ पाई प्रति रुपया की दर से मालगुजारी पर;

(८) खुदकाश्त या सीर पर एक टैक्स लगाया जायगा।

(९) उन इमारतों पर भी जो ऐसे व्यक्तियों के स्वामित्व में हों जो ऊपर दिये हुए कोई टैक्स न देते हों, ग्राम पंचायत टैक्स लगा सकती है। इसकी दर सरकार नियत करेगी।

इसके अतिरिक्त गाँव पंचायत को गाँवों में शुभ कार्यों पर दान या चन्दा की रकम वसूल करने का भी अधिकार होगा।

अपने अधिकार-क्षेत्र में लगने वाले मेलों, बाजारों या हाटों मे भी आय प्राप्त करने का अधिकार ग्राम-पंचायत को होगा। अन्त में पंचायती अदालतों में कानूनी कारवाई के सिलसिले में प्राप्त कोर्ट फीस या जुर्माने को प्रान्तीय सरकार गाँव सभाओं में बराबर अनुपात से बाँट देगी।

पंचायती अदालत

इसकी सीमा

यह पहले बताया जा चुका है कि पंचायती अदालत का निर्माण इसे लेकर ५ गाँव सभाओं को मिलाकर होगा। जितनी गाँव सभायें पंचायती अदालत में अपना प्रतिनिधि भेजेंगी उतनी सीमा तक पंचायती अदालत का क्षेत्र माना जायगा।

यह कैसे बनेगी ?

प्रत्येक गाँव सभा ५ सदस्य चुनकर पंचायती अदालत में भेजेगी। इसके सदस्यों की संख्या १५ से लेकर २५ तक होगी। यदि तीन गाँव-सभाओं को मिलाकर पंचायती अदालत बनेगी तो उसके सदस्यों की संख्या १५, यदि ४ गाँव सभाओं को मिलाकर पंचायती अदालत बनेगी तो उसके सदस्यों की संख्या २० और यदि किसी पंचायती अदालत के क्षेत्र में ५ गाँव-सभायें हुईं तो उसके सदस्यों की संख्या ५ होगी।

सरपंच

पंचायत अदालत के सभी सदस्य मिलकर एक सरपंच या सभापति चुनेंगे। यही सरपंच या सभापति चुनेंगे। यही सरपंच या सभापति पंचायती अदालत का विशेष जिम्मेदार व्यक्ति होगा।

कार्य करने की अवधि

पंचायती अदालत में जो सदस्य या पंच एक बार चुन लिये जायेंगे वे चुनाव की तारीख से ३ वर्ष तक उस पंचायती अदालत के पंच अथवा सदस्य रहेंगे।

शपथ

पंचायती अदालत में पंच या सदस्य चुने जाने के पश्चात् प्रथम बैठक में सभी सदस्य न्यायपूर्वक और सच्चाई तथा ईमानदारी के साथ देश भक्ति का कार्य करने की शपथ लेंगे।

पञ्च मण्डल या पञ्चायत

सरपंच या सभापति प्रत्येक मुकदमे, नालिस या कारवाई के लिए पंच मण्डल या पंचायत नियुक्त करेगा। इस पंच मण्डल में पाँच पंच या सदस्य रहेंगे। इनको वेञ्च कहते हैं। इन वेञ्चों में एक ऐसा पंच या सदस्य होना चाहिए। जो शहादतों और कारवाइयों को लिखने का योग्यता रखता हो।

प्रत्येक वेञ्च में अपराधी और दावादायर करने वाले गाँव का एक सदस्य होना अत्यन्त आवश्यक है।

कोई पंच, सरपंच अथवा सदस्य किसी ऐसे मामले में सदस्य नहीं हो सकता जिसमें वह या उसका कोई सम्बन्धी या नौकर अपराधी हो या दावेदार हो।

प्रान्तीय सरकार ऐसी वेञ्चों का विधान भी बनाकर भेज सकती है।

किसी सदस्य के हट जाने पर रिक्त स्थान की पूर्ति किस प्रकार होगी ? पंचायत अदालत के किसी सदस्य का

अन्य मामले

बहुत से फौजदारी के मामले पंचायत अदालत में भेजे जा सकते हैं। जिनको ऊपरी अधिकारी कानून के अन्तर्गत समझेंगे।

इस्तगासा अथवा दावा को पंचायत अदालत यदि गवाहों के बयान के बाद झूठ समझे तो खारिज कर देगी।

जो मामले पंचायत अदालत के अधिकार के बाहर हैं वह उनकी सुनवाई नहीं कर सकती।

मुआवजा

पंचायती अदालत अपने फैसले में उस रकम को मुआवजा के रूप में मुदई अथवा मुदालह को दिला सकती है जिसे उसने उस मुकदमे के जुर्माने के रूप में प्राप्त किया है।

पंचायती अदालत मजिस्ट्रेटों के द्वारा भेजे हुए मामलों की जाँच कर सकती है।

पंचायती अदालत निम्नलिखित प्रकार के नालिशों की सुनवाई नहीं कर सकती है:—

(१) सम्मिलित जायदाद सम्बन्धी।

(२) बयनामा, हिब्बानामा, वसीयतनामा सम्बन्धी।

(३) सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध।

(४) नाबालिग (अल्पवयस्क) की।

(५) माल के बड़े मुकदमे सन् १९३९ के कानून के।

(६) किसान—मजदूरों के झगड़े ऐक्ट सन् १६३६ की धारा २८ के अनुसार ।

मियाद

कोई नालिश नियत समय के बाद करने पर खारिज की जा सकती है ।

फैसले का प्रभाव

जिन व्यक्तियों अथवा अपराधी के विरुद्ध पंचायती अदालत निर्णय देगी उसका निर्णय उसी तक सीमित होगा ।

गाँव पंचायत या उनके अफसरों के विरुद्ध नालिशें

पंचायती अदालत के निर्णय के विरुद्ध कोई भी अपील सरकार द्वारा नियत अधिकारी के पास की जायगी । ऐसा अफसर जिला मजिस्ट्रेट ही माना गया है । किन्तु वह अपना अधिकार परगना हाकिम या तहसीलदार को दे सकता है ।

यह है हमारे संयुक्त प्रान्त की सरकार द्वारा निर्मित पंचायत राज्य ऐक्ट की संक्षिप्त रूपरेखा । इस ऐक्ट को बनाकर तथा उसे कार्यान्वित करनेके लिये समुचित प्रबन्ध कर के हमारी प्रान्तीय सरकार ने अपनी ग्रामनिष्ठा का सर्वोत्तम परिचय दिया है । इससे प्रान्त के ग्रामों की दशा में महत्वपूर्ण सुधार की सम्भावना निश्चित सी हो जाती है । ग्रामवासियों को स्थानीय शासन के अधिकार तो प्राप्त होंगे ही । इसके साथ साथ उनके छोटे मोटे दैनिक जीवन के झगड़े, जिनका निर्णय अदालतों में कराने में

उनका लाखों रुपया प्रतिवर्ष व्यर्थ में नष्ट हो जाता था, सुगमता से तय हो जाया करेंगे और इससे उनकी आर्थिक दशा में यथेष्ट परिवर्तन होता दिखाई पड़ने लगेगा। वास्तव में हमारी प्रान्तीय काँग्रेसी सरकार ने इस कानून के निर्माण द्वारा प्रान्त की निरीह ग्रामीण जनता के हित के लिये एक ठोस कार्य कर दिखाया है। भगवान करें कि यह कानून सुचारु रूप से कार्यान्वित हो और हमारे गाँवों की दशा शीघ्र प्रशस्त दिशा में परिवर्तित होती दिखाई पड़े।

तीसवाँ अध्याय

सरकारी कृषि-विभाग

कृषि हमारे देश का मुख्य धन्धा है। फिर भी इसकी दशा अच्छी नहीं है। इसके प्रमुख कारणों में से एक मुख्य कारण अभी हाल तक देश का गुलाम रहना और विदेशी सरकार का उदासीनता रही है। अँग्रेजी शासन के स्थापित हो जाने के बहुत वर्षों बाद तक सरकार केवल लगान-मालगुजारी वसूल करने में ही अपनी सारी दिलचस्पी समाप्त कर देती रही। सरकार कृषि की उन्नति की ओर से सर्वथा उदासीन बनी रही। इसका परिणाम यह हुआ कि कृषि की दशा उत्तरोत्तर खराब होती गई। सरकार को विवश होकर इधर ध्यान देना ही पड़ा। और कृषि विभागों की स्थापना का श्री गणेश हुआ।

सर्वप्रथम सन् १८६६ ई० में दुर्भिक्ष कमीशन (famine commission) ने एक पृथक सरकारी कृषि विभाग (department of Agriculture) की स्थापना का प्रस्ताव रक्खा था। लेकिन कोई विशेष परिणाम नहीं निकला। केवल कृषि सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के आँकड़ों के एकत्रित करने, जिससे दुर्भिक्ष या अकाल की समस्याओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सके, तक ही सरकार के प्रयत्न सीमित रहे। सन् १८८० के दुर्भिक्ष कमीशन (famine commission) ने कृषि-की उन्नति की सम्भावनाओं के अपने शानदार स्पष्टीकरण और उल्लेख द्वारा सरकार की दिलचस्पी उत्पन्न करने का प्रयत्न

किया। इसने भारत सरकार में कृषि और तत्सम्बन्धी विषयों के लिए एक नये विभाग की स्थापना तथा प्रान्तों में कृषि विभागों की स्थापना पर विशेष जोर दिया और उसका कुछ परिणाम भी निकला। आरम्भ में प्रान्तीय कृषि विभागों का कार्य कृषि सम्बन्धी आँकड़ों को इकट्ठा करने तक ही सीमित रहा किन्तु बाद में प्रयोगिक फार्मों (experimental farms) के खोलने का भी कार्य होने लगा। सन् १८८० ई० में पूना में एक सरकारी फार्म की नींव पड़ी। सन् १८८१ ई० में हमारे प्रान्त के प्रमुख औद्योगिक केन्द्र कानपूर में भी एक फार्म खुला। नागपुर में सन् १८८३ ई० में एक फार्म स्थापित किया गया। कृषि की उन्नति के लिये इधर-उधर के बहुत से छिट-फुट प्रयत्न हुए किन्तु कृषि की उन्नति के कार्यों की वास्तविक शुरुआत कृषि के विशेषज्ञों की नियुक्ति के साथ ही समझी जानी चाहिये। सन् १९०१ में प्रथम इन्सपेक्टर जनरल ऑफ एग्रिकल्चर (inspector general of Agriculture) की नियुक्ति हुई और उसी साल समस्त देश के लिये एक माइकोलाजिस्ट (mycologist) की भी नियुक्ति हुई। सन् १९०३ में एक इम्पीरियल एन्टोमोलोजिस्ट (imperial entomalogist) की नियुक्ति हुई।

किन्तु वर्तमान कृषि विभागों के जनक वास्तव में लार्ड-कर्जन ही थे। उन्हीं की दूरदर्शिता और प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप कृषि विभागों का पुनस्संगठन हुआ। कृषि-विभागों को उनके अनावश्यक कार्यों से मुक्त कर दिया गया। कृषि-सम्बन्धी प्रयोग (experiments), अनुसन्धान (research), प्रदर्शन (demonstration) और शिक्षा (education) पर ही उनका मुख्य ध्यान केन्द्रित करने का प्रयत्न हुआ। इस

पुनस्संगठन की योजना के निम्नलिखित मुख्य पहलू थे :—
(१) पूसा में एक केन्द्रीय अनुसन्धानशाला (central Research institute) की स्थापना।

(२) प्रान्तीय कृषि विभागों को पूर्णतया योग्य कर्मचारियों से सम्पन्न बनाना।

(३) प्रान्तीय कृषि कालेजों की स्थापना।

(४) प्रान्तीय अनुसन्धान-शालाओं (provincial research institutes) की स्थापना।

(५) कृषि के प्रत्येक महत्वपूर्ण क्षेत्र में एक प्रयोगिक फार्म (experimental farm) का खोलना।

सन् १६०६ ई० में भारतीय कृषि सर्विस (indian agricultural service) की नींव पड़ी। उस समय से निरन्तर प्रगति होती रही यद्यपि इसकी गति धीमी रही है। सन् १९१९ ई० के मॉटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के बाद कृषि एक प्रान्तीय हस्तान्तरित विषय (provincial transferred subjects) हो गया अर्थात् भारतीय प्रान्तीय मन्त्रियों के हाथ में आ गया। किन्तु केन्द्रीय अनुसन्धान संस्थाओं का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार के हाथ में ही बना रहा। इसके अतिरिक्त पौधों और पशुओं की बीमारियों और रोगों की जिम्मेदारी भी केन्द्रीय सरकार के ही हाथ में बनी रही। केन्द्रीय कृषि-विभाग इस समय से प्रान्तीय कृषि-विभागों के कार्यों में अधिक हस्ताक्षेप नहीं करता। उसका सम्बन्ध अब केवल उन्हीं कृषि-समस्याओं से होता है जो अखिल भारतवर्षीय महत्व की होती हैं। निम्नलिखित संस्थाओं का संचालन केन्द्रीय सरकार द्वारा होता है:—(१) एग्रिकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूसा (Agricultural research institute, pusa);

(२) इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट आफ वेटेरिनरी रिसर्च, गढ़मुक्तेश्वर (Imperial institute of veterinary research, garh-mukteswar)

(३) इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट ऑफ एनिमल हस्बेंडरी एण्ड डेयरिंग (Imperial institute of Animal Husbandry and Dairying), बंगलोर और वैलिंगटन।

प्रान्तीय कृषि-विभाग

हमारे संयुक्त प्रान्त के सर्वप्रथम कृषि-विभाग की स्थापना सन् १८७५ ई० में हुई। उस समय सर जान स्टैचे प्रान्त के गवर्नर थे। इन्होंने कृषि और व्यापार संचालक (Director of Agriculture and Commerce) की नियुक्ति के लिये प्रयत्न किया और उसमें सफल भी रहे। उन्हें कृषि और व्यापार संचालक की नियुक्ति की आज्ञा प्राप्त हो गई। कृषि संचालक को निम्नलिखित कार्य सुपुर्द किये गये हैं:—

(१) प्रान्त के किसानों को नये ढंग से खेती करने के लाभों को समझाना।

(२) किसानों को अधिक लाभ पहुँचाने वाली फसलों की उन्नति के लिये प्रयोग करना।

(३) किसानों की आर्थिक दशा सुधारने के लिये आवश्यक अन्य छोटे-मोटे उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में प्रयोग करना। इसके अनुसार कार्य भी आरम्भ हुआ। आरम्भ में विशेष कर रेशम के कीड़े को पालने और रेशम उत्पन्न करने के धन्धों सन तथा तम्बाकू के धन्धों की ओर अधिक ध्यान दिया गया। रेशम के कीड़े का एक फार्म देहरादून में खोला गया, तम्बाकू का फार्म गाजीपुर में खोला गया। फलों की उन्नति के

लिए एक फलों का फार्म प्रान्त के कमायूँ जिले की पहाड़ियों पर खोला गया। रेशम और तम्बाकू के फार्मों में सफलता नहीं मिलती। वे एक तरह से असफल ही रहे। किन्तु कमायूँ जिलेका फलों का फार्म बहुत ही सफल रहा। इस फार्म की सेवाओं के ही कारण प्रान्त भर में आलू और फलों की सन्तोष-जनक उन्नति हुई है।

अन्य प्रकार के कार्य जो हमारे प्रान्त का कृषि विभाग करता चला आरहा है, निम्नलिखित हैं:—

(१) बंजर या ऊसर भूमि को कृषि के योग्य बनाने का कार्य;

(२) कृषि के लिये आवश्यक पशुओं की नस्ल के सुधार का काम;

(३) सड़कों के दोनों ओर वृक्षों को लगवाना;

(४) पुराने कुओं को अच्छी दशा में रखने तथा नए कुओं की खुदाई का काम;

(५) कृषि सम्बन्धी प्रयोग और अनुसन्धान का कार्य;

(६) नये तरीकों और औजारों के प्रयोग के लिए जनता में प्रचार करना;

(७) उत्तम प्रकार की खाद के प्रयोग को प्रोत्साहित करना;

(८) उत्तम कोटि के बीजों को तैयार करना और ग्रामीण जनता तक उनको पहुँचाना; और

(९) सरकारी फार्मों को चलाना, वहाँ पर या किसानों के खेतों पर प्रदर्शन (demonstration) करना। हमारा प्रान्तीय कृषि-विभाग तीन प्रकार के फार्म रखता है। विशेषज्ञों द्वारा अनुसन्धान की हुई बातों के प्रयोग करने के लिये एक

प्रकार के फार्म होते हैं जिन पर केवल यही काम होता है। दूसरे प्रकार के फार्म वे होते हैं जिनके चलाने का मुख्य उद्देश्य अच्छा बीज अधिक परिमाण में उत्पन्न करके किसानों तक पहुँचाना होता है। तीसरे प्रकार के फार्म खेती के उत्तम ढंगों या तरीकों के प्रदर्शनार्थ या प्रचारार्थ चलाए जाते हैं। दूसरे प्रकार के फार्मों की ओर हमारे प्रान्त में विशेष ध्यान दिया गया है जिसके फलस्वरूप गेहूँ, गन्ना, कपास तथा अन्य फसलों के अच्छे बीज तैयार करने में कृषि विभाग को बहुत सफलता मिली है। बीज की बिक्री किसानों में करने के लिये कृषि-विभाग की ओर से देहातों में बहुत से बीज भण्डार (seed depot) खुले हैं। भिन्न प्रकार की सहकारी समितियों द्वारा भी कृषि-विभाग किसानों को अच्छा बीज बेचता है।

(१०) कृषि-विभाग खेती सम्बन्धी प्रदर्शनियों का संगठन भी करता है। इन प्रदर्शनियों में दर्शकों को बहुत से लाभ की वस्तुएँ दिखाई जाती हैं और उनके उपयोग के सम्बन्ध में अन्य आवश्यक बातें भी बताई जाती हैं।

कृषि विभाग का संगठन

इस विभाग का प्रधान अधिकारी कृषि संचालक (Director of agriculture) होता है जिसकी सामान्य निगरानी और नियन्त्रण में इस विभाग का सब कार्य होता है। कृषि-शिक्षा के हेतु कानपुर में एक कृषि कालेज है जहाँ कृषि सम्बन्धी उच्च शिक्षा के साथ साथ अनुसन्धान का कार्य भी होता है। इसी कालेज के विशेषज्ञ अध्यापकों के ऊपर बीज, खाद, फसलों के कीड़े इत्यादि

सम्बन्धी अनुसन्धान कार्य का भार होता है। कृषि सम्बन्धी साधारण शिक्षा के लिये बुलन्दशहर, गोरखपुर इत्यादि स्थानों में कृषि स्कूल भी खोले गए हैं।

समस्त प्रान्त कतिपय सर्किलों (circles) में बँटा हुआ है। प्रत्येक सर्किल का प्रधान अधिकारी डिप्टी डायरेक्टर ऑफ एग्रिकल्चर (Deputy Director of Agriculture) कहलाता है।

अपनी सर्किल में कृषि-विभाग द्वारा सम्पादित होने वाले सब कार्यों का भार उसके ऊपर होता है। उसके कार्य में सहायता देने के लिये इंसपेक्टर और फील्डमैन होते हैं।

कृषि विभाग के कार्यों पर आलोचनात्मक दृष्टि

कृषि-विभाग ने हमारे प्रान्त में और अन्य प्रान्तों में भी कुछ सुधार किया है। इसमें मतभेद के लिए कोई स्थान नहीं है। किन्तु यह भी निर्विवाद सत्य है कि जो कुछ कार्य हुआ है उसकी मात्रा बहुत ही सीमित है। कृषि देश का मुख्य धन्धा है। यहाँ की तीन चौथाई जनता इसी पर आश्रित है। खेती की दशा बहुत गिरी हुई है। विभिन्न प्रकार की समस्याओं जिनका वर्णन खेती के अध्याय और अन्य स्थानों पर किया जा चुका है, का समाधान करना है। इन समस्याओं का केवल स्पर्शमात्र किया गया है। कुछ स्थानों में उत्तम बीज के गोदामों की स्थापना हुई है। किन्तु अधिकांश किसान अभी इस सुविधा से वंचित ही हैं। कृषि सम्बन्धी शिक्षा का भी व्यापक प्रबन्ध नहीं हो पाया है। विभिन्न प्रकार के आधुनिक कृषि के औजारों का प्रचार

भी बहुत ही सीमित हद तक हो पाया है। जितना कार्य हुआ है वह ठीक है। किन्तु प्रान्त और देश की इस सम्बन्ध में आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए वह बिल्कुल अपर्याप्त है। हमारे प्रान्तीय कृषि विभाग बहुत मन्द गति से आगे बढ़े हैं। स्थिति का सम्यक सामना करने के लिये उन्हें तीव्र से तीव्र गति से चलने की आवश्यकता है।

धीमी गति के अतिरिक्त एक बात और है। एक साधारण शिकायत कृषि-विभाग के कार्यों के सम्बन्ध में यह है कि वह (कृषि-विभाग) केवल उन्हीं पदार्थों की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहता है जिनका निर्यात विदेशों को होता है। विदेशी सरकार की स्थिति में तो यह बिल्कुल स्वाभाविक था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद आशा है हमारी राष्ट्रीय सरकारें इस आक्षेप को मिटा देने की कोशिश करेंगी और सब प्रकार के कृषिजन्य पदार्थों की उन्नति की ओर यथेष्ट ध्यान देंगी।

अन्तिम बात इस सम्बन्ध में यह है कि हमारे प्रान्तीय कृषि विभागों ने फसलों के विभिन्न प्रकार के रोगों को दूर करने तथा उनके सम्बन्ध में अनुसन्धान करने का प्रयत्न किया है और कुछ लाभ भी हुआ है। किन्तु इस दिशा में भी बहुत कुछ करने को बाकी है। इन विभागों को कृषि रसायन-शास्त्र (agricultural chemistry) और कृषि-रोगों पर और अधिक अनुसन्धान और अन्वेषण करने की कड़ी आवश्यकता है। सारांश यह है कि कृषि-विभाग अपनी कूर्म-गति को छोड़ दे और प्रत्येक दिशा में महत्वपूर्ण सुधार करने के लिये तीव्र गति से चले। कृषि की विभिन्न समस्याओं को आयोजित ढंग पर हल करने के लिये बहुत लम्बे-लम्बे कदम उठाने होंगे।

कृषि-विभागों की धीमी गति के कारण

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि कृषि-विभागों ने जो कुछ सेवाएँ देश की की हैं उनका महत्व तो है ही किन्तु आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उनकी सफलता आंशिक और बहुत ही सीमित है। उनको पर्याप्त सफलता क्यों नहीं मिली है ! निम्नलिखित मुख्य कारण हैं:—

(१) देश का अभी हाल तक गुलाम या परतंत्र रहना भी इसका एक प्रमुख कारण है। विदेशी सरकार को हमारी किसी भी समस्या को समुचित ढंग से सुलझाने की कोई विशेष वास्तविक चिन्ता न थी। प्रत्येक प्रकार के सुधार का कार्य उदासीनता के साथ ही सम्पादित होता था। जब तक कोई सरकार जनता की हित-वृद्धि का उद्देश्य निरन्तर अपने सामने नहीं रखती और उसी उद्देश्य की दृष्टि में प्रत्येक निर्णय नहीं करती तब तक पर्याप्त सुधार किसी भी दिशा में सम्भव नहीं हो सकता। विदेशी सरकार हृदय से देश की उन्नति तो चाहती नहीं थी। अतः उसके सभी सुधार-विषयक प्रयत्नों में जोश और उत्साह का अभाव होता था। यही दशा उसके विभिन्न विभागों द्वारा सम्पादित सुधार-सम्बन्धी कार्यों की थी। कृषि विभाग के भी प्रयत्न अधिकतर उत्साहरहित ही होते थे। सरकार केवल दिखाना चाहती थी कि वह विभिन्न समस्याओं का समाधान करने के लिये व्याकुल है। विभागीय कर्मचारी भी इस बात को अच्छी तरह समझते थे और वैसा ही करते थे। ऐसी अवस्था में पर्याप्त सुधार तीव्र गति से कैसे सम्भव हो सकता था।

(२) धन की कमी भी एक प्रमुख कारण है। पर्याप्त मात्रा में आवश्यक सुधार करने के लिये कृषि-विभागों के पास पर्याप्त धन भी तो नहीं होता था। सरकारी आय का केवल १% भाग देश के प्रधान उद्योग कृषि पर व्यय किया जाता था। जिस धन्धे पर जन-संख्या का लगभग तीन चौथाई भाग आश्रित हो उसके सुधार के लिये सरकारी आय का यह नगण्य भाग व्यय किया जाय तो पर्याप्त सुधार तीव्र-गति से कैसे सम्भव हो सकता है? इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखने योग्य बात है कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, जहाँ की जन-संख्या हमारे देश की जन-संख्या का तिहाई भाग है तथा जहाँ आबादी का केवल ३०% भाग कृषि पर निर्भर है, कृषि पर हमारे देश की तुलना में ११ गुना अधिक व्यय करता है। कृषि विभागों को समुचित सुधार कर दिखाने योग्य बनाने के लिये उनके हाथ में अधिक से अधिक धन देना होगा। आशा है अब हमारी राष्ट्रीय सरकारें ब्रिटिश शासन की इस त्रुटि को दूर कर दिखाने में शीघ्र सफल हो सकेंगी।

(३) तीसरा प्रमुख कारण कृषि विभाग के कर्मचारियों का आपत्तिजनक व्यवहार ग्रामीण जनता के साथ है। ये कर्मचारी अपने को सरकार के नौकर समझते थे और हैं और ग्रामीण जनता जिनकी दशा सुधारने का भार उनके ऊपर रक्खा गया है, से अपने को पृथक् और बहुत ऊँचा समझते थे और हैं। उन्हें किसानों की दयनीय स्थिति से कोई वास्तविक क्रियात्मक सहानुभूति नहीं होती। ये उनसे इस प्रकार व्यवहार करते हैं मानों वे इनके तावेदार हैं। कर्मचारियों के इस प्रकार के भाव के कारण उन्हें जनता का सहयोग पर्याप्त मात्रा में नहीं प्राप्त होता। अतः फलस्वरूप उनके

प्रयत्नों का पर्याप्त मात्रा में सफल होना असम्भव होता है। आवश्यकता इस बात की है कि कृषि-विभाग में ऐसे कर्मचारियों की नियुक्ति हों जिन्हें ग्रामीण जनता और उनकी दयनीय स्थिति से सच्ची सहानुभूति हो और जो अपने को उसका सेवक समझें न कि शासक। यह तो अपनी राष्ट्रीय सरकार ही कर सकती है। सौभाग्यवश वह सरकार भी देश को प्राप्त हो गई है। अतः स्थिति के शीघ्र बदलने की आशा की जा सकती है।

अन्त में हमें अपने किसानों के अन्धविश्वास को भी मानना ही पड़ेगा जिसके कारण वे पुराने ढंग और तरीकों को शीघ्रता से छोड़ना नहीं पसन्द करते। तथ्य बताई हुई बात से समुचित लाभ नहीं उठा पाते। इन सब कारणों का संयुक्त परिणाम यह हुआ है कि हमारे कृषि विभाग सन्तोषजनक सुधार पर्याप्त मात्रा में कर दिखाने में असफल रहे हैं।

इकतीसवाँ अध्याय

सहकारिता (Co-operation)

इसका अर्थ और महत्व

प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक एच० जी० वेल्स (H. G. Wells) का कहना था कि आज्ञापालन और सहकारिता की प्रवृत्तियाँ मनुष्य की प्रकृति और बनावट की मुख्य विशेषताओं में से हैं। यह कथन बिलकुल ठीक है। बिना सहकारिता के मानव-जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। सहकारिता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान है। वास्तव में यह मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति की स्थूल अभिव्यक्ति है। कौटुम्बिक जीवन का सुख बिना पारस्परिक सहकारिता और सहायता के असम्भव है। राज्य में शासक और शासित के सहयोग के बिना उन्नति नहीं हो सकती। शासक वर्ग और शासित वर्ग में सहयोग तो अनिवार्य ही है इसके साथ साथ विभिन्न सरकारी विभागों को पारस्परिक सहयोग से काम करने की भी आवश्यकता होती है अन्यथा पर्याप्त और समुचित लाभ नहीं हो सकता। उत्तम सफलता प्राप्त करने के लिये कार्य को विभिन्न भागों में बाँट कर भिन्न भिन्न व्यक्तियों या उनके समुदायों को सौंप देना आवश्यक होता है। किन्तु इससे भी अधिक आवश्यक विभिन्न विभागों के कर्मचारियों में मेल और सहयोग होता है। एक के सहयोग के बिना दूसरे का काम सुचारुरूप से नहीं चल सकता। व्यावसायिक और

औद्योगिक उन्नति के लिये पूँजीपतियों और श्रमिकों में सहयोग की तीव्र आवश्यकता होती है। विद्या-प्राप्ति और बौद्धिक उन्नति के लिये गुरु और शिष्य में सहयोग की जरूरत होती है। वास्तव में मनुष्य एक 'सहयोगी जानवर' (co-operative animal) है। मानव जीवन-रूपी इमारत सहकारिता के ही आधार पर खड़ी होती है।

मानव-जीवन में दो प्रवृत्तियाँ सदैव क्रियाशील होती हैं— व्यक्तिवादी और समाजवादी। व्यक्तिवादी प्रवृत्ति व्यक्ति को अपनी महत्ता और विशेषता को आगे रखने के लिये प्रेरित करती है तथा उसे स्वार्थ-सिद्धि के मार्ग की ओर ढकेलती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रतियोगी से आगे बढ़ने की कोशिश करता है। यदि उचित उपायों के द्वारा प्रत्येक आदमी अपने प्रतिस्पर्द्धी साथी से आगे बढ़ने के लिये प्रयत्नशील रहे तब तो इससे अच्छी बात हो ही नहीं सकती। समाज की उन्नति के लिये सबसे उत्तम मार्ग यही है। किन्तु मनुष्य का स्वार्थ उस पर इतना अधिक हावी हो जाता है कि अपनी स्वार्थ-सिद्धि में उसे अपनाये गये साधनों के औचित्य और अनौचित्य का ध्यान नहीं रह जाता। वह जिस किसी प्रकार से हो अपना मनोरथ सिद्ध कर लेना चाहता है। इस प्रकार अमानुषिक स्पर्द्धा जन्म लेती है जिसका विषैला प्रभाव समाज और उसकी छोटी-बड़ी इकाइयों के ऊपर पड़ता है। इसी विकृत स्पर्धा के कारण मानव समाज में आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक असमानता और अन्याय का भयंकर रोग फैल जाता है। जीवन कलहमय हो उठता है। सुख-शान्ति लुप्त होने लगती है।

व्यक्तिवादी प्रवृत्ति की ठीक विरोधी प्रवृत्ति समाजवादी

कहलाती है। इसके अनुसार व्यक्ति स्वयं कुछ नहीं; जो कुछ है समाज। समाज के आगे व्यक्ति का कोई महत्व नहीं। व्यक्ति को समाज के हित के अनुकूल अपने को बनाना होगा। समाजवादी प्रवृत्ति व्यक्ति के वैयक्तिक प्रयत्न और जोखिम या साहस के भाव को कुचल देती है; व्यक्ति को राज्य की बलिवेदी पर चढ़ा देती है; सबको एक साधारण सतह पर लाती है। सहकारिता जैसा कि रोमन रोलाँ ने अपने ग्रन्थ 'जान क्रिस्टोफर' में लिखा है। एक दो धारवाली कुल्हाड़ी है जो एक ही साथ समाजवादी राष्ट्र के मृत भावों और व्यक्ति-वाद के बंजरपन का नाश करती है। केवल सहकारिता ही वैयक्तिक स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय समाजवाद में समझौते का माध्यम हो सकती है। सहकारिता ही वैयक्तिक प्रयत्न के साथ सामाजिक सुख को जोड़ सकती है। सहकारिता का तात्विक सिद्धान्त यह है कि 'एकता का मेल ही शक्ति है।' और यह मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू है। इस सत्य का प्रयोग आर्थिक क्षेत्र में सहकारिता में पाया जाता है जो केवल सब की एकता, हर एक के लाभ के लिये है। "प्रत्येक सब के लिये और सब प्रत्येक के लिये" यही इसका पथप्रदर्शक सिद्धान्त है।

सहकारिता की नींव प्रेम और त्याग की ठोस विशेषताओं से बनी होती है। यह विरोधी भौतिक स्वार्थों में समझौता कराती है और उनको भौतिक सतह से आध्यात्मिक सतह तक उठाती है। लेकिन इसके केवल भौतिक सतह तक सीमित रहने पर पुनः विरोधी स्वार्थों में संघर्ष उठ खड़ा होता है। सहकारिता का केवल आध्यात्मिक तत्त्व इसे गिरोह या दल, रंग या जाति के ऊपर उठाता है और इसे अजरामर बनता है।

सहकारिता का अर्थशास्त्रीय अर्थ

साधारणतया यदि कुछ व्यक्ति किसी लक्ष्य विशेष की सिद्धि के लिये आपस में मिलकर प्रयत्न करते हैं तो हम कह सकते हैं कि उन्होंने 'सहकारिता' को अपनाया है। यदि इस पर विचार किया जाय तो कतिपय बातें निश्चित हो जाती हैं। सहकारिता के लिये एक से अधिक अर्थात कम से कम दो व्यक्तियों को मिलकर प्रयत्न करना आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि सम्मिलित होने वाले सब व्यक्तियों का स्वार्थ उस कार्य में होता है। कोई व्यक्ति अपने निजी कार्य में दूसरों की सहायता ले सकता है और लेता है किन्तु इसे सहकारिता नहीं कहेंगे। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी ऐसे उद्देश्य से जिसका सम्बन्ध सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों में से प्रत्येक से होता है मिलकर उस उद्देश्य की सिद्धि का प्रयत्न करते हैं तब यह कहा जाता है कि यह कार्य सहकारिता के आधार पर हुआ है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। उदाहरणार्थ मान लीजिए कुछ लोग मिलकर धन कमाना चाहते हैं। वे इसके लिये मिलकर चोरी करते या डाका डालते हैं। और इस प्रकार प्राप्त धन आपस में बाँट लेते हैं। उनका इस प्रकार का कार्य सहकारिता का उदाहरण है या नहीं ? ऊपर जो कुछ बताया गया है उसके अनुसार उनका चोरी करने या डाका डालने का काम सहकारिता के ही आधार पर सम्पादित हुआ समझा जाना चाहिए। किन्तु अर्थ-शास्त्र में इस प्रकार के कार्य को सहकारिता नहीं कहते। एक अर्थशास्त्री, उसी प्रकार के कार्य को सहकारिता कहता है। जिसमें सम्मिलित होने वाले व्यक्ति

न्यायोचित और कानूनी (legal) ढंग से कार्य करते हैं। आर्थिक दृष्टि कोण से सहकारिता का अर्थ होता है उत्पत्ति और वितरण में स्पर्धा का त्याग और प्रत्येक प्रकार के मध्यवर्ती व्यक्तियों (middleman) का अन्त करना।

मिश्रित पूँजी की कम्पनियों (jointstock companies) तथा एकाकी उत्पादन द्वारा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की अवस्था में श्रमिकों पर कभी कभी बहुत सख्ती होती है, उनकी मजदूरी घटाई जाती है, उनकी विविध शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जाता। इसके अतिरिक्त छोटे छोटे उत्पादकों में भी अमानुषिक प्रतियोगिता चलती रहती है। उपभोक्ताओं से अधिक कीमत ली जाती है; ऋण लेने वालों से भारी सूद वसूल किया जाता है। इन विविध वर्गों के मनुष्यों ने अपनी रक्षा का उपाय यह सोचा है कि मिल कर काम करें और सहकारिता द्वारा शक्तिशाली बनें, जिससे कोई उन पर अत्याचार या ज्यादती न कर सके। आजकल के स्पर्धा के युग में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करता है। असहाय भारतीय किसान और मजदूर को बहुत सी ज्यादतियाँ सहनी पड़ती हैं। क्यों? क्योंकि उन्हें अपने से बहुत अधिक सम्पन्न व्यक्तियों (जमींदारों, महाजनों इत्यादि) का सामना करना पड़ता है जो उनकी आर्थिक विवशता का अनुचित लाभ उठाते हैं। गाँव का दूकानदार उनसे मनमानी दाम इसीलिए तो वसूल करता है कि उसे यह भली भाँति मालूम होता है कि वे उसके यहाँ से खरीदेंगे नहीं तो जायेंगे कहाँ। इसी प्रकार महाजन भी यह समझता है कि उनको उसके यहाँ से रुपया उधार लेना ही पड़ेगा। अतएव वह सूद की बहुत ऊँची दर निश्चित करता है। अतः इन असुविधाओं को

दूर करने के लिये बहुत से लोग यदि मिल कर एक साथ करें तो उन्हें समुचित लाभ होगा। अतः सहकारिता की निम्न लिखित परिभाषा दी जा सकती है:—**अर्थशास्त्र में सहकारिता से बोध कुछ व्यक्तियों के ऐच्छिक संगठन से होता है जो अपने किसी आर्थिक उद्देश्य की सिद्धि के लिये मिलकर प्रयत्न करते हैं।**

सहकारिता के भेद

सहकारिता द्वारा सम्पन्न होने वाले विभिन्न कार्यों की दृष्टि से उसके कई भेद हो सकते हैं। अर्थशास्त्र में उसके तीन मुख्य भेद हैं:—

(१) उत्पादकों की सहकारिता या सहकारी उत्पादन।

(२) उपभोक्ताओं की सहकारिता या सहकारी क्रय। इसे वितरण-मूलक सहकारिता भी कहते हैं।

(३) सहकारी साख, अर्थात् सहकारी महाजनी जिसके अन्तर्गत उधार लेना और उधार देना दोनों कार्यों का समावेश होता है।

उत्पादकों की सहकारिता

पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में पूँजीपतियों और श्रमिकों में प्रायः निरन्तर संघर्ष चलता रहा है। आये दिन हड़ताल हुआ करती है जिसका घातक प्रभाव उत्पादन पर पड़ता है। उत्पादन प्रणाली से इस प्रकार के कलह और विनाशकारी संघर्ष दूर करने का उपाय उत्पादन में सहकारिता को अपनाना है। सहकारी उत्पादन में श्रमिक ही अपने स्वामी होते

हैं, वे ही समस्त व्यवसाय की पूँजी लगाते हैं, प्रबन्ध करते हैं और जोखिम भी उठाते हैं। इस प्रणाली से निम्नलिखित लाभ हो सकते हैं:—

(१) श्रमजीवी खूब मन लगाकर काम करते हैं, किसी चीज को खराब होने नहीं देते, उन्हें निरीक्षक की आवश्यकता नहीं होती, यन्त्रों और औजारों को अच्छी तरह रक्खा जाता है क्योंकि वे सब यह भली भाँति समझते हैं कि ऐसा न करने पर उन्हीं को हानि उठानी पड़ेगी। इस तरह कई प्रकार की बचत होती है और वस्तु का उत्पादन-व्यय प्रति वस्तु कम पड़ता है। अतः उसकी कीमत भी अपेक्षाकृत कम होती है। इस प्रकार उपभोक्ताओं को सस्ते दाम पर वस्तुयें मिलती हैं।

(२) सहकारी उत्पादन प्रणाली में श्रम और पूँजी का हित-विरोध नहीं होता। इसलिये हड़ताल आदि चिन्ताजनक घटनाओं का अवसर नहीं आता है। उत्पादन-कार्य निरन्तर होता रहता है।

(३) श्रमिक ही उत्पादन का जोखिम भी उठाते हैं। अतएव वे इस विषय में भली प्रकार विचार और निर्णय कर सकते हैं कि प्रबन्ध कार्य योग्यता और ईमानदारी से हो रहा है या नहीं। प्रत्येक एक दूसरे का निरीक्षक होता है। हर प्रकार से उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि ही की सम्भावना होती है।

(४) श्रमिक विभिन्न हैसियतों में काम करता है। वह अपनी भूमि लगाता है, उसकी कुछ निजी पूँजी होती है, वह प्रबन्ध भी करता है और जोखिम भी उठाता है। इसलिये

अपने श्रम की मजदूरी के अतिरिक्त उसे लगान, सूद और मुनाफा भी मिलता है। उत्पादन का सब लाभ उन्हीं को होता है। वे किसी प्रकार से शोषित नहीं हो सकते। अतः सहकारी उत्पादन प्रणाली में श्रमिकों की आर्थिक दशा अच्छी होती है।

उपभोक्ताओं की सहकारिता

पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में उत्पादकों का एकमात्र उद्देश्य अधिक से अधिक मुनाफा कमाना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे सब प्रकार के उपायों, उचित और अनुचित, का प्रयोग करते हैं। सर्वप्रथम वे वस्तुओं की कीमत अधिक से अधिक वसूल करने का प्रयत्न करते हैं। दूसरी बात यह है कि उत्पादक उत्पन्न वस्तु को थोक व्यापारियों (wholesale dealers) के हाथ बेचता है। थोक व्यापारी बहुत से छोटे-छोटे फुटकर बेचने वाले व्यापारियों के हाथ माल बेच देते हैं। इन फुटकर बेचने वालों से उपभोक्ता वर्ग उस वस्तु को खरीदता है। इस प्रकार वास्तविक उत्पादकों और उपभोक्ताओं के बीच व्यर्थ में बहुत से मध्यवर्ती व्यक्ति आ जाते हैं जिसके कारण वस्तु की कीमत और बढ़ जाती है। उत्पादक वस्तु की कीमत उत्पादन व्यय के ऊपर रखकर माल थोक व्यापारी के हाथ बेचता है। थोक व्यापारी इस पर कुछ अपना लाभ लगाकर वस्तु की कीमत कुछ बढ़ा कर फुटकर व्यापारी के हाथ बेचता है। फुटकर व्यापारी अपना लाभ उसमें मिला कर कुछ और अधिक कीमत बढ़ा कर उपभोक्ताओं के हाथ बेचता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तु के उपादक के यहाँ से उपभोक्ता के यहाँ पहुँचने में उसकी कीमत में कई बार वृद्धि होती जाती है। इससे यह निष्कर्ष

निकला कि उपभोक्ताओं को आवश्यकता से अधिक वस्तुओं की क़ीमत देनी पड़ती है। यदि ये मध्यवर्ती व्यक्ति न रहें और उत्पन्न वस्तु उपभोक्ताओं को सीधे उत्पादकों के यहाँ से मिल सके तो उन्हें वस्तुयें काफी सस्ती मिलेंगी।

इतना ही नहीं एक और बात विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है। उत्पादक और थोक तथा फुटकर व्यापारी भी इन वस्तुओं में तरह तरह की मिलावट कर देते हैं जिससे उपभोक्ताओं को शुद्ध वस्तुओं का मिलना भी मुश्किल, ही नहीं बल्कि असम्भव हो जाता है और अधिकांश उपभोक्ताओं को शुद्ध वस्तुयें नहीं मिलतीं।

इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उपभोक्ताओं को वस्तुयें बहुत अधिक दाम पर मिलती हैं और अशुद्ध रूप में मिलती हैं जिसका बुरा प्रभाव उनके स्वास्थ्यादि पर पड़ता है। आर्थिक हानि के साथ स्वास्थ्य सम्बन्धी हानि होती है। तो फिर इस स्थिति से उनकी मुक्ति का उपाय क्या है? इसका एक मात्र उपाय उनको सहकारिता के आधार पर अपना संगठन करके उत्पादकों से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना है। उपभोक्ताओं को सहकारिता की दशा में किसी स्थान के अधिकांश उपभोक्ता मिलकर अपनी समिति बनाते हैं। और समिति के सदस्यों की मांग का अनुमान लगाकर बड़ी मात्रा में वस्तु उत्पादक के यहाँ से सीधे मँगाई जाती है। चूँकि वस्तु अधिक मात्रा में खरीदी जाती है इसलिये अपेक्षाकृत कुछ कम कीमत पर मिलेगी। इसके साथ साथ मध्यवर्ती के हट जाने से भी वस्तु की कीमत बढ़ने नहीं पाती। समिति अपने सदस्यों को सस्ते दाम पर वस्तु की पूर्ति करने में सफल रहती है। इसके अलावे उपभोक्ताओं को शुद्ध वस्तु भी

प्राप्त होती है। इन लाभों के अलावे समिति के सदस्यों को व्यवहारिक कुशलता और क्षमता में भी वृद्धि होती है। इस कार्य में जो कुछ लाभ होता है वह भी सदस्यों में बँट जाता है।

सहकारी साख

जिन लोगों की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं होती उन्हें अपने कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए दूसरों से धन उधार लेना पड़ता है। भारतीय किसानों और कारीगरों की यही दशा होती है। अपने कार्यों को चलाने के लिए आवश्यक धन उनके पास नहीं होता। उन्हें महाजनों से ऋण लेना पड़ता है। महाजन किस प्रकार उनका पोषण करता है यह पिछले विभिन्न स्थलों पर बताया जा चुका है। महाजन इन किसानों की विवशता से लाभ उठाकर बहुत अधिक ब्याज वसूल करता है। साख की अन्य सुविधाओं के अभाव में किसान और कारीगर इन महाजनों के यहाँ से रुपया उधार लेने के लिए भी मजबूर होते हैं। इस स्थिति से त्राण पाने का एक मात्र उपाय इन लोगों को सहकारी साख समितियों (Co-operative credit socities) में संगठित करना है। साख समिति अपने सदस्यों की आवश्यकता का अनुमान लगा कर सहकारी बैंक से कम सूद पर रुपया उधार लेती है और अपने सदस्यों में बाँटती है। फिर उनसे रुपया वसूल कर बैंक को चुका देती है।

ऊपर बतायी गई सहकारिता की तीन किस्मों के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के कार्यों के लिए भी सहकारी समितियों का उपयोग किया गया है। उनके कार्यों के अनुसार उनके नाम

भी भिन्न-भिन्न हैं। इनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं:—रहन सहन सुधार समिति (better living society), चक बन्दी समिति (consolidation of holdings society), पशु-सुधार समिति (cattle improrvment society), गृह-समिति (housing society), सिंचाई समिति (irrigation society) इत्यादि। इनका विस्तार पूर्वक वर्णन आगे किया जायगा।

बत्तीसवाँ अध्याय

भारतवर्ष में सहकारिता

हमारे देश में विशेषकर सहकारी साख का ही प्रचार हुआ है। सहकारी साख का प्रयोग सर्वप्रथम जर्मनी में हुआ जिसमें वहाँ आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई। अन्य देशों का ध्यान उधर गया और उन्होंने उसका अनुकरण किया। हमारे देश में भी किसानों की दशा सुधारने के लिए साख समितियों का संगठन जर्मन साख समितियों के आधार पर हुआ। अतः इन जर्मन साख समितियों की प्रमुख विशेषताओं को समझ लेना लाभदायक ही होगा।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में दो परोपकारी व्यक्तियों ने सहकारी साख का कार्य अपने यहाँ की गरीब जनता की दशा सुधारने के लिये प्रारम्भ किया। इनमें से एक का नाम रैफिसन (Raiffeisen) और दूसरे का नाम शुल्ज-डेलिट्ज् (Schulze-Delitzsch) था। प्रथम महाशय ने ग्रामीण जनता के हित के लिए समितियों का संगठन किया। द्वितीय महाशय ने नगरों की निम्न-मध्यमवर्ग की, जिसमें छोटे छोटे कारीगर और व्यापारी इत्यादि शामिल थे, जनता की हित वृद्धि के लिये सहकारी साख समितियों का संगठन किया। इन महाशयों के नाम पर ही उनके द्वारा संगठित समितियों के आधार

पर निर्मित समितियों का नामकरण किया जाता है। एक प्रकार की समिति को रैफिसन समिति (Raiffeisen society) और दूसरी प्रकार की समिति को शुल्ज समिति कहते हैं।

रैफिसन ग्राम्य सहकारी साख समिति

इस प्रकार की साख समितियों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—(१) इसमें हिस्से (shares) नहीं होते और यदि होते भी हैं तो बहुत कम दाम या मूल्य के हिस्से होते हैं। इससे यह लाभ होता है कि गरीब व्यक्ति इस प्रकार की समिति का सदस्य बन सकता है। दूसरा लाभ यह होता है कि सदस्यों का झुकाव मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति की ओर नहीं होने पाता और सहकारिता की भावना बनी रहती है।

(२) समिति अपरिमित दायित्व (unlimited liability) के आधार पर संगठित की जाती है। अपरिमित दायित्व से तात्पर्य यह होता है कि इस प्रकार की समितियों के सदस्य व्यक्तिगत रूप से समितियों के सारे ऋण को अदा करने के लिए जिम्मेदार होते हैं। यदि कोई साख समिति टूट जाय और समिति पर किसी बाहरी व्यक्ति या संस्था का ऋण हो तो समिति के किसी एक सदस्य से सारा ऋण वसूल किया जा सकता है। अपरिमित दायित्व से यह लाभ होता है कि सब सदस्य एक दूसरे की हरकतों पर निगरानी रखते हैं, समिति के कार्यों में पर्याप्त दिलचस्पी लेते हैं और बेईमानी तथा कुप्रबन्ध नहीं होने देते। यदि वे ऐसा न करें तो समिति के असफल हो जानेपर किसी एक से भी सब ऋण वसूल किया

जा सकता है। इस भय से सब सदस्य रुचि और सच्चाई के साथ काम करते हैं ताकि समिति असफल न होने पावे।

(३) इसका क्षेत्र बहुत सीमित होता है ताकि प्रत्येक सदस्य अन्य सदस्यों के सम्पर्क में आता रहे और उसकी हरकतों का ज्ञान रखता रहे। इससे किसी सदस्यको अन्य सदस्यों को धोखा आदि देना कठिन हो जाता है क्योंकि वे एक दूसरे से भली भांति परिचित होते हैं और संदेहास्पद सदस्यों के व्यवहार के सम्बन्ध में पर्याप्त रूप से चौकन्ना रह सकते हैं।

(४) केवल समिति के सदस्यों को ही रुपया उधार दिया जाता है। और वह भी केवल उत्पादक कार्यों (productive purposes) के लिए।

(५) दीर्घकालीन साख की सुविधाएँ विशेष रूप से दी जाती हैं और सदस्यों को किश्तों में चुकाने का अवसर दिया जाता है। चूँकि ऋण उत्पादक कार्यों के लिये ही दिया जाता है इसलिये अपेक्षाकृत अधिक समय के लिए दिया जाना आवश्यक होता है।

(६) प्रत्येक समिति के पास एक स्थायी कोष होता है। जब किसी सदस्य से रुपया वसूल नहीं हो पाता है और समिति के पास और नकद रकम नहीं होती है तब ऋण का भुगतान करने के लिए समिति स्थायी कोष का प्रयोग करती है।

(७) मुनाफा कमाने को कोई भावना इसमें नहीं होती क्यों कि जो कुछ मुनाफा है उसका कोई बँटवारा सदस्यों में नहीं होता बल्कि स्थायी कोष में सब रख दिया जाता है (चूँकि

मुनाफे के वितरण की कोई समस्या नहीं होती) फलतः सदस्यों में कोई झगड़ा आदि नहीं होता।

(८)प्रबन्ध आदि में किसी प्रकार का कोई व्यय नहीं होता क्योंकि इसका भार अवैतनिक सदस्यों के ऊपर होता है जो स्वेच्छा से कार्य करते हैं। इससे लोगों की प्रवन्ध या व्यवस्था सम्वन्धी कुशलता बढ़ती है और कुल खर्चे में भी कमी होती है।

(९) ग्रामोत्थान ही इस प्रकार की समितियों का मुख्य उद्देश्य होता है। अतः वे ग्रामीण जनता की आर्थिक और नैतिक उन्नति के लिए सतत प्रयत्नशील रहती हैं।

(१०)प्रत्येक सदस्य को केवल एक ही वोट प्राप्त होता है चाहे उसके पास एक से अधिक हिस्से (shares) क्यों न हों। इससे यह लाभ होता है कि अपेक्षाकृत सम्पन्न सदस्य अन्य दूसरे कम सम्पन्न सदस्यों पर प्रभुत्व जमाने नहीं पाते या उन पर शासन करने नहीं पाते।

चूँकि रैफिसन महोदय को परिश्रमी, संयमी, मितव्ययी फिर भी निर्धन किसानों के मध्य काम करना पड़ा था इसलिए ऊपर बताई गई विशेषताओं का होना आवश्यक समझा गया।

शुल्ज समितियाँ

शुल्ज समितियों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

(१) इनका संगठन हिस्सा-पूँजी (share-capital) के सिद्धान्त के आधार पर होता है। अतः सदस्यों को उनके हिस्सों (shares) की संख्या के अनुसार वोट देने का अधिकार होता है।

(२) सदस्यों का दायित्व सीमित होता है। शुल्ज-

समितियों का संगठन परिमित दायित्व (limited liability) के सिद्धान्त के आधार पर होता है।

इसका तात्पर्य यह है कि सदस्यों की ऋण चुकाने की जिम्मेदारी उनके हिस्से के मूल्य से परिमित होती है। यदि सदस्य ने अपने हिस्से का मूल्य चुका दिया है तो समिति का लेनदार (creditor) उस सदस्य से कुछ भी वसूल नहीं कर सकता। शुल्ज समितियाँ शहरों के लिये संगठित की गई थीं। अतः इनका क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है जिसके कारण सदस्यों को एक दूसरे से भली भाँति परिचित होना सम्भव नहीं होता और न तो एक दूसरे के कार्यों पर उतनी निगरानी ही रख सकता है। अतः दायित्व का परिमित होना बहुत ही आवश्यक था।

(३) मुनाफे का वितरण सदस्यों में उनके हिस्सों के अनुपात से हो जाता है।

(४) ऋण अल्प काल के ही लिए दिया जाता है क्योंकि उसका उपयोग खेती करने या जमीन के सुधार करने के लिए, जिनसे आय प्राप्त करने में अपेक्षा-कृत अधिक समय लगता है, नहीं दिया जाता है।

(५) एक सुरक्षा कोष होता है किन्तु इसमें मुनाफे का थोड़ा सा ही हिस्सा रक्खा जाता है।

(६) प्रबन्धकों को वेतन दिया जाता है।

(७) प्रत्येक निर्णयमें व्यावसायिक पहलू पर अधिक जोर दिया जाता है। सदस्यों के नैतिक उत्थान की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता।

चूँकि शुल्ज महोदय को शहरी कारीगरों के मध्य में कार्य करना पड़ा था इसलिए इन आधारों पर समितियों को संगठित करना अधिक अनुकूल और उपयुक्त समझा गया।

यदि इन दोनों प्रकार की समितियों को ऊपर बताई गई विशेषताओं को ध्यान में रक्खा जाय तो उनका अन्तर बिल्कुल स्पष्ट ही है। ये अन्तर निम्नलिखित हैं :—

(१) रैफिसन-समिति में हिस्से या तो होते ही नहीं और यदि होते हैं तो बहुत ही कम मूल्य के। शुल्ज-समितियों में हिस्से अवश्य होते हैं और अपेक्षाकृत अधिक मूल्य के भी।

(२) रैफिसन-समिति का संगठन अपरिमित दायित्व के आधार पर होता है और शुल्ज-समिति का संगठन परिमित दायित्व के आधार पर होता है।

(३) रैफिसन समिति में किसी भी सदस्य को समिति के कार्य-संचालन के लिए वेतन नहीं मिलता किन्तु शुल्ज-समिति में मिलता है।

(४) रैफिसन समिति में लाभ का बँटवारा सदस्यों में बिल्कुल नहीं होता। वह सब का सब स्थायी कोष में चला जाता है। शुल्ज-समिति में मुनाफे का अधिकांश भाग सदस्यों में बाँट दिया जाता है और उसका कुछ ही भाग कोष में रक्खा जाता है।

हमारे देश में इन दोनों प्रकार की समितियां का उनमें थोड़ा बहुत संशोधन करके प्रचार किया गया है। सर्वप्रथम सन् १९०४ ई० में सहकारिता की ओर भारतीय सरकार ने ध्यान दिया। सन् १९०४ ई० में सहकारिता का पहला कानून पास हुआ। प्रत्येक प्रान्त में एक रजिस्ट्रार साख-समितियों की स्थापना में प्रोत्साहन देने तथा उनके कार्यों का निरीक्षण करने के लिए नियुक्त हुआ। इसके अनुसार दो प्रकार की साख समितियों की स्थापना की व्यवस्था की गई थी—एक प्रकार की समिति गाँव के लिए और दूसरे प्रकार की समिति शहरों

और कस्बों के लिए। ग्रामीण समितियों में सदस्यों की संख्या का ८०% भाग किसानों से पूरा होना चाहिए था; शहरी समितियों के लिए ८०% सदस्य गैरकिसानों के होने जरूरी थे। ग्रामीण समितियों का संगठन अपरिमित दायित्व के सिद्धान्त पर होना निश्चित था और शहरी समिति संगठन परिमित दायित्व के आधार पर।

आरम्भ में साख समितियों की स्थापना इन्हीं आधारों पर हुई। कुछ समय के बाद १९०४ ई० के कानून को बदलने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस कानून के अनुसार केवल सहकारी साख (co-operative credit) का ही प्रसार सम्भव था। अन्य प्रकार की सहकारिता का प्रसार सम्भव नहीं था। कुछ समय के बाद दूसरे प्रकार की सहकारी समितियाँ भी खुलने लगीं। इन समितियों के द्वारा लोग मिलकर फसल को बेचने, कृषि के लिए आवश्यक सामानों को खरीदने इत्यादि का काम करने लगे। इन समितियों का निर्माण १९०४ ई० के कानून के अनुसार नहीं हुआ था। इन समितियों की सहायता के लिये सेन्ट्रल बैंक की भी जरूरत हुई।

अतः १९१२ ई० में सहकारिता सम्बन्धी दूसरा कानून पास हुआ। इस नए कानून ने ग्रामीण और शहरी समितियों का भेद दूर कर दिया। इसके अनुसार सहकारी साख-समितियों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सहकारी समितियों की स्थापना हो सकती थी। सरकार ने मुनाफे के बटवारे का नियंत्रण और निरीक्षण अपने हाथ में ले लिया। बचत-कोष (Reserve fund) में काफी रुपया जमा हो जाने पर मुनाफे का कुछ हिस्सा सभासदों को, डिविडेंड के तौर पर, बाँटे

जाने और उसकी १० प्रतिशत तक रकम के दान-धर्म में दिए जाने की व्यवस्था कर दी गई।

इस प्रकार सहकारी समितियों का प्रचार देश में होने लगा। निम्नलिखित प्रकार की सहकारी समितियों का निर्माण हमारे देश में हुआ है:—

सहकारी समितियाँ

- प्रारम्भिक समितियाँ (primary societies)
  - साख समितियाँ (credit societies)
    - कृषि-साख समितियाँ (agricultural credit societies)
    - शहरी साख समितियाँ (urban credit societies)
  - गैर-साख समितियाँ (non-credit societies)
    - कृषि गैर-साख समितियाँ (agricultural non-credit societies)
    - शहरी गैर-साख समितियाँ (urban non-credit societies)
- केन्द्रीय समितियाँ (central societies)
  - यूनियन
  - केन्द्रीय बैंक (central Bank)
  - प्रान्तीय बैंक (provincial Bank)

इन समितियों का अलग-अलग विवेचन अगले अध्यायों में किया जायगा।

तैंतीसवाँ अध्याय

प्रारम्भिक कृषि सहकारी साख समितियाँ

(Primary Agricultural co-operative Credit Societies)

प्रारम्भिक समिति से तात्पर्य केवल उस प्रकार की समिति से होता है जो व्यक्तियों की सहायता तथा उन से लेन-देन का कार्य करती है न कि किसी प्रकार की समिति से। प्रारम्भिक समिति केवल सदस्यों की सहायता करती है। वह किसी अन्य समिति की सहायता नहीं करती। इसके विपरीत केन्द्रीय समितियाँ प्रारम्भिक समितियों की सहायता के लिए संगठित की जाती हैं। सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त प्रारम्भिक समितियों के कार्यों के लिए निरीक्षण का भी भार उनके ऊपर होता है।

प्रारम्भिक कृषि साख समितियों के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें स्मरणीय हैं:—

(१) एक ही जाति या एक ही पेशा या एक ही स्थान के कम से कम दस व्यक्ति मिलकर इस प्रकार की समिति की स्थापना के लिए रजिस्ट्रार के पास प्रार्थना-पत्र दे सकते हैं। समिति के सदस्यों की संख्या १० से कम होने पर रजिस्ट्रार उसे तोड़ सकता है। समिति के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक भी नहीं होनी चाहिए क्योंकि सदस्यों की संख्या-वृद्धि के साथ प्रबन्ध की क्षमता कुछ घटने लगती है। सदस्यों

का एक दूसरे से भली भाँति परिचित होना तथा एक दूसरे पर नियंत्रण रखने के लिए यह आवश्यक है कि एक ही गाँव के लोग एक समिति में संगठित हों।

(२) इस प्रकार की समितियों का संगठन अपरिमित दायित्व (unlimited liability) के सिद्धान्त पर होता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक सदस्य समिति से उधार लिए हुए रुपए को चुकाने का जिम्मेदार तो होता ही है इसके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर उसे समिति का सारा ऋण चुकाना पड़ सकता है। ऐसी सम्भावना तभी आती है जब कुप्रबन्ध के कारण कोई समिति असफल हो जाती है और टूट जाती है। ऐसी दशा में यदि समिति के ऊपर किसी दूसरी संस्था का ऋण हुआ तो वह किसी भी सदस्य से वसूल किया जा सकता है। यही कारण है कि प्रत्येक सदस्य को दूसरे सदस्यों की आर्थिक स्थिति तथा उनके चाल-चलन का सम्यक् ज्ञान होना चाहिये अन्यथा वे अपरिमित दायित्व को स्वीकार न करेंगे। पुनः इसी कारण से समिति में नवीन सदस्य सर्वसम्मति से ही भर्ती किया जा सकता है।

(३) समिति का प्रबन्ध लोकतन्त्रात्मक और अवैतनिक आधार पर होता है। प्रत्येक सदस्य को, चाहे वह कितने ही हिस्सों (shares) का मालिक क्यों न हो या समिति के प्रबन्ध में उच्चपद पर क्यों न हो, एक ही वोट प्राप्त होता है। प्रबन्ध का भार दो संस्थाओं के ऊपर होता है। पहली संस्था सब सदस्यों को मिलाकर एक होती है जिसे सामान्य समिति (general committee) कहते हैं। दूसरी संस्था इस पहली संस्था द्वारा वार्षिक

अधिवेशन के अवसर पर निर्वाचित प्रबन्ध समिति (Managing Commitee) होती है। प्रबन्ध समिति में प्रायः ५ से ७ तक सदस्य होते हैं। प्रबन्ध कार्य करने वाले सदस्यों को कोई वेतन या पुरस्कार नहीं दिया जाता। केवल सेक्रेटरी ही कभी कभी वेतन पाता है।

सामान्य समिति का काम समान्य नीति का निर्धारण करना है और प्रबन्ध-समिति का काम उस नीति को अमल में लाना है। सामन्य समिति प्रबन्ध-समिति के निर्वाचन के अतिरिक्त निम्नलिखित मुख्य काम या निर्णय करती है:—

(१) डिपाजिट पर दिए जाने वाले सूद की दर निश्चित करना।

(२) सदस्यों को दिए जाने वाले ऋण पर किस दर से सूद लिया जावे इसका निश्चय करना।

(३) समस्यों को अधिक से अधिक कितना ऋण दिया जा सकता है इसे निश्चित करना।

(४) समिति सेन्ट्रल बैंक से अधिक से अधिक कितना ऋण ले सकती है इसका निश्चय करना।

प्रबन्ध समिति के कार्य निम्नलिखित हैं:—

(१) सदस्यों को हिस्से देकर उन्हें समिति का सदस्य बनाना।

(२) ग्रामीण जनता को समिति के पास रुपया जमा करने के लिये प्रोत्साहित करना।

(३) सेन्ट्रल या जिला बैंक से ऋण का प्रबन्ध करना।

(४) किसी सदस्य को कितने समय तक के लिये ऋण दिया जाय इसका निश्चय करना।

(५) समिति के आय-व्यय का हिसाब रखना।

(६) समिति के कार्यों के लिए रजिस्ट्रार से लिखा-पढ़ी करना।

(७) सदस्यों की फसल की बिक्री तथा उनके लिए आवश्यक सामानों को खरीदने का प्रबन्ध करना।

(८) सरपंच तथा मंत्री का निर्वाचन करना। सरपंच समिति के कार्यों का निरीक्षण करता है।

(४) **समिति की सदस्यता**—अच्छे आचरण का प्रत्येक व्यक्ति समिति का सदस्य हो सकता है। नवीन सदस्यों का प्रवेश प्रबन्ध-समिति के हाथ में होता है।

(५) समिति का संगठन सदस्यों को नाम-मात्र के सूद पर रुपया उधार देने के उद्देश्य से होता है। इसके लिए समिति के पास धन होना चाहिए। यह धन समिति को निम्नलिखित साधनों से प्राप्त होता है:—

(क) सदस्यों से प्राप्त प्रवेश फीस की रकम;
(ख) सदस्यों के हिस्सों (shares) का रुपया;
(ग) सदस्यों या गैर-सदस्यों के डिपाजिट को रकम;
(घ केन्द्रीय बैंकों से प्राप्त ऋण;
(ङ) सरकार से प्राप्त ऋण;
(च) रक्षित कोष (Reserve fund) की रकम।

प्रवेश फीस एक रुपया ली जाती है। कुछ प्रान्तों में सदस्यों को हिस्से (shares) खरीदने होते हैं। हमारे संयुक्त-प्रान्त, मद्रास तथा पंजाब में समितियाँ हिस्से वाली ही हैं। अन्य प्रान्तों में हिस्से और गैर हिस्से वाली दोनों प्रकार की समितियाँ पाई जाती हैं। हमारे संयुक्त प्रान्त में एक हिस्सा २० रुपए का होता है। प्रत्येक सदस्य को कम से कम एक हिस्सा

अनिवार्यतः लेना होता है। हिस्से की कीमत २० छमाही किश्तों में चुकाने की सुविधा सदस्यों को दी जाती है। इस प्रकार १० वर्ष के अन्दर हिस्से की पूरी कीमत चुका देनी होती है।

प्रायः देखने में आता है कि समितियों को आवश्यक धन के लिये बाह्य संस्थाओं जैसे केन्द्रीय बैंकों आदि पर आश्रित रहना पड़ता है। डिपाजिट के रूप में सदस्यों या गैर-सदस्यों से रुपया आकर्षित करने में ये समितियाँ असफल ही रही हैं।

(६) ऋण केवल सदस्यों को दिया जाता है। और वह भी तीन प्रकार के मुख्य कार्यों के लिए:—(१) उत्पादक कार्यों के लिए; (२) अनुत्पादक कार्यों के लिये (३) पुराने ऋण को चुकाने के लिए। उत्पादक कार्यों (जैसे कृषि के लिए आवश्यक हल, खाद या बीज खरीदना) के लिये ऋण देना समिति का मुख्य काम होता है। इस प्रकार के ऋण प्रायः एक वर्ष के लिए दिए जाते हैं। बैल आदि खरीदने के लिए दीर्घकालीन ऋण भी दिया जाता है। इस प्रकार के ऋण चुकाने के लिए दो या तीन वर्ष का समय दिया जाता है। शादी-ब्याह या अन्य सामाजिक और धार्मिक प्रकार के अनुत्पादक व्यय के लिए ऋण देना तो ठीक नहीं होता है किन्तु यदि इन कार्यों के लिए सदस्यों को एक दम ऋण न दिया जाय तो उनके महाजनों के चंगुल में फँस जाने की निश्चित सम्भावना हो जाती है। अतः इस सम्भावना को उत्पन्न न होने देने के उद्देश्य से इस प्रकार के कार्यों के लिए भी कुछ न कुछ ऋण देना ही पड़ता है। पुराने ऋण को चुकाने के लिए भी ऋण दिया जाता है। साधारणतया इस प्रकार का ऋण अपेक्षाकृत दीर्घ काल के लिए होता है।

(७) सूद की दर—इस प्रकार की समितियों का मुख्य उद्देश्य बहुत ही ऊँची सूद-दर लेने वाले महाजनों का अन्त करना तथा अपने सदस्यों में मितव्ययता, एकता और स्वावलम्बन की भावना और आदतों का सृजन करना होता है। अतः सूद की दर प्रायः नीची ही होती है। किन्तु यह भी देखना आवश्यक होता है कि यह दर इतनी नीची भी न हो जाय कि सदस्यों में मनमानी अनावश्यक कार्यों के लिए उधार लेने की प्रवृत्ति को अत्यधिक बढ़ावा मिल जाय। जिस दर से समिति स्वयं ऋण लेती है उससे कुछ अधिक दर पर उसे अपने सदस्यों को ऋण देना चाहिए।

ऋण की जमानत—साख के लिये किसी न किसी रूप में जमानत की आवश्यकता होती है। सहकारी साख समिति में, जिसका संगठन अपरिमित दायित्व के सिद्धान्त पर होता है, जमानत का मुख्य आधार तो वास्तव में सदस्यों की सच्चाई, कर्त्तव्य परायणता और मितव्ययता ही होता है किन्तु ऋण का ठीक ढंग पर नियत समय से भुगतान होता रहे। ऋण लेने वाले सदस्य को दो जामिनों के साथ दस्तावेज तहरीर करना होता है।

(६) लाभ का वितरण सदस्यों में नहीं होता और वह सब का सब स्थायी रक्षित कोष में जमा हो जाता है। लाभ का १०% मात्र भाग दान-धर्म के कार्यों के लिए अलग रक्खा जा सकता है या सहकारी प्रचार और शिक्षा में या अन्य सार्वजनिक हित के कार्यों में व्यय किया जा सकता है।

(१०) समिति के आय-व्यय-निरीक्षण रजिस्ट्रार इस काम के लिए नियुक्त निरीक्षकों जिन्हें आडिटर (auditer)

कहते हैं द्वारा करता है। समिति की आय-व्यय की जाँच आडिटर करते हैं। अन्य निरीक्षण कार्य के लिये निरीक्षक यूनियनें (supervising unions) होती हैं।

इन समितियों का प्रभाव

इन समितियों के प्रचार से ग्रामीण जनता का बहुत लाभ हुआ है। सहकारी के द्वारा आलसी व्यक्ति परिश्रमी और अपव्ययी मितव्ययी हो जाता है; दुर्व्यसनग्रस्त व्यक्ति अपनी आपत्ति जनक आदतों को छोड़ देता है तथा अशिक्षित व्यक्ति शिक्षित हो जाता है। सहकारिता का मुख्य उद्देश्य लोगों की आर्थिक दशा में सुधार करना है। अतः इन समितियों के प्रचार से मुख्यतः आर्थिक लाभ हुआ है। कुछ विद्वानों के अनुमान से लगभग एक करोड़ से अधिक लाभ प्रति वर्ष भारतीय किसानों का इन समितियों की स्थापना से सूद-दर में कमी हो जाने से हो रहा है। इसके अतिरिक्त बेकार और अन्यथा अप्राप्य पूँजी भी इन समितियों की स्थापना से किसानों के हाथ में कृषि की उन्नति के लिए आ गई है। इन समितियों ने मितव्ययता आदि गुणों के प्रचार की दिशा में भी अच्छा कार्य किया है।

किन्तु इन समितियों के पक्ष में सब कुछ कह लेने के बाद यह मानना ही पड़ता है कि इनमें बहुत सी त्रुटियाँ हैं जिनके कारण इन्हें उतनी सफलता नहीं मिली है जितनी मिली हुई होनी चाहिए। इन समितियों का विकास वास्तव में रुपया उधार देने वाली संस्थाओं के रूप में हुआ है न कि वास्तविक सहकारी संस्थाओं के रूप में। इसका परिणाम यह हुआ है कि इन समितियों के द्वारा ग्रामीण जनता में सहकारिता की

सच्ची भावना और स्वावलम्बन का उदय अभी तक नहीं हो पाया है। समितियों के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं:—

(१) सहकारी विभाग के कर्मचारियों में सहयोग के सिद्धान्तों की अपेक्षाकृत अज्ञानता।

(२) इस आन्दोलन के उत्तरदायी व्यक्तियों की लापरवाही तथा निरीक्षण के साधनों की कमी।

(३) प्रारम्भिक प्रेरणा सरकारी होने के कारण जनता का ध्यान इस ओर पर्याप्त मात्रा में आकर्षित नहीं हो पाया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि किसानों ने सहकारिता आन्दोलन को आत्मविश्वास के साथ नहीं अपनाया है। वह इस बात को नहीं समझता है कि समिति उसकी है और उसके ही हित के लिए कार्य करती है। वह उसे बाहरी संस्था समझता है तथा यह भी सोचता है कि उसका हित समिति के हित से विरोध रखता है। इस प्रकार की महती अज्ञानता की दशा में सन्तोषजनक उन्नति कैसे सम्भव हो सकती है।

(४) कतिपय प्रमुख सदस्यों की स्वार्थपरता भी, जिसके कारण वे अन्य सदस्यों पर शासन सा करने लगते हैं और समिति के धन का उपयोग अपने कार्यों के लिए करते हैं और जिनके परिणामस्वरूप बाकी सदस्यों के लिए आवश्यक धन शेष नहीं रह जाता, इन समितियों के प्रमुख दोषों में से एक दोष है।

(५) ऋण का ठीक समय पर सदस्यों द्वारा भुगतान न होना इन समितियों के कार्य-पद्धति की एक साधारण सी बात है।

(६) कुछ सदस्यों के साथ विशेष पक्षपात का होना जिसका घातक प्रभाव पूरे संगठन पर पड़ता है।

अन्य प्रमुख दोष इन समितियों के सदस्यों का पूर्ण रूप से अशिक्षित होना तथा महाजनों के कर्ज के बोझ से लदा हुआ होना है। ऊपर गिनाये गये दोषोंके कारण इन समितियों के संगठन से पर्याप्त लाभ नहीं हो सका है। किसी विशेषज्ञ ने इन समितियों के सम्बन्ध में अपनी राय इन शब्दों में प्रगट की थी! "इन समितियों में सहकारिता के सिद्धान्तों की नितान्त अवहेलना होती है। ऋण ठीक समय पर कभी नहीं चुकाये जाते; आय-व्यय-निरीक्षण ठीक नहीं होता तथा इन समितियों की निगरानी भी उचित ढंग से नहीं होती।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी अधिकांश समितियों में ऊपर बताये गये दोष पाये जाते हैं। कुछ विद्वानों का तो यह कहना है कि अधिकांश समितियों की आर्थिक दशा शोचनीय है। सहकारी विभाग के कर्मचारी यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं। शाही कृषि कमीशन (royal commission on agriculture) की राय में इन समितियों की आर्थिक दशा सन्तोषजनक है किन्तु उनकी कार्यप्रणाली दोषपूर्ण हैं।

आवश्यक सुधार किस दिशा में किये जायँ?

कृषि साख समिति की सफलता के लिए सबसे मुख्य चीज यह है कि उसके सदस्यों को सहकारिता के बुनियादी या आधार-भूत सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान हो। प्रत्येक सदस्य का यह समझना कि समिति उसका है और उसी की हित-वृद्धि के लिए बनाई गई है नितान्त आवश्यक है।

यदि इन समितियों के अपूर्ण सफलता के कारणों का

विशेषण किया जाय तो मोटे रूप से इन्हें तीन वर्गों में रक्खा जा सकता है :—

(१) अशिक्षा सम्बन्धी कारण;

(२) किसानों की ऋणी अवस्था सम्बन्धीकरण; और

(३) योग्य और सच्चे कार्यकर्ताओं के अभाव का कारण।

अतः सबसे पहला प्रयत्न लोगों की अशिक्षा दूर करने के लिए होना चाहिए। जब तक किसानों का अन्धकार उचित शिक्षा द्वारा दूर नहीं होता तथा उनमें दूसरों को समझने और अपने हित की रक्षा करने की सामर्थ्य नहीं आ जाती तब तक समुचित लाभ नहीं हो सकता। शहरी समितियाँ जिनके सदस्य अपेक्षाकृत शिक्षित होते हैं, अधिक सुचारुरूप से कार्य करती पाई जाती हैं। शिक्षा प्रसार सहकारी आन्दोलन की वृद्धि भारतीय ग्रामों में अधिक तीव्र गति से हो सकेगी। केवल सहकारी आन्दोलन के सफल बनाने के लिये ही नहीं बल्कि सब प्रकार के आवश्यक सुधारों के लिए ग्रामीण जनता की अशिक्षा दूर करनी होगी।

इसके साथ साथ अत्यधिक प्रचार की आवश्यकता है। सरकारी प्रतिबन्धों और नियन्त्रणों से शून्य सार्वजनिक संस्थाओं के द्वारा ग्रामीण निरीह जनता में व्यापक प्रचार की आवश्यकता है जिससे इस आन्दोलन में भाग लेने की इच्छा का उदय उनमें हो और इसे वे अपना कार्य समझने लगें।

इसके अतिरिक्त सदस्यों की स्वार्थपरता, पक्षपात इत्यादि को भी दूर करना होगा। इस बात का भरसक प्रयत्न करना होगा कि समिति का आन्तरिक वातावरण शान्तिमय और

कलह शून्य हो। इसके लिए निरीक्षण कार्य को नियमित ढंग से तथा अधिक योग्य और ईमानदार व्यक्तियों के द्वारा सम्पादित कराना होगा। ऋण देने में भी विशेष सावधानी रखनी होगी। समय पर ऋण भुगतान करने के लिये कुछ कड़ाई से काम लेना होगा।

चौंतीसवाँ अध्याय

गैर-साख कृषि सहकारी समितियाँ

(Agricultural Non-credit Co-operative Societies)

हमारे देश में सहकारिता आन्दोलन में विशेषकर साख समितियों की स्थापना पर विशेष जोर दिया गया है। किन्तु भारतीय किसानों और कारीगरों की दयनीय आर्थिक स्थिति में सन्तोषजनक परिवर्तन केवल उन्हें कम सूद पर साख की सुविधाओं के प्रदान करने से नहीं किया जा सकता। साख की आवश्यकता उनकी बहुत सी आवश्यकताओं में से एक आवश्यकता है। जब तक उनकी समस्त आवश्यकताओं को एक साथ समुचित ढंग से पूरा करने का प्रयत्न नहीं किया जाता तब तक विशेष सुधार की आशा नहीं की जा सकती। जब तक उनकी पैदावार की बिक्री, आवश्यक औजारों की खरीद, सिंचाई, खेतों की चकबन्दी, स्वास्थ्य और सफाई की उन्नति, पशुओं की उन्नति इत्यादि की समस्याओं का एक-साथ संगठित रूप से समाधान निकालने का प्रयत्न नहीं होता तब तक सहकारिता आन्दोलन से पर्याप्त लाभ नहीं पहुँचाया जा सकता।

दुनिया के अन्य देशों में जनता की विविध आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रायः एक ही प्रकार की समितियों, जिन्हें विविध उद्देश्य समिति (multe-purpose society) कहते

हैं, का प्रयोग किया जा रहा है। इस प्रकार की एक ही समिति साख, क्रय-विक्रय, रहन-सहन सुधार इत्यादि सब कार्यों को एक ही साथ करती है। हमारे देश में विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न प्रकार की समितियों की स्थापना की प्रथा चल निकली है। साख-समिति केवल साख सम्बन्धी कार्य करती है, चकबन्दी समिति का कार्य खेतों की चकबन्दी तक ही सीमित होता है।

हमारे देश में गैर-साख समितियों का बहुत कम प्रचार हुआ है। किन्तु इनके प्रसार की ओर पहले से अब अधिक ध्यान दिया जा रहा है। प्रान्तीय सहकारी विभागों का ध्यान आरम्भ में तो बिलकुल साख-सुविधाओं के प्रसार में ही केन्द्रित था। किन्तु अब वे भी अधिक ध्यान इस ओर देने लगे हैं।

सहकारी क्रय-विक्रय समितियाँ

(Co-operative Sale & Purchase Societies)

किसानों को अपनी फसल की बिक्री और कृषि के लिए अन्य आवश्यक सामानों को खरीदने में कितनी असुविधाएँ होती हैं तथा वे किस प्रकार गाँव के महाजन और अन्य मध्यवर्ती व्यक्तियों द्वारा शोषित होते हैं इस का वर्णन पहले के अध्यायों में किया जा चुका है। किसानों और कारीगरों को अपनी वस्तुओं का उचित मूल्य नहीं मिलता। इसके विपरीत उन्हें अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं को जरूरत से अधिक महँगे दाम पर खरीदना पड़ता है। किसानों की अशिक्षा और अज्ञानता के कारण महाजन तथा व्यापारियों और दलालों का उनको ठगना बहुत ही आसान होता है। परिणाम यह होता है कि बेचारे किसान और कारीगर अपना माल बेचते और

अपने लिए आवश्यक माल खरीदते दोनों समय अनेक प्रकार से लूटा जाता है।

अतः इन किसानों और कारीगरों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए साख की सुविधाओं की व्यवस्था करने के अतिरिक्त उनके सामानों की खरीद-बिक्री की भी समुचित व्यवस्था की समस्या का समाधान विशेष महत्व-पूर्ण है। इस कार्य के लिए क्रय-विक्रय समितियों का निर्माण पर्याप्त मात्रा में करना होगा।

क्रय समितियाँ (Purchase Societies)

किसानों और कारीगरों को उनके के लिये आवश्यक सामानों को खरीदने के लिये सहकारी क्रय समितियों की स्थापना की जाती है। इन समितियों का एक मात्र उद्देश्य अपने सदस्यों को अच्छी वस्तुयें सस्ते दामों पर देना होता है। प्रत्येक सदस्य से समिति उससे आवश्यक सामान का विवरण लेती है। इस प्रकार सब सदस्यों के विवरण प्राप्त कर लेने के बाद समिति विभिन्न वस्तुओं की कुल माँग (Total Demand) का अनुमान लगा कर उत्पादकों या बड़े बड़े दूकानदारों से थोक मूल्य पर खरीदती है। थोक माल लेने पर वस्तुयें सस्ती मिलती हैं और समिति के लिये अपने सदस्यों को अपेक्षाकृत सस्ते दाम पर वस्तुओं को देना सम्भव होता है।

इन समितियों का संगठन परमित दायित्व के सिद्धान्त के आधार पर होता है। समिति के प्रत्येक सदस्य को कम से कम एक हिस्सा (share) खरीदना अनिवार्य होता है। सब सदस्यों की एक साधारण सभा होती है।

साधारण सभा पंचायत या प्रबन्ध कारिणी समिति का निर्वाचन करती है। समिति के कार्य-संचालन का भार प्रबन्धकारिणी समिति पर होता है। साधारणतया अवैतनिक मंत्री ही कार्य करता है किन्तु समिति के बहुत बड़ी हो जाने पर वैतनिक प्रबन्धक या मैनेजर भी रक्खा जाता है। वर्ष के अन्त में लाभ का बँटवारा सदस्यों में खरीद के हिसाब से हो जाता है।

हमारे देश में क्रय समितियों की स्थापना बहुत ही कम संख्या में हुई है। बंगाल और बम्बई के प्रान्तों में अन्य प्रान्तों की तुलना में इनकी संख्या अधिक है। किन्तु जो समितियाँ खुली भी हैं उनकी दशा सन्तोषजनक नहीं है। इन समितियों के असफल होने का मुख्य कारण त्रुटिपूर्ण प्रबन्ध है। समिति के सदस्यों की उदासीनता भी इनके असफल होने के लिये आंशिक रूप में जिम्मेदार हैं। सदस्यों की उदासीनता का एक प्रमुख कारण यह है कि इस प्रकार की समितियाँ पूरे साल भर काम नहीं कर सकतीं। वे वर्ष के कुछ ही समय तक, जब कि खेती के लिये आवश्यक सामानों की आवश्यकता होती है, काम करती हैं और उसके बाद उनके लिए कोई कार्य नहीं रह जाता। शुद्ध क्रय-समितियों का कार्य साख-समितियों के द्वारा ही बड़ी सुगमता से सम्पादित किया जा सकता है। जब कभी साख-समिति का कोई सदस्य किसी वस्तु के खरीदने के लिए ऋण ले तो उसे रुपया न देकर वह वस्तु ही आवश्यक मात्रा में खरीद कर दी जा सकती है। दूसरा उपाय यह है कि खरीद और बिक्री दोनों कार्यों के लिए एक ही प्रकार की समिति का संगठन हो जो किसानों और कारी-

गरों की वस्तुओं की बिक्री तथा उनके लिए आवश्यक सामानों की खरीद दोनों का कार्य करे।

विक्रय-समितियाँ (sale societies)

किसानों और कारीगरों को अपने माल की बिक्री में गाँव के महाजन, या अन्य व्यापारियों और दलालों की नाजायज हरकतों का किस प्रकार शिकार बनना पड़ता है और किस प्रकार वे अपनी वस्तुओं की उचित कीमत प्राप्त करने से वंचित रह जाते हैं, इसका वर्णन पहले एक अध्याय में किया जा चुका है। इसकी पुनरावृत्ति की यहाँ पर कोई आवश्यकता नहीं। केवल इतना ही स्मरण रखना पर्याप्त होगा कि किसानों और कारीगरों की दयनीय आर्थिक स्थिति का एक मुख्य कारण उनके समान की विक्री सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की असुविधायें हैं। इन असुविधाओं को दूर करने के लिए विभिन्न स्थानों में सहकारी विक्रय समितियों की स्थापना हुई है। विक्रय समितियाँ भी क्रय-समितियों की भाँति होती हैं। इनका उद्देश्य अपने सदस्यों के माल को ऊँची कीमत पर बेचना होता है। इनका संगठन भी परिमित दायित्व (limited liability)के आधार पर होता है। प्रत्येक सदस्य को समिति का एक हिस्सा (share) खरीदना अनिवार्य होता है। व्यापारियों और महाजनों की संगठित प्रतिद्वन्द्विता का सामना करने के लिए यह आवश्यक होता है कि विक्रय-समितियों का आकार बड़ा हो और उनमें अधिक सदस्य हों। यही कारण है कि एक विक्रय-समिति तीन-चार गाँवों के लिए पर्याप्त समझी जाती है। जो लोग फसल उत्पन्न करते हैं और उन्हें फसल बेचना होता है वे ही समिति के सदस्य हो सकते हैं। सब

सदस्यों की एक साधारण सभा होती है। साधारण सभा प्रबन्ध-समिति का चुनाव करती है। कार्य-संचालन का भार प्रबन्ध समिति के ऊपर होता है। समिति की सफलता के लिए आवश्यक होता है कि प्रबन्ध-समिति में ऐसे ही लोग रक्खे जायँ जो व्यापारिक जीवन से भली भाँति परिचित हों और जिनका झुकाव व्यापार की ओर विशेष हो।

फसल तैयार हो जाने पर प्रत्येक सदस्य अपनी फसल का वह भाग जो उसे बेचना होता है समिति के पास जमा कर देता है। उसकी तात्कालिक आवश्यकतों को ध्यान में रखते हुए समिति मोटे दर से रक्खी हुई फसल का आधा मूल्य उसी समय दे देती है। बाकी कीमत पैदावार के बिक जाने पर चुकाती है।

समिति को लाभ का २५% भाग या चौथाई हिस्सा रक्षित कोष (raserve fund) में नियमपूर्वक रखना होता है। शेष लाभ सदस्यों में उनकी पैदावार के अनुपात से बाँट दिया जाता है।

हमारे देश में विक्रय समितियों की स्थापना तो अवश्य हुई है किन्तु उनकी संख्या भी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए नगण्य ही के बराबर है। इस प्रकारकी समितियों की संख्या, जो गाँवों में कार्य कर रही हैं, २०००से नीचे ही है। संख्यामें कमी तो है ही। इसके साथ साथ अधिकांश समितियों की दशा भी अच्छी नहीं है। इन समितियों के मार्ग में बहुत सी कठिनाइयाँ हैं जिन्हें इनको सफल बनाने के लिये शीघ्रातिशीघ्र दूर करना होगा। इन समितियों को महाजनों और व्यापारियों से प्रतियोगिता करनी होती है। छोटी होनेपर वे इस प्रतियोगिता में उनके सामने टिक नहीं पातीं। प्रायः यह भी देखने में आया है कि

व्यापारी और महाजन इन समितियों को भंग करने के उद्देश्य से अपने आदमियों को समितियों का सदस्य बनवा देते हैं और तरह तरह के कुचक्रों द्वारा समिति को बदनाम कर देते हैं जिससे इन समितियों के सम्बन्ध में जनता में भ्रम फैल जाता है और वे इस कार्य में कोई उत्साह नहीं दिखाती। इन समितियों को अपना कार्य चलाने के लिये धन की विशेष आवश्यकता होती है। समिति के पास अपनी निजी पूँजी विशेष नहीं होती और केन्द्रीय सहकारी बैंक भी पूँजी के आधार पर ही ऋण देते हैं। अतः इन समितियों के लिये आवश्यक पूँजी की भी उचित व्यवस्था करनी होगी। एक और कठिनाई इन समितियों के सामने यह होती है कि अनाजों के रखने के लिये आवश्यक गोदाम भी नहीं होते। अतः इनकी उन्नति के लिये गोदामों की व्यवस्था या अन्य प्रकार के सामान रखने का प्रवन्ध करना होगा।

विक्रय समितियों की स्थापना की ओर हमारे देश में अब तक विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। सरकार और जनता दोनों को इस ओर अत्यधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। किसानों और कारीगरों की दशा सुधारने के लिये विक्रय-समितियों की पर्याप्त संख्या में स्थापना करना अनिवार्यतः आवश्यक है। हमारे संयुक्तप्रान्त और विहार में गन्ना वेचने वाली समितियो की स्थापना हुई है। संयुक्तप्रान्त में पश्चिमी जिलों में विशेषकर इटावा, मैनपुरी आदि में घी वेचने की कई समितियाँ बन चुकी हैं और कार्य कर रही हैं। वंगाल में जूट की विक्री के लिये इन समितियों का विशेप संगठन हुआ है। किन्तु इन समितियों का सबसे अधिक सफल उपयोग बम्बई प्रान्त में रुई वेचने में हुआ है। सरकार को इस ओर अधिक ध्यान देना

चाहिये। और अधिक से अधिक संख्या में इन समितियों की स्थापना करनी चाहिये तथा इन्हें आवश्यक प्रोत्साहन, सुविधा और सहायता देनी चाहिये।

चकबन्दी समितियाँ

कृषि वाले अध्याय में पहले यह बताया जा चुका है कि अधिकांश किसानों के खेत प्रायः बहुत छोटे छोटे तथा बहुत बिखरे हुए होते हैं जिसके कारण उन्हें कई प्रकार की असुविधायें होती हैं इन असुविधाओं को दूर करने तथा खेतों की दशा सुधारने के लिये खेतों की चकबन्दी करना नितान्त आवश्यक है। इस काम के लिये जो सहकारी समितियाँ संगठित की जाती हैं उन्हे चकबन्दी समितियाँ कहते हैं।

चकबन्दी समिति की स्थापना के पूर्व सहकारी विभाग के कर्मचारी गाँव में जा कर लोगों को छोटे और बिखरे हुए खेतों से होने वाली हानियों को समझाते हैं। इसके साथ साथ चकबन्दी से होने वाले फायदों को भी समझाने का प्रयत्न करते हैं। यदि गाँव वाले चकबन्दी कराने के लिये तैयार हो जाते हैं तो गाँव भर की एक सभा का आयोजन होता है जिसमें सहकारी विभाग का कर्मचारी ग्रामीण जनता को यह बताने की कोशिश करता है कि चकबन्दी किस प्रकार की जावेगी। तत्पश्चात समिति बना ली जाती है और पंचायत का चुनाव हो जाता है। जमींदार या मौरूसी किसान ही समिति के सदस्य हो सकते हैं।

समिति के सदस्यों को चकबन्दी के लिये आवश्यक खेतों के नये बँटवारे को मानना पड़ता है। नया बँटवारा तभी सर्व मान्य समझा जाता है जब वह दो तिहाई सदस्यों द्वारा

स्वीकृत हो जाता है। नये बँटवारे के अनुसार प्रत्येक सदस्य को अपने पुराने खेतों को छोड़ देना पड़ता है। किसी प्रकार के झगड़ा उठ खड़ा होने पर उसके निपटारे के लिये पंच नियुक्त कर दिये जाते हैं जिनका फैसला सबको मानना पढ़ता है।

नये बँटवारे की रुपरेखा निश्चित करने के लिये सहकारी विभाग क कर्मचारा सर्वप्रथम गाँव की भूमि को उसकी मुख्य किस्मों में मोटेदर से निश्चित करते हैं। उत्पादकता (Fertility) के ही आधार पर भूमि की किस्में निश्चित की जाती हैं। कुओं में किसानों का कितना हिस्सा होता है और जहाँ तहाँ खेतों पर पाये जाने वाले पेड़ों का मूल्य तय कर लिया जाता है। यह सब तय कर लेने के बाद नये बँटवारे का नक़शा सब सदस्यों के सामने पेश किया जाता है। यदि सदस्यों द्वारा वह नकशा स्वीकृत हो जाता है तो वह कार्यान्वित कर दिया जाता है अन्यथा नया नक़शा फिर से तैयार होता है। जब नये बँटवारे को सब लोग मान लेते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति को नये खेत मिल जाते हैं और उन खेतों की रजिस्ट्री करा दी जाती है।

सहकारी चकबन्दी आन्दोलन का सूत्रपात सर्वप्रथम सन् १९२०-२१ ई० में पंजाब प्रान्त में हुआ। और वहाँ यह आन्दोलन विशेष रूप से सफल भी हुआ है। लाखों एकड़ भूमि की चकबन्दी वहाँ चकबन्दी समितियों द्वारा हो चुकी हैं। हमारे संयुक्त प्रान्त में भी कुछ इस प्रकार की समितियाँ खुली हैं। ऐसी समितियाँ विशेष कर प्रान्त के पश्चिमी जिलों में और उनमें भी विशेष कर सहारनपुर और बिजनौर जिलों में पाई जाती हैं। फिर भी हमारे

प्रान्त में इनकी संख्या बहुत कम है। पंजाब को छोड़ कर अन्य प्रान्तों में भी इस प्रकार की समितियों की संख्या अधिक नहीं है। बड़ोदा और काश्मीर रियासतों में चकबन्दी समितियों ने सन्तोषजनक प्रगति दिखाई है।

रहन-सहन सुधार समितियाँ

(Better living societies)

इन समितियों का उद्देश्य ग्रामीण जनता के रहन-सहन को उन्नतिशील बनाना है। हानिकारक सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं को समूल नष्ट करना, जनता के अन्ध-विश्वासो को दूर करना तथा सफाई और स्वास्थ्य सम्बन्धी उत्तम प्रकार की आदतों का सृजन करना ही इन समितियो का प्रधान उद्देश्य होता है। इनका कोई एक निश्चित कार्य नहीं होता बल्कि सामान्य तौर पर लोगों के रहन सहन में वांछनीय परिवर्तन लाने के लिये ये समितियाँ प्रयत्नशील रहती हैं। हमारे ग्रामीण किसानों में धार्मिक और सामाजिक कृत्यों के अवसरों पर अपव्ययता की जो भयंकर आदत पाई जाती है उनको दूर करना इन समितियों के कार्य क्रम का एक मुख्य अंग होता है।

इन समितियों का संगठन अपेक्षाकृत सरल होता है। इनका संगठन हिस्सा-पूँजी (share capital) के आधार पर नहीं होता और सदस्यों को हिस्सा नहीं खरीदना पड़ता है। समिति के सिद्धान्तों और नियमों तथा आदेशों को पालन करने के लिए तैयार प्रत्येक व्यक्ति उसका सदस्य बन सकता है। सदस्यों को केवल नाम मात्र की प्रवेश फीस (ad-mission fee) देनी होती है। सदस्यों से किसी प्रकार का

चन्दा भी वसूल नहीं किया जाता। सब सदस्यों को मिलाकर एक साधारण सभा होती है। साधारण सभा द्वारा निश्चित किये गये सब नियमों का पालन सदस्यों को करना होता है। जो सदस्य किसी नियम का उल्लंघन करता है उसे दण्ड दिया जाता है। ग्राम-सुधार के लिए एक वार्षिक योजना प्रतिवर्ष बनायी जाती है। योजना-सम्बन्धी नियम भी बना दिये जाते हैं और इन नियमों के अनुसार सदस्यों को कार्य करना पड़ता है। रहन-सहन के सुधार समितियाँ वास्तव में ग्राम-सुधार का कार्य करती हैं।

रहन-सहन सुधार समितियों का प्रचार संयुक्त प्रान्त और पंजाब में अन्य प्रान्तों की अपेक्षा अधिक हुआ है। पंजाब में ऐसी सैकड़ों की संख्या में समितियाँ कार्य कर रही हैं। इन समितियों ने लोगों में मितव्ययता का प्रशंसनीय प्रचार किया है। पंजाब में इस प्रकार की ३०० से अधिक समितियाँ कार्य कर रही हैं। इस प्रकार की समितियों का अत्यधिक प्रचार करना जरूरी है। इनसे ग्रामोत्थान में पर्याप्त मदद ली जा सकती है।

उपभोक्ता सहकारी स्टोर्स

(Consumers Co-opertive Stores)

वस्तुओं के उत्पादकों और उपभोक्ताओं में स्वाभाविक हित-विरोध है। उत्पादकों की दृष्टि से वस्तुओं की कीमत अधिक से अधिक होनी चाहिए ताकि उनको अधिकतम लाभ हो सके। उपभोक्ताओं का हित इस बात में होता है कि सस्ते से सस्ते दाम पर उन्हें वस्तुएँ मिल सकें ताकि उचित मात्रा में वे उनका उपभोग करके सुख और सन्तुष्टि प्राप्त कर सकें।

उत्पादकों की संख्या उपभोक्ताओं से प्रायः कम ही होती है। अतः उत्पादकों का आपस में संगठित हो जाना और उपभोक्ताओं से मनचाही कीमत वसूल करना सम्भव होता है। इसके अतिरिक्त वास्तविक उपभोक्ताओं और उत्पादकों के बीच बहुत मध्यवर्ती व्यक्ति आ जाते हैं जिनके कारण वस्तुओं की कीमत और बढ़ जाती है। इसके अलावे वस्तुओं में जहाँ कहीं सम्भव होता है तरह तरह की मिलावट कर दी जाती है। इन सब असुविधाओं के दूर करने का एक मात्र उपाय उपभोक्ता स्टोर्स की स्थापना है।

उपभोक्ता स्टोर्स की स्थापना सर्वप्रथम इंगलैंड में हुई और इन स्टोर्स को महती सफलता भी प्राप्त हुई। इनकी सफलता से आकर्षित होकर दुनिया के अन्य देशों ने इनका अनुकरण किया। सन् १८४४ ई० में राकडेल (Rochdale) नामक स्थान के अट्ठाइस बुनकरों या जुलाहों (Weavers) ने मिल कर एक दूकान खोली। इन लोगों ने एक हिस्से का मूल्य एक पौंड रक्खा। प्रत्येक सदस्य को एक हिस्सा लेना पड़ा। प्रति सप्ताह दो पैंस की किश्त प्रत्येक सदस्य को चुकानी होती थी। इस प्रकार दो वर्षों में २८ पौंड पूँजी एकत्रित हुई। आरम्भ में केवल पाँच चीजों—मक्खन, शक्कर, ओट का आटा, गेहूँ का आटा तथा मोमबत्ती—के बेचने की व्यवस्था की गई। सौदा नकद दाम पर ही बेचा जाता था। उधार देने की प्रथा का भरसक विरोध किया गया। नकद दाम पर बेचने के सिवाय वस्तुओं को शुद्ध और पूरी तौल में देने का विशेष ख्याल रक्खा जाता था।

प्रत्येक सदस्य को एक ही वोट प्राप्त था। समय समय पर लाभ का वितरण सदस्यों में उनकी खरीद के अनुपात से हो जाया करता था। इस बात की भी भरसक कोशिश की जाती थी कि सदस्य अपना लाभ स्टोर्स में जमा रक्खें ताकि उसकी पूँजी बढ़ती रहे और वह अपना कार्य-पैमाना बढ़ा सके। सदस्यों को जमा की गई रकम पर कुछ सूद भी दी जाती थी। एक डेल स्टोर को अपने कार्य में बहुत सफलता प्राप्त हुई और वह धीरे-धीरे अपने सदस्यों की दैनिक आवश्यकताओं की सब वस्तुओं की पूर्ति करने लगा। इसकी सफलता के परिणाम स्वरूप इंगलैंड में बहुत से उपभोक्ता स्टोर्स खुल गये। इस आन्दोलन की सफलता से इंगलैंड के फुटकर विक्रेता शंकित हो उठे और इनको हानि पहुँचाने के लिए विभिन्न प्रकार के अनुचित उपायों का सहारा लेने लगे। उन्होंने आपस में संगठन किया और थोक विक्रेताओं पर यह दवाब डालने का प्रयत्न किया कि वे इन स्टोर्स को अधिक मूल्य पर वस्तुएँ बेचें। इस कठिनाई का सामना करने के लिए स्टोर्स ने आपस में मिल कर होल-सेल सोसायटी (Whole-sale Society) का निर्माण किया। होल-सेल सोसायटी सीधे कारखानों और मिलों से वस्तुएँ लेकर स्टोर्स को थोक मूल्य पर देने लगी। इन स्टोर्स की उन्नति निरन्तर होती रही। इस आन्दोलन में इतनी सफलता प्राप्त हुई कि अन्त में होल-सेल सोसायटी ने उन वस्तुओं को जिनकी पूर्ति स्टोर्स को की जाती थी, अपने कारखाने खोल कर उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया।

सहकारी स्टोर्स के आधारभूत नियम

(१) इनका संगठन परिमित दायित्व के सिद्धान्त के

आधार पर होता है। (२) प्रत्येक सदस्य को स्टोर के हिस्से खरीदने होते हैं और कम से कम एक हिस्सा प्रत्येक सदस्य को खरीदना होता है। सदस्यों को एक से अधिक हिस्से खरीदने की सुविधा तो दी जाती है किन्तु सदस्यों को वोट देने का अधिकार उनके हिस्सों की संख्या पर निर्भर नहीं करता। (३) प्रत्येक सदस्य को केवल एक ही वोट देने का अधिकार होता है। प्रत्येक सदस्य को स्टोर द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं को स्टोर से ही खरीदना होता है। (४) स्टोर हमेशा नकद दाम पर वस्तुओं को बेचता है। वस्तुओं की कीमत बाजार-भाव के अनुसार ही होती है किन्तु वस्तुयें शुद्ध रूप में दी जाती हैं उनमें किसी प्रकार की मिलावट नहीं की जाती है। यदि बाजार-भाव से कम कीमत पर वस्तुयें बेचना स्टोर आरम्भ कर दे तो पड़ोस के फुटकर विक्रेताओं के विरोध का सामना उसे करना पड़ेगा और इसके साथ ही साथ उसे गैर-सदस्यों के हाथ माल बेचना बन्द कर देना होगा। इस प्रकार उसके कार्य का पैमाना कम होने लगेगा। अतः बाजार भाव पर ही बेचना अधिक हितकर होता है। (५) सहकारी स्टोर्स सामान की बिक्री सदस्यों और गैर सदस्यों दोनों के हाथ करता है। (६) मुनाफे का एक चौथाई भाग रक्षित कोष (Reserve fund) में रक्खा जाता है। शेष भाग सदस्यों में उनकी खरीद के अनुपात से बाँट दिया जाता है। (७) सब सदस्यों की एक साधारण सभा होती है। सामान्य नीति निर्धारण का काम साधारण सभा करती है। स्टोर के प्रबन्ध का भार साधारण सभा द्वारा निर्वाचित प्रबन्ध-समिति के ऊपर होता है। उपभोक्ता स्टोर्स का संगठन इन्हीं आधारों पर होता है।

भारतवर्ष में उपभोक्ता स्टोर

हमारे देश में उपभोक्ता स्टोर्स की स्थापना पर्याप्त मात्रा में नहीं हुई है। कुछ स्टोर्स अवश्य खुले हैं किन्तु उनमें भी अधिकांश को समुचित सफलता नहीं प्राप्त हुई है। कालेजों, शिक्षा संस्थाओं और रेलवे द्वारा स्थापित स्टोर्स की दशा अधिक सन्तोषजनक है और उन्हीं को कुछ सफलता प्राप्त हुई है। प्रथम योरपीय महायुद्ध (१९१४–१८) के समय बहुत से स्टोर्स खोले गये। उस समय युद्ध के कारण वस्तुओं की कीमत में बहुत वृद्धि हो गई थी तथा भोज्य पदार्थों का नियन्त्रण सरकार के हाथ में था। ऐसी परिस्थिति में बहुत से स्टोर्स उपभोक्ताओं के हित के लिए खोले गये थे। युद्ध के वर्षों में उन्होंने उपभोक्ताओं की कुछ सेवायें भी की। किन्तु युद्ध के बाद वस्तुओं की कीमत घट गयी और वस्तुओं पर से सरकारी नियन्त्रण ही उठ गया। इसके साथ-साथ स्टोर्स की संख्या भी क्रमशः घटने लगी। बहुत से स्टोर्स तो दिवालिये हो गये और बहुतों ने कार्य बन्द कर दिया। भारतवर्ष में खुले स्टोर्स में सबसे अधिक और महत्वपूर्ण सफलता मद्रास के ट्रिपलीकेन स्टोर को मिली। इस स्टोर की स्थापना ९ अप्रैल सन् १९०४ ई० को हुई थी। इसके कार्य संचालन के लिए आरम्भ में केवल आठ-आठ रुपये के माहवारी वेतन पर दो कर्मचारी रक्खे गये थे। स्टोर के संयोजकों ने इसके कार्य में विशेष दिलचस्पी ली और इसके कार्य के निरीक्षण में पर्याप्त समय देने लगे। व्यय को सब प्रकार से कम करने का प्रयत्न होता रहा। इससे स्टोर आरम्भ से ही सन्तोषजनक ढंग पर कार्य करने लगा और उसे बराबर सफलता मिलती

रही। इनका आकार दिनों दिन बढ़ता गया और इसकी शाखायें भी खुलने लगीं। आज इस स्टोर की बहुत सी शाखायें कार्य कर रही हैं। कुछ शाखाओं के पास अपनी निजी इमारतें भी हैं। प्रति वर्ष यह स्टोर लाखों रुपये की वस्तुयें बेचता है। स्टोर की चुकाई हुई पूँजी (paid-up capital) एक लाख से अधिक हो गई है और इसके रक्षित कोष (reserve fund) में लगभग दो लाख रुपये जमा हो गये हैं। मद्रास के अतिरिक्त मैसूर में भी उपभोक्ता स्टोर्स को सन्तोषजनक सफलता प्राप्त हुई है। बंगलोर के स्टोर को महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। किन्तु उसका आकार ट्रिपलीकेन स्टोर से छोटा है। हमारे संयुक्तप्रान्त में स्टोर की संख्या बहुत ही सीमित है। सन् १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध के छिड़ जाने पुनः वस्तुओं की कीमत तीव्र गति से बढ़ने लगी और पूर्ति की कमी और सरकारी नियन्त्रण के कारण उनका मिलना कठिन हो गया। ऐसी परिस्थिति में लोगों का ध्यान स्टोर्स की ओर फिर गया और सैकड़ों की संख्या में उपभोक्ता स्टोर्स की स्थापना विभिन्न स्थानों में हुई। मद्रास और बम्बई प्रान्तों में इन स्टोर्स की होल-सेल (wholesale) यूनियनों की भी स्थापना हो चुकी है जो अपने सम्बन्धित स्टोर्स के लिए उत्पादकों से थोक माल खरीदती हैं और उनके हाथ बेचती हैं। यद्यपि महायुद्ध जनित परिस्थिति में बहुत से स्टोर्स खुले हैं फिर भी देश की सीमा को ध्यान में रखते हुए उनकी संख्या अपर्याप्त ही है। जो स्टोर्स खुले हैं वे अभी कार्य कर रहे हैं किन्तु अभी यह कहा जा सकता कि सरकारी नियन्त्रणों के हट जाने तथा मन्दी आ जाने पर वे व्यापारियों की स्पर्द्धा का सफलतापूर्वक सामना कर सकेंगे या नहीं। मोटे दर से

यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में स्टोर्स आन्दोलन को उतनी सफलता नहीं प्राप्त हुई है जितनी होनी चाहिए।

भारतवर्ष में स्टोर्स अन्दोलन की असफलता के कारण

उपभोक्ता स्टोर्स की स्थापना गरीबों की दृष्टि से ही महत्व-पूर्ण होती है। धनी और सब प्रकार से साधन-सम्पन्न व्यक्तियों की इस ओर कोई रुचि या दिलचस्पी नहीं होती। जहाँ कहीं भी स्टोर्स आन्दोलन की विशेष प्रगति हुई है वह श्रमजीवियों और निम्न मध्यमवर्ग के लोगों में ही हुई है। हमारे देश में श्रमजीवी और निम्न मध्यमवर्ग के लोग अत्यन्त निर्धन और अशिक्षित हैं। इसके कारण वे संगठन के महत्व को भलीभाँति समझने में असमर्थ होते हैं। मिलों और कारखानोंमें काम करने वाले मजदूर भी किसी एक स्थान पर स्थायी रूप से कार्य नहीं करते वल्कि कुछ समय के वाद वे अपने गाँव को चले जाते हैं। इन कारणों वे जल्दी किसी प्रकार के संगठन में शरीक होना नहीं चाहते। यही वात स्टोर्स के सम्वन्ध में भी होती है। वे स्टोर्स का हिस्सा लेकर उसके सदस्य वनने में विशेष रुचि नहीं प्रदर्शित करते। अतः स्टोर्स को संख्या हमारे देश में पर्याप्त मात्रा में नहीं हो सकी है।

हमारे समाज का मध्यम वर्ग भी स्टोर्स की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ नजर नहीं आता। व्यापारिक और औद्योगिक केन्द्रों में प्रत्येक वस्तु की वहुधा वहुत अधिक दूकानें होती हैं और थोक और फुटकर कीमत में वहुत अन्तर नहीं होता। इसके अतिरिक्त फुटकर दूकानदार उपभोक्ताओं को कुछ समय के लिए उधार कीमत पर वस्तुएं देने तथा घर पर भी सामान पहुँचा देने की सुविधायें देते हैं। स्टोर्स ऐसी सुवि-धाएँ नहीं दे सकते।

एक दूसरी विशेष कठिनाई इन स्टोर्स की प्रगति में यह रही है कि इनके पास पर्याप्त मात्रा में पूँजी का अभाव रहा है। यद्यपि प्रत्येक सदस्य को स्टोर का कम से कम एक हिस्सा खरीदना पड़ता है और जो सदस्य चाहे वह एक से अधिक हिस्से भी खरीद सकता है तथापि इस प्रकार से एकत्रित पूँजी पर्याप्त नहीं हो पाती। केन्द्रीय या जिले के बैंकों से भी उन्हें ऋण की सुविधा नहीं प्राप्त होती।

एक और विशेष बाधा इन स्टोर्स की प्रगति में इनकी होल-सेल यूनियनों (Whole-sale unions) की कमी रही है। इस प्रकार की यूनियनों के अभाव में इन स्टोर्स को थोक व्यापारियों से माल खरीदना पड़ता है जो उनसे अधिक कीमत लेते हैं और स्टोर्स को अधिक लाभ नहीं हो पाता। इन विभिन्न कारणों से स्टोर्स आन्दोलन हमारे देश में अधिक जोर नहीं पकड़ सका है तथा उनकी संख्या बहुत ही सीमित है।

जो स्टोर्स हमारे देश में खुले हैं उनमें भी अधिकांश की दशा सन्तोषजनक नहीं है। वे भी एक तरह से असफल ही रहे हैं। उनकी असफलता के निम्नलिखित कारण हैं:—

(१) अधिकांश स्टोर्स के सदस्य उनके कार्यों में पर्याप्त दिलचस्पी नहीं लेते। वे एक तरह से उदासीन ही रहते हैं। वे स्टोर्स-आन्दोलन के आधारभूत सिद्धान्त को भूल जाते हैं। अधिकांश वह समझते हैं कि स्टोर्स की स्थापना केवल उनको वस्तुएँ सस्ते दामों पर देने के लिए हुई है। इसका बुरा परिणाम यह होता है कि महंगी के समय में वे स्टोर्स से सामान खरीदते हैं और बाजार-भाव सस्ता हो जाने पर फुटकर विक्रेताओं से खरीदते हैं। ऐसी दशा में स्टोरों का सुचारु रूप से चलना

असम्भव हो जाता है और वे टूट जाते हैं या गिरी दशा में किसी तरह जीवित रहते हैं।

इन स्टोर्स की असफलता का दूसरा मुख्य कारण कुप्रबन्ध और बुरे ढंग से कार्य-संचालन है। प्रबन्ध-समिति और विशेषकर मंत्री-प्रबन्धक को व्यवसायिक ट्रेनिंग और शिक्षा के अभाव के कारण उत्तम ढंग से स्टोर्स को चलाना कठिन होता है। सच्चे और ईमानदार व्यक्तियों का भी मिलना कठिन होता है जिसके कारण प्रायः स्टोर्स का चार्ज गैर जिम्मेदार और बेईमान व्यक्तियों के हाथ में पड़ जाता है और इसका वही परिणाम होता है जो ऐसी दशा में स्वाभाविक है।

एक बड़ी कठिनाई यह है कि इन स्टोर्स का हिसाब-किताब समुचित ढंग से नहीं रक्खा जाता जिससे निरीक्षण कार्य में बहुत दिक्कत उठानी पड़ती है और तिस पर भी सन्तोषजनक निरीक्षण नहीं हो पाता। किसी भी कार्य में सन्तोषजनक सफलता सन्तोषजनक निरीक्षण के अभाव में नहीं प्राप्त की जा सकती है। आर्थिक मामलों में तो यह विशेष रूप से लागू होता है और साधारण सभा की बैठक भी ठीक ढंग से नहीं होती। इंगलैंड में स्टोर्स के हिसाब-किताब का त्रैमासिक और साधारण सभा की बैठक त्रैमासिक हुआ करती है। कहीं-कहीं तो प्रत्येक माह में यह दोनों कार्य होता है। हिसाब-किताब इस प्रकार रक्खा जाता है कि किसी भी समय स्टोर की स्थिति देखी और समझी जा सकती है।

इन स्टोर्स की असफलता का एक और मुख्य कारण लाभ या मुनाफा का वितरण हिस्सों के आधार पर न कि सदस्यों की खरीद के आधार पर होना है। ब्रिटेन में स्टोर्स सदस्यों को

चुकाई गयी पूँजी (Paid-up Capital) पूँजीपर केवल ५% सूद देते हैं और रक्षित कोष(Reserve Fund) की रक़म निकाल लेने के बाद शेष मुनाफा को सदस्यों में उनकी खरीद के अनुपात से बाँट देते हैं ।

इसके अतिरिक्त स्टोर्स में सामानों का स्टाक भी ठीक ढंग से नहीं रक्खा जाता जिसके कारण बहुत सा सामान नष्ट और ख़राब होता रहता है। इन सब कारणों के संयुक्त परिणाम स्वरूप हमारे अधिकांश स्टोर्स की अवस्था असन्तोष-जनक है और वे अपने उद्देश्य में पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त कर सके हैं ।

पैंतीसवाँ अध्याय

केन्द्रीय सहकारी संस्थायें

केन्द्रीय सहकारी संस्थाओं की स्थापना प्रारम्भिक सहकारी समितियों की सहायता के लिये होती है। प्रारम्भिक समितियों के पास जब आवश्यक पूँजी की कमी होती है उस समय वे केन्द्रीय संस्थाओं से ऋण लेकर अपना कार्य चलाती हैं। सहकारी समितियों को यों तो अपने लिये कार्यशील पूँजी (working capital) डिपाजिट आकर्षित करके इकट्ठी करनी चाहिये किन्तु प्रायः देखने में आता है कि हमारे देश में सहकारी समितियाँ जनता से डिपाजिट आकर्षित करने में असफल रही हैं। अतः उनके लिये आवश्यक ऋण की व्यवस्था करने के लिए केन्द्रीय संस्थाओं का होना नितान्त आवश्यक है।

प्रारम्भिक सहकारी समितियों के कार्य संचालन और देख-रेख का भार उनकी प्रबन्ध-समिति के ऊपर होता है। किन्तु हमारे देश में अशिक्षा और अज्ञानता के कारण समिति के अधिकांश सदस्य अनपढ़ और अशिक्षित होते हैं जिससे इन समितियों को अपना कार्य सुचारुरूप से चलाना भी असम्भव होता है। अतः समितियों के कार्य की देख-भाल और निगरानी के लिये भी केन्द्रीय संस्थाओं की आवश्यकता होती है। केन्द्रीय संस्थायें प्रारम्भिक समितियों को ऋण देने के अतिरिक्त उनके आय का निरीक्षण करती हैं और उन्हें सहकारी

शिक्षा और उचित परामर्श देने का कार्य करती हैं। प्रत्येक प्रान्त में सहकारी यूनियनों की स्थापना हुई है। इन यूनियनों को उनके कार्य के अनुसार दो नामों से पुकारा जाता है। एक प्रकार की यूनियन को गारंटी यूनियन (guarantee) और दूसरे प्रकार की यूनियन को सुपरवाइजिंग यूनियन (supervising union) कहते हैं।

गारंटी यूनियन (Guarantee union)

लगभग तीस या चालीस प्रारम्भिक सहकारी साख समितियाँ मिलकर अपना एक गारंटी यूनियन बनाती हैं। गारंटी यूनियन का मुख्य काम सदस्य समितियों (Member societies) द्वारा लिये हुए ऋण की अदायगी या भुगतान की गारंटी देना होता है। गारंटी यूनियन की सदस्य बनने वाली प्रत्येक प्रारम्भिक समिति अपनी साधारण सभा की बैठक में इस बात का निश्चय करती है कि यदि गारंटी यूनियन से सम्बन्धित कोई समिति फेल कर जाती है और दिवालिया हो जाती है तो वह उस दिवालिया समिति के ऋण का भुगतान करने के लिए जिम्मेदार होगी। इस तरह सब सदस्य समितियाँ एक निश्चित रकम की गारंटी देती हैं। यूनियन की कुल गारंटी की रकम सब सदस्य समितियों के गारंटी की रकमों को जोड़ देने से मालूम हो जाती है। जब कोई सदस्य समिति केन्द्रीय बैंक से कर्ज लेती है तो यूनियन इस कर्जे के भुगतान की गारंटी बैंक को देती है।

गारंटी यूनियन की स्थापना सर्वप्रथम बर्मा में हुई। मैकलागन समिति (Macalgan committee) ने इस

प्रकार की यूनियनों की स्थापना पर विशेष जोर दिया। उक्त समिति की राय में गारंटी यूनियन उधार लेने वाली प्रारम्भिक सहकारी साख समितियों और उधार देने वाले केन्द्रीय बैंकों (central Banks) में सम्पर्क स्थापित करने का काम करेंगी। इस समिति की सिफारिश के ही आधार पर बम्बई, मध्यप्रान्त, संयुक्तप्रान्त, बिहार और उड़ीसा, बंगाल में इस प्रकार की यूनियनों की नींव पड़ी। किन्तु इनमें से अधिकांश असफल रहीं टूट गई। प्रारम्भिक सहकारी साख समितियों का संगठन अपरिमित दायित्व के सिद्धान्त के आधार पर होता है अर्थात् समिति के असफल होने पर उसका ऋण किसी भी एक सदस्य से ही वसूल किया जा सकता है। अतः ऐसी दशा में गारंटी यूनियन से कोई विशेष लाभ की सम्भावना नहीं होती।

सुपरवाइजिंग यूनियन (Supervying union)

निरीक्षक यूनियनों का मुख्य काम सदस्य समितियों के कार्यों की देख भाल करना तथा उन्हें उचित और आवश्यक परामर्श देना है। इसके अतिरिक्त ये अपने क्षेत्र में नवीन समितियों के संगठन के लिये भी प्रयत्न करती हैं। सदस्य समितियों को सहकारी शिक्षा देने का भी कार्य इस प्रकार की यूनियन करती है।

सुपरवाइजिंग यूनियन में सम्मिलित होने वाली प्रत्येक प्रारम्भिक सहकारी साख समिति अपना प्रतिनिधि यूनियन की साधारण सभा में भेजती है। यूनियन की साधारण सभा यूनियन के कार्य-संचालन के लिये एक प्रवन्धक समिति (managing committee) का चुनाव करती है। प्रवन्धक

समिति सदस्य समितियों के कार्य का निरीक्षण करने के लिये तथा उनको उचित परामर्श देने के लिए एक वैज्ञानिक सेक्रेटरी तथा एक सब-कमेटी (Sub Committee) की नियुक्ति करती है। प्रत्येक सदस्य समिति को अपनी पूँजी के अनुसार यूनियन को चन्दा देना पड़ता है। प्रायः एक तहसील या एक ताल्लुके के लिए एक ही यूनियन होती है। एक यूनियन के अन्तर्गत लगभग २० से ४० सदस्य समितियाँ होती हैं।

निरीक्षक या सुपरवाइजिंग यूनियनें सहकारी साख समितियों की सफलता के दृष्टिकोण से बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। बम्बई प्रान्त में इस प्रकार की यूनियनों की संख्या अधिक है और वहाँ उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है। वहाँ इस बात का प्रयत्न हो रहा है कि कोई भी कृषि सहकारी साख समिति ऐसी न रहने पावे जो किसी न किसी निरीक्षक यूनियन से सम्बन्धित न हो। मद्रास प्रान्त में लगभग ४०० के ऐसी यूनियनें कार्य कर रही हैं। बिहार और उड़ीसा में दो तरह की यूनियनें संगठित हुई हैं—एक का काम केवल सदस्य समितियों के आय-व्यय का निरीक्षण करना होता है, दूसरी का काम सामान्य देख भाल और निगरानी करना होता है। हमारे संयुक्त प्रान्त और पंजाब में भी निरीक्षक यूनियनों के स्थान पर प्रान्तीय यूनियन (Provincial Union) या सहकारी संस्था (Co-oprative Institute) कार्य करती है। निरीक्षक यूनियनों का सम्बन्ध प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय सहकारी यूनियन अथवा इंस्टिट्यूट (Institute) के साथ होता है। प्रान्तीय यूनियन इन निरीक्षक यूनियनों के संगठन और देख-भाल का काम करती हैं।

प्रान्तीय सहकारी यूनियन

(Provincial Co-operative Union)

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि प्रत्येक प्रान्त में एक प्रान्तीय सहकारी यूनियन होती है जिससे अन्य निरीक्षक यूनियनें सम्बन्धित होती हैं। इस प्रान्तीय यूनियन के ऊपर निरीक्षक यूनियनों के संगठन और निरीक्षण का भार तो होता ही है। किन्तु इसका मुख्य कार्य प्रान्त के उन सभी व्यक्तियों और संस्थाओं को. जिनको सहानुभूति सहकारिता आन्दोलन के साथ होती है या जो सहकारी कार्यों में किसी प्रकार की रुचि प्रदर्शित करते हैं, एक सूत्र में संगठित करना होता है। इसी को दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि प्रान्तीय सहकारी यूनियन के ऊपर अपने प्रान्त में सहकारी आन्दोलन के नेतृत्व करने का भार होता है। इस उत्तरदायित्व के पालन करने के लिए उसे निम्नलिखित कार्यों की ओर विशेष ध्यान देना होता है:—

(क) सहकारिता आन्दोलन सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का भली भाँति अध्ययन कर उनके विभिन्न पहलुओं पर पर्याप्त आवश्यक प्रकाश डालना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रति वर्ष साधारणतया एक सम्मेलन का आयोजन होता है जिसमें प्रान्त के विभिन्न भागों से कार्यकर्ता भाग लेते हैं और सहकारिता विषयक समस्याओं पर विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।

(ख) सहकारिता का विशेष प्रकार से प्रचार करना। इसके लिए आवश्यक पुस्तकों समाचार पत्रों और पत्रिकाओं के निकालने और लोगों में वितरित करने का आयोजन

करना भी इसी प्रान्तीय सहकारी यूनियन का उत्तरदायित्व होता है।

(ग) प्रान्त में सहकारी शिक्षा की व्यवस्था करना और उसके लिए आवश्यक स्कूलों या पाठशालाओं का निर्माण करना और उनके कार्यों का निरीक्षण करना।

(घ) प्रान्तीय सहकारी विभाग और प्रधान कर्मचारी रजिस्ट्रार को प्रान्त की सहकारिता विषयक मामलों में उचित राय और परामर्श देना।

इन कार्यों के अतिरिक्त कहीं-कहीं प्रान्तीय यूनियनों के ऊपर सहकारी समितियों के संगठन, निरीक्षण आदि का भी भार होता है।

सहकारी केन्द्रीय बैंक
(Co-operative central Bank)

सहकारी साख-समितियों को अपना कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है। आरम्भ में यह सोचा गया था कि आवश्यक पूँजी का प्रबन्ध समितियों द्वारा जनता से आकर्षित डिपाजिटों (deposits) से हो जायेगा। किन्तु यह आशा केवल दुराशा ही निकली। सहकारी साख समितियों में जनता ने रुपया जमा करने को कोई रुचि नहीं दिखलाई इसका एक मुख्य कारण तो यह था कि ग्रामीण जनता अधिकतर निर्धन होती है और उसके लिए जीवन रक्षक पदार्थों को प्राप्त करना कठिन होता है। लोगों के पास रुपया जमा करने के लिए होता ही नहीं। जिनके पास थोड़ा बहुत कुछ होता भी है वे इस प्रकार रुपया जमा करने के अभ्यस्त नहीं होते। इसका परिणाम यह हुआ कि

सहकारी साख-समितियों को कार्यशील पूँजी (working capital) की कमी होने लगी। सरकार का ध्यान इस ओर गया। और सन् १९०४ ई० के सहकारिता कानून की, जिसमें केवल नगर तथा ग्राम्य साख-समितियों की स्थापना की व्यवस्था की गई थी, इस दिशा में कमी स्पष्ट हो गई। यह विचार उत्पन्न हो सकता है कि क्या शहरों में स्थित बड़े-बड़े बैंक इन समितियों की पूँजी सम्बन्धी कठिनाई को दूर नहीं कर सकते थे। कर सकते थे और अवश्य कर सकते थे। किन्तु ये बैंक इन समितियों को रुपया उधार देना नहीं चाहते और नहीं देते हैं। उनकी इस अनिच्छा के कारण इन प्रारम्भिक समितियों की दूरी, उनके कार्य के विशेष स्वभाव, उनकी व्यक्तिगत साख पर निर्भरता तथा उनके निरीक्षण सम्बन्धी कठिनाइयाँ हैं। अतः इस बात की आवश्यकता महसूस हुई कि कुछ ऐसे सहकारी बैंक स्थापित किये जायँ जो इन प्रारम्भिक साख-समितियों की पूँजी की कठिनाई को उन्हें आवश्यक ऋण देकर दूर कर सकें। अतः सन् १९१२ ई० में जब सहकारिता सम्बन्धी दूसरा कानून पास हुआ तो उसमें इस प्रकार के बैंकों के खोलने की व्यवस्था की गई। उसी समय से सहकारी केन्द्रीय बैंकों की स्थापना होने लगी।

सहकारी केन्द्रीय बैंक के भेद

सहकारी केन्द्रीय बैंकों के दो मुख्य भेद किये जा सकते हैं। एक प्रकार के केन्द्रीय सहकारी बैंक वे होते हैं जिनके सदस्य केवल सहकारी केन्द्रीय समितियाँ ही हो सकती हैं। दूसरे प्रकार के सहकारी केन्द्रीय बैंकों के सदस्य व्यक्ति तथा सहकारी समितियाँ दोनों हो सकती हैं।

सहकारी केन्द्रीय बैंक का संगठन

प्रायः प्रत्येक तहसील के लिए एक सेन्ट्रल बैंक होता है। कहीं-कहीं जिले भर के लिये एक ही सेन्ट्रल बैंक होता है। तब वह जिला सहकारी बैंक के नाम से पुकारा जाता है। सेन्ट्रल बैंक का संगठन हिस्से (shares) के आधार पर होता है। हिस्सेदारों की एक साधारण सभा होती है। साधारण सभा के प्रत्येक सदस्य को केवल एक वोट प्राप्त होता है। सेन्ट्रल बैंकों के प्रबन्ध करने वाली समिति को बोर्ड-ऑफ-डायरेक्टर्स (Board of Directors) कहते हैं। बैंक की साधारण सभा ही बोर्ड-ऑफ-डायरेक्टर्स का चुनाव करती है। प्रायः बोर्ड-ऑफ-डायरेक्टर्स के सदस्यों की संख्या अधिक होती है। अतः बैंक का काम चलाने के लिये बोर्ड-ऑफ-डायरेक्टर्स अपने सदस्यों में से कुछ कमेटियाँ बना देता है। ये समितियाँ ही बैंक का कार्य चलाती हैं। बैंक का एक मैनेजर होता है। उसी की राय से बैंक का दैनिक काय अवैतनिक मन्त्री अथवा मैनेजिंग डायरेक्टर करता है। डायरेक्टरों को वेतन नहीं मिलता। हमारे संयुक्त प्रान्त और उत्तरी भारत के कुछ अन्य प्रान्तों में भी प्रायः बैंक का चेयरमैन जिलाधीश अथवा कोई अन्य उच्च सरकारी कर्मचारी होता है। परन्तु अधिकांश प्रान्तों में चेयरमैन गैर-सरकारी व्यक्ति ही होता है। बोर्ड-ऑफ-डायरेक्टर्स (Board of Directors) में भी सहकारी साख समितियों के ही प्रतिनिधि अधिक संख्या में होते हैं। इन बैंकों का संगठन परिमित दायित्व (limited liability) के आधार पर होता है।

कार्यशील पूँजी (Working capital)

सहकारी सेन्ट्रल बैंको की पूँजी के चार मुख्य साधन होते हैं:—(१) हिस्सा पूँजी (Share-capital) ।

(२) रक्षित कोष (Reserve fund) ।

(३) डिपाजिट (Deposits) ।

(४) अन्य बैंकों अथवा सरकार से प्राप्त ऋण (Loans) प्रायः केन्द्रीय सहकारी बैंकों के शेयर या हिस्सा का मूल्य ५० से लेकर १०० रुपये तक होता है। सहकारी साख समितियों को अपने ऋण के अनुपात से हिस्से खरीदने पड़ते हैं। सहकारी कानून के अनुसार प्रत्येक सहकारी बैंको को अपने वार्षिक लाभ का चौथाई भाग रक्षित कोष में जमा कर देना होता है। हिस्सों (Shares) से प्राप्त रकम तथा रक्षित कोष की रकम बैंकों की निजी पूँजी होती है। जनता के डिपाजिटों से प्राप्त रकम तथा ऋण द्वारा प्राप्त रकम बैंक की उधार ली हुई पूँजी (Borrowed capital) होती है । प्रत्येक प्रान्त में प्रायः केन्द्रीय बैंकों की इस प्रकार की दोनों तरह की पूँजियों—निजी और उधार ली हुई—में निश्चित अनुपात होता है और साधारणतया यह अनुपात १ और ८ का होता है अर्थात् उधार ली जाने वाली पूँजी निजी पूँजी की अठगुनी होती है। सदस्यों और गैर सदस्यों की डिपाजिटों से ही उधार ली गई पूँजी का अधिकांश भाग बना होता है। सन् १९४२-४३ ई० में सहकारी केन्द्रीय बैंकों के पास व्यक्तियों और अन्य स्रोतों से प्राप्त डिपाजिट की रकम २६७ करोड़ रुपये थी और प्रारम्भिक समितियों की डिपाजिट की रकम ५ करोड़ रुपये थी।

केन्द्रीय सहकारी बैंको में साधारणतया दो ही तरह की डिपाज़िटें होती हैं—(१) मुद्दती (fixed) और (२) सेविंगस (savings)। चालू खाता (current account) का रिवाज कम होता है। कुछ ही स्थानों में कुछ इने गिने सहकारी केन्द्रीय बैंक चालू खाता (current account) जिसमें से जमा करने वाला जब चाहे अपनी इच्छा के अनुसार रुपया निकाल सकता है, रखते हैं।

जब इस प्रकार के बैंकों का काम निजी पूँजी तथा डिपा॰ जिटों से प्राप्त रकम से नहीं चल पाता है तो वे ऋण भी लेती हैं। इन बैंकों को प्रायः ऋण देने वाली संस्था प्रान्तीय सहकारी बैंक (Provincial Co-oprative Bank) होती है। हमारे संयुक्तप्रान्त में सहकारी विभाग के रजिस्ट्रार की अनुमति से सहकारी केन्द्रीय बैंक आपस में एक दूसरे को ऋण दे सकते हैं। अन्य प्रकार के बैंकों या सरकार से भी ऋण लेने का अधिकार इन बैंकों को होता है। सन् १९४२-४३ ई० में अन्य बैंकों, अन्य सहकारी बैंकों और प्रान्तीय बैंकों से समस्त सहकारी बैंकों द्वारा उधार ली गई रकम ३·१ करोड़ रुपये थी और सरकार से ऋण ली गई कुल रकम ६६ लाख रुपये थी।

सहकारी केन्द्रीय बैंकों के मुख्य कार्य

इन बैंकों का मुख्य काम सम्बन्धित सहकारी साख समितियों तथा गैर साख समितियों को ऋण देना है। कुछ प्रान्तों और देशी रियासतों में व्यक्तियों को भी ऋण दिया जाता है किन्तु इस प्रथा का क्रमशः अन्त होता जारहा है। समितियों को ऋण देने में प्रायः इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि जितने समय के लिये डिपाजिट मिलते हैं उतने ही समय तक

के लिये ऋण भी दिये जाँय और जहाँ अधिक लम्बे समय के लिये रुपया उधार दिया जाता है वहाँ प्रायः डिपाज़िटें भी अपेक्षा कृत अधिक समय तक के लिये प्राप्त होती हैं। सन् १९४२-४३ के समाप्ति तक सहकारी केन्द्रीय बैंकों द्वारा सहकारी समितियों को ऋण रूप में दी गई रक़म १८ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी। कतिपय सहकारी केन्द्रीय बैंक व्यक्तियों को भी ऋण देने की प्रथा का अनुसरण करते हैं। इस बात का संकेत ऊपर किया जा चुका है। सन् १९४२-४३ ई० में इन बैंकों द्वारा व्यक्तियों को उधार दी गई रकम ३ करोड़ रुपये की थी।

सहकारी केन्द्रीय बैंक अपरिमित दायित्व (unlimited liability) के आधार पर संगठित समितियों को प्रोनोट या बॉण्ड (Bond) पर ही ऋण दे देते हैं। दायित्व के अपरिमित होने के कारण उनका प्रोनोट ही यथेष्ट जमानत समझा जाता है। अन्य प्रकार की सहकारी समितियों को प्रोनोट के अतिरिक्त कुछ सम्पत्ति भी गिरवी या बन्धक में रखनी होती है। ऋण देने के पहले बैंक यह जानने की कोशिश करता है कि किसी समिति को अधिक से अधिक कितना ऋण दिया जा सकता है। इसके लिये प्रत्येक सहकारी केन्द्रीय बैंक अपने से सम्बन्धित समितियों की हैसियत के अनुसार उनकी अधिकतम साख (Manimum credit) निश्चित कर लेता है।

ये बैंक अपने वार्षिक लाभ का एक चौथाई भाग रक्षित कोष (Reserve fund) में जमा करते हैं और लाभ का शेष भाग हिस्सेदारों में डिविडेन्ड (Dividend) के रूप में वितरित कर दिया जाता है। सन् १९४२-४३ ई० में देश के

५८६ सहकारी केन्द्रीय बैंकों का नकद लाभ (Net Profit) ४५ लाख रुपये था। हिस्सेदारों में लाभ का वितरण ३ से लेकर ५ प्रतिशत की दर से विभिन्न भागों में हुआ किन्तु अधिकतर ४% की दर से ही लाभ का वितरण हिस्सेदारों में हुआ। प्रायः इन बैंको के उपनियमों द्वारा हिस्सेदारों को मिलने वाले अधिक से अधिक लाभ की दर भी निश्चित कर दी जाती है जिससे अधिक लाभ उन्हें नहीं प्राप्त हो सकता है।

सहकारी केन्द्रीय बैंक अपने से सम्बन्धित समितियों के कार्यों की निगरानी और देख भाल भी करते हैं। इस कार्य को समुचित ढंग से करने के लिये बैंकों को कुछ कर्मचारियों के रखने की आवश्यकता होती है। ये कर्मचारी जिन्हें सुपरवा-इजर कहते हैं समितियों द्वारा ऋण के लिये दिये गये प्रार्थना-पत्रों की जाँच करते हैं और बैंक को उसके सम्बन्ध में अपनी राय देते हैं। सुपरवाइजर का यह भी काम होता है कि सदस्य समितियों (Member Societies) के सदस्यों की हैसियत का लेखा तैयार करे। इसके साथ साथ वह समितियोंको अपने सदस्यों से रुपया वसूल करने में भी सहायता प्रदान करता है। कुछ प्रान्तों में तो सुपरवाइजरों को समितियों का हिसाब भी रखना होता है। इन कार्यों के अतिरिक्त इन कर्मचारियों को नवीन सहकारी समितियों के स्थापित करने का भी कार्य करना होता है। यह तभी होता है जब कि नवीन सहकारी समितियों की स्थापना के लिए विशेष कर्मचारी नहीं रक्खे जाते।

सहकारी केन्द्रीय बैंकों का निरीक्षण

सहकारी केन्द्रीय बैंकों के कार्यों का निरीक्षण प्रान्तीय

सहकारी विभाग के अध्यक्ष, जिसे रजिस्ट्रार कहते हैं, द्वारा नियुक्त कर्मचारियों द्वारा होता है। रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त आडिटर (Auditors) इन बैंकों के हिसाब-किताब की जाँच करते हैं। जाँच करने के बाद आडिटर अपनी रिपोर्ट रजिस्ट्रार के पास भेज देता है। प्रत्येक सहकारी केन्द्रीय बैंक अपने लेन-देन का वार्षिक लेखा जिसे बैलेन्स-शीट (Balance Sheet) कहते हैं तैयार करता है। आडिटर की रिपोर्ट के साथ बैलेन्स-शीट को रजिस्ट्रार और बैंक के हिस्सेदारों के पास बैंक को भेजना पड़ता है।

छत्तीसवाँ अध्याय

प्रान्तीय सहकारी बैंक

(Provincial co-operative banks)

अधिकांश प्रान्तों में प्रान्तीय सहकारी बैंक स्थापित हैं। प्रान्तीय सहकारी बैंक की स्थापना की सिफारिश सर्वप्रथम सन् १९१५ ई० में मैकलेगन कोआपरेटिव कमेटी (Maclagan co-operative committee) ने की थी। उसी समय से इन बैंकों की स्थापना क्रमशः प्रान्तों में होती गई। प्रान्तीय सहकारी बैंक अपने प्रान्त में सहकारिता आन्दोलन का सिरा (Apex) होता है।

प्रान्तीय सहकारी बैंक का संगठन

इन बैंकों का संगठन परिमित दायित्व (Limited liability) के सिद्धान्त के आधार पर होता है। अधिकांश प्रान्तीय सहकारी बैंक मिश्रित ढंग के हैं अर्थात् उनके सदस्यों में सहकारी समितियाँ, सहकारी केन्द्रीय बैंक और व्यक्ति सभी सम्मिलित होते हैं।

प्रान्तीय सहकारी बैंकों के कार्य

इन बैंकों का मुख कार्य अपने प्रान्त के सहकारी केन्द्रीय बैंकों में सम्बन्ध स्थापित करना है तथा उनकी सहायता और देख-रेख करना है। प्रान्तीय सहकारी बैंक सहकारी केन्द्रीय बैंकों की अतिरिक्त पूँजी (Surplus capital)

को अपने पास जमा करता है और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें ऋण भी देता है इस प्रकार प्रान्तीय सहकारी बैंक सहकारी केन्द्रीय बैंकों के कार्यों का सम्बद्धकरण और नियंत्रण करता है। प्रान्तीय सहकारी बैंक व्यक्तियों को भी ऋण देते हैं। सन् १९४२-४३ ई० के निम्नलिखित आँकड़ों से इन बैंकों के इस कार्य का अनुमान लगाया जा सकता है:—

प्रान्तीय बैंक (Provincial banks) वर्ष में उधार दीगई रक़म (Loans)	१९४२-४३ रुपयों में
व्यक्तियों (Individuals) को	३, ९५, ३३, ०००
बैंकों और समितियों को	६, ००, २७, ०००
योग	९, ९५, ६०, ०००

प्रान्तीय सहकारी बैंक द्रव्य बाजार (Money market) और सहकारी साख आन्दोलन के बीच भी सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य करता है। इसके लिये यह आवश्यक होता है कि सहकारी केन्द्रीय बैंक अन्य प्रकार के बैंकों से अपना सम्बन्ध प्रान्तीय सहकारी बैंक के द्वारा ही स्थापित करें। प्रान्तीय बैंकों पर भली भाँति अनुशासन और नियंत्रण स्थापित रखने के लिये यह भी आवश्यक होता है कि वह सहकारी केन्द्रीय बैंकों को आपस में एक दूसरे को ऋण न देने दे।

प्रान्तीय सहकारी बैंक की पूँजी

इन बैंकों की पूँजी के निम्न लिखित मुख्य स्रोत (Sources) होते हैं:—

(१) हिस्सेदारों से प्राप्त शेयर-पूँजी (Share capital) ।

(२) रक्षित कोष (Reserve fund) की रक़म।

(३) सहकारी समितियों तथा सामान्य जनता की डिपाजिटों से प्राप्त रक़म।

(४) सहकारी केन्द्रीय बैंकों की डिपाजिट से प्राप्त रकम।

(५) सरकारी डिपाजिट तथा अन्य साधनों से प्राप्त रक़म। इन बैंकों की अधिकांश पूँजी डिपाजिटों में ही प्राप्त होती है। शेयर पूँजी से केवल ५% पूँजी प्राप्त होती है। रक्षित कोष की रकम भी लगभग इतनी ही होती है। सन् १९४२-४३ के निम्नलिखित आँकड़ों से इन बैंकों की आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।

प्रान्तीय बैंक, १९४२-४३.
(Provincial Banks),

कार्यशील पूँजी (Working Capital)—	रूपयों में
शेयर पूँजी	७८४१,०००
रक्षित और अन्य कोष	१,५५,०९,०००
व्यक्तियों द्वारा डिपाजिट	७,२६,१२,०००
प्रान्तीय और केन्द्रीय बैंकों की डिपाजिट और उनसे प्राप्त ऋण	४,६१,७६,०००
सहकारी समितियों की डिपाजिट	२,३९,७८,०००
सरकारी डिपाजिट या ऋण	५३,९०,०००
योग	१७,४८,०६,०००

चूँकि प्रान्तीय सहकारी बैंक सर्वसाधारण से भी डिपाजिट स्वीकार करते हैं अतः उन्हें जमा करने वालों को उनके माँगने

पर रुपया चुकाने के लिए नकद रकम रखनी पड़ती है। कुछ प्रान्तीय सरकारों ने तो इस सम्बन्ध में आवश्यक नियम बना कर इन बैंकों द्वारा नकद रकम रखने की न्यूनतम मात्रा भी निश्चित कर दी है। प्रायः जितने समय के लिए इन बैंकों को डिपाजिटें प्राप्त होती हैं उतने ही समय के लिए वे ऋण भी देते हैं। प्रान्तीय बैंकों ने डिपाजिटों की अधिकतम अवधि भी निश्चित कर दी है जिससे अधिक समय के लिए वे डिपाजिट स्वीकार नहीं करते।

अधिकांश प्रान्तीय बैंक अपने यहाँ चालू खाता (Current Account) भी रखते हैं। केवल पंजाब प्रान्तीय सहकारी बैंक गैर-सदस्य व्यक्तियों के साथ इस प्रकार के कार्य को प्रोत्साहन नहीं देता है।

इन कार्यों के अतिरिक्त प्रान्तीय सहकारी बैंक अन्य कार्य भी करते हैं। इनमें हुण्डियों (Hundis), कम्पनियों के डिविडेन्डस (Dividends), सार्वजनिक सेवकों (Public Servants) के वेतन और पेन्शन (Pension) आदि के एकत्रित करने का कार्य मुख्य है। मद्रास, बम्बई और पंजाब के प्रान्तीय सहकारी बैंकों ने दीर्घकालीन डिबैंचर (Long term debentures) के बेचने का भी कार्य किया है। बम्बई के प्रान्तीय सहकारी बैंक ने लगभग १० लाख रुपये का डिबैंचर बेचा है, मद्रास के बैंक ने लगभग २·१८ लाख रुपये और पंजाब बैंक ने ५ लाख रुपये के डिबैंचर बेचने का कार्य सन् १९४० के पहले तक किया है।

इन प्रान्तीय बैंकों के सामने भी कभी कभी कार्यशील पूँजी की अधिकता और कभी कभी न्यूनता की समस्या उत्पन्न होती रहती है। ऐसी स्थिति में ये बैंक एक दूसरे की सहायता करते

रहते हैं। यदि इस प्रकार से पूँजी की कमी की समस्या पर्याप्त मात्रा में हल नहीं हो पाती है तो थोड़े समय के लिये अधिक सूद पर डिपाजिट प्राप्त करने का भी प्रयत्न होता है। इन वैंकों की एक केन्द्रीय संस्था भी है जिसे अखिल भारतवर्षीय प्रांतीय सहकारी वैंक एसोसियेशन (All India Provincial Co-operative Banks Association) कहते हैं। इस संस्था का मुख्य काम इन वैंकों की कार्यशील पूँजी (Working Capital) की अधिकता तथा न्यूनता सम्बन्धी आँकड़ों को एकत्रित करना है। ये आँकड़े सब प्रान्तीय सहकारी वैंकों के पास सूचनार्थ भेज दिये जाते हैं ताकि आवश्यकतानुसार ये वैंक आपस में लेन देन कर सकें। इस संस्था की बैठक प्रत्येक दो वर्षों में एकवार होती है। इस वैठक में सहकारिता विषयक समस्याओं पर विचार होता है। प्रान्तीय सहकारी वैंक यदि किसी विशेष वात की ओर सरकार का ध्यान दिलाना चाहते हैं तो यह केन्द्रीय एसोसियेशन ही सरकार से इसके सम्बन्ध में आवश्यक वातचीत करती है।

प्रान्तीय सहकारी वैंकों का निरीक्षण

इन वैंकों के कार्यों के निरीक्षण का भार प्रान्तीय सहकारी विभागों के रजिस्ट्रार के ऊपर होता है। रजिस्ट्रार को ही नियमानुसार इन वैंकों के आय-व्यय का निरीक्षण करना चाहिये। कतिपय प्रान्तों के रजिस्ट्रारों ने इस काम के लिये पेशेवर आडिटरों (Professional Auditers) को इन वैंकों के हिसाव-किताव की जाँच करने की आज्ञा दे दी है। इन वैंकों को अपनी वार्षिक लेन-देन का लेखा, जिसे वैलेंस-शीट (Balance Sheet) कहते हैं, भी तैयार करना होता है।

अखिल भारतवर्षीय सहकारी बैंक

(All India Co-operative Apex Bank)

सन् १९१५ ई० की मैकलेगन सहकारी कमिटी (Maclagan co-operative Committee) ने एक अखिल भारतवर्षीय सहकारी बैंक की स्थापना की सिफारिश की थी। कमिटी की राय में प्रान्तीय सहकारी बैंकों (Provincial Co-operative Banks) में सम्बद्धकरण स्थापित करने के लिये एक ऐसे बैंक की आवश्यकता थी। प्रान्तीय सहकारी बैंकों को आवश्यकता के समय आर्थिक सहायता देने के लिये भी एक ऐसे बैंक की आवश्यकता समझी गई थी। किन्तु कमिटी की सिफारिश क्रियात्मक रूप अबतक नहीं धारण कर सकी हैं। लगभग ३५ वर्ष पूर्व कमिटी ने इस प्रकार के बैंक की स्थापना के लिये सिफारिश की थी। किन्तु अब तक ऐसा कोई बैंक देश में स्थापित नहीं हुआ है।

अब प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार के बैंक की आवश्यकता देश को है या नहीं? जिस समय कमिटी ने इस बात की सिफारिश की थी उस समय के लिये वह बिलकुल ठीक थी। उस समय प्रान्तीय सहकारी बैंकों की नींव पड़ रही थी। और उनकी सहायता तथा पथ-प्रदर्शन के लिये एक ऐसी संस्था की वाँछनीयता स्पष्ट थी। किन्तु वह नहीं हो पाया। और अब परिस्थिति में बहुत अन्तर हो गया है। वर्तमान परिस्थिति में ऐसे किसी बैंक की आवश्यकता देश को नहीं रह गई है। अधिकांश विद्वानों और अर्थशास्त्र के पंडितों की यही राय है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें स्मरण रखने से इस राय की प्रमाणिकता स्पष्ट हो जायगी :—

(१) अधिकांश प्रान्तीय सहकारी बैंकों को किसी प्रकार की पूँजी सम्बन्धी कोई कठिनाई नहीं रह गई है और स्वयं उनके पास पर्याप्त मात्रा में पूँजी होती है और प्रायः उसका कुछ भाग बेकार पड़ा रहता है।

(२) इन प्रान्तीय सहकारी बैंकों को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया (Imperial Bank of India) से भी आर्थिक सहायता मिलती है यद्यपि कुछ वर्षों से इम्पीरियल बैंक इन बैंकों को सहायता करने से अपना हाथ कुछ सिकोड़ने सा लगा है।

(३) सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) की स्थापना के समय से ऐसे बैंक की कोई आवश्यकता शेष नहीं रह गई है। देश की सहकारी संस्थाओं को उचित पर्याप्त सहायता के लिये रिजर्व बैंक (Reserve Bank) में एक पृथक विभाग की स्थापना हुई है। बैंक के इस विभाग को कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department) कहते हैं। आवश्यकतानुसार प्रान्तीय सहकारी बैंक रिजर्व बैंक से हर प्रकार की सहायता ले सकते हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए यह बिल्कुल सही मालूम पड़ता है कि वर्तमान परिस्थिति में अखिल भारतवर्षीय सहकारी बैंक जैसी किसी संस्था की आवश्यकता देश को नहीं है।

सैंतीसवाँ अध्याय

भारतीय सहकारिता आन्दोलन का इतिहास

भारत में सहकारिता आन्दोलन का विगुल सन् १९०४ ई० में बजा, जब कि प्रथम सहकारी कानून (Co-operative Act) पास हुआ। इस कानून के अनुसार ग्राम्य (Rural) और नागरी (Urban) साख समितियों की स्थापना आरम्भ हुई। कुछ ही दिनों में इस कानून की कमियाँ स्पष्ट हो गईं जिनके दूर करने के लिये दूसरा सहकारी कानुन सन् १९१२ ई० में पास हुआ। इस नये कानून ने ग्रामीण और शहरी समितियों के भेद का अन्त करके उनके दायित्व (Liability) के वैज्ञानिक आधार पर उन्हें दो वर्गों में रख दिया। इस प्रकार परिमित दायित्व वाली और अपरिमित दायित्व वाली दो प्रकार की समितियों का संगठन होने लगा। इस नये कानून ने सहकारी साख समितियों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सहकारी समितियों की स्थापना की भी व्यवस्था की। इसके अनुसार सहकारी समितियों की यूनियनों और सहकारी केन्द्रीय बैंकों की भी नींव पड़ने लगी।

सन् १९१४ ई० में भारतीय सरकार ने सहकारिता आन्दोलन के स्वरूप का सिंहावलोकन करते हुए एक प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव में इस बात की सिफारिश की गई थी कि समिति के सदस्यों को कृषि कार्यों के अतिरिक्त अन्य पारिवारिक कार्यों के लिये भी आवश्यक ऋण दिया जाय ताकि उनको महाजन के चंगुल में फँसने की किसी प्रकार नौबत न उत्पन्न हो और सदस्यों का लेन-देन केवल सहकारी समितियों तक सीमित रहे सन् १९१४ ई० में मैकलेगन कमिटी (Maclagan committee) की नियुक्ति हुई। इस कमिटी ने अपनी रिपोर्ट सन् १९१५ ई० में पेश की जिसके आधार पर सहकारिता

आन्दोलन को पुनस्संगठित और व्यवस्थित किया गया। नियत समय पर ऋण की अदायगी पर विशेष जोर दिया गया उन सब समितियों को, जो सहकारिता के आदर्शों पर चलने में असफल और असमर्थ थी, समाप्त कर देने का प्रयत्न किया गया। इसी समय से यह बात अच्छी तरह से महसूस की जाने लगी इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिये इस पर से अत्यधिक सरकारी छाप को हटानी और कम करनी होगी तथा इसमें भाग लेने वालों को अधिक से अधिक महत्व देना होगा। सन् १९१६ के भारतीय शासन कानून (Govt. of india act) के अनुसार सहकारिता एक हस्तान्तरित (Transferred) प्रान्तीय विषय हो गया। इसके अनुसार सन् १९१२ के सहकारी कानून को बना लेने की और उसमें आवश्यक संशोधन या परिवर्तन कर लेने की अनुमति दे दी गई।

सहकारी केन्द्रीय संस्थाओं के क्रमिक विकास के साथ रजिस्ट्रार के इस आन्दोलन की उन्नति सम्बन्धी कार्य-भार में कमी होने लगी। किन्तु सहकारिता विषयक प्रचार का उत्तरदायित्व रजिस्ट्रार और उसके सहयोगी कर्मचारियों के ऊपर ही बना रहा। फिर भी क्रमशः यह बात भी महसूस की जाने लगी कि गैर सरकारी संस्थाओं की स्थापना हो जिनके ऊपर इस कार्य का भार भी सौंपा जा सके। इसी उद्देश्य से सहकारी इन्स्टिट्यूटों (Co-operative Institutes) की स्थापना विभिन्न प्रान्तों में होने लगी। इस समय से इन गैर-सरकारी संस्थाओं का महत्व बढ़ने लगा। सहकारी प्रचार, शिक्षा, समितियों के कार्यों की देख-भाल तथा सामान्य निगरानी और उनके आय-व्यय का निरीक्षण आदि इन्हीं के द्वारा होने लगा।

निम्नलिखित तालिका से सन् १९०६-७ से सन् १९२०-२१ तक की क्रमशः प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है:—

समितियाँ	१९०६-७ से १९०९-१० तक का वार्षिक औसत			१९१५-१६ से १९१९-२० तक का वार्षिक औसत			सन् १९२०-२१		
	संख्या	सभासद	पूँजी	संख्या	सभासद	पूँजी	संख्या	सभासद	पूँजी
केन्द्रीय, प्रान्तीय और जिला बैंक	१७	१,९८७	६८,१२,००० रुपये	३०४	८६,९२५	१५,१८,४७,००० रुपये	४४९	१४३४५८	११०७०००००
निरीक्षक और ऋण की गारंटी देने वाली यूनियन				६३८	१०,९७१		११५०	१९३२२	
औद्योगिक	१९३	५४,२६०		१६६२	२२६०३१		३३२२	३९०५१३	३,६३००००
कृषि-सम्बन्धी	१,७१३	१०७६४३		२५८७३	१०१९३०		४२५८२	१३६२३३१	११,७२००,०००

सहकारिता आन्दोलन क्रमशः ज़ोर पकड़ता गया। लगभग २० वर्ष की निरन्तर क्रमिक प्रगति के बाद भी ग्रामीण जनता की ऋण के बोझ में कोई प्रशंसनीय कमी नहीं हो पाई। इसका एक कारण यह था कि सहकारी साख समितियाँ केवल अल्प काल के ही लिये ऋण देती थीं। सर्वप्रथम पंजाब प्रान्त में सन् १६२० ई० में प्रथम सहकारी भूमि बन्धक बैंक (Co-operative land Mortgage Bank) की स्थापना हुई। उसके बाद अन्य प्रान्तों ने भी इसका अनुकरण किया।

यद्यपि आन्दोलन दिन प्रतिदिन विकास की ओर अग्रसर हो रहा था तथापि आर्थिक स्थिति उत्तरोत्तर खराब सी होती जा रही थी। ऋण की अदायगी या भुगतान समय से नहीं होने पाती थी और यह त्रुटि निरन्तर उग्र रूप धारण करती जा रही थी। अतः समस्या की समुचित जाँच के लिये विभिन्न प्रान्तों में सहकारी जाँच समितियों (Co-operative Committees ef enquiry) की नियुक्ति हुई। मध्यप्रान्त में इस जाँच समिति (Enquiry committee) की नियुक्ति सन् १६२२ ई० में और विहार और उड़ीसा में सन् १६२३ ई० में हुई। कुछ वर्षों के बाद संयुक्त प्रान्त में ओकडन कमिटी (Oakden cmmittee), मद्रास में टाउनसेन्ड कमिटी (Townsend committee) और वर्मा में कालवर्ट कमिटी (Calvert committee) ने इसी प्रकार की जाँच की। इन समितियों ने अपने अपने प्रान्तों की स्थिति का सावधानी के साथ अध्ययन और विश्लेषण किया और सहकारी साख संगठन के परिशोध (rectification) और सुदृढ़ बनानेके लिए आवश्यक सिफारिशें कीं। इन जाँच कमेटियों ने गैर-साख कृपि

संस्थाओं (Non credit agricultural societies) की स्थापना को भी बहुत महत्वपूर्ण बताया और उनकी स्थापना के लिये जोरदार सिफारिश भी की। सन् १९१९ ई० के भारतीय शासन कानून (government of india act) के अनुसार प्रान्तीय सरकारों को सन् १९१२ ई० के सहकारिता कानून (Co-operative act, 1912) में आवश्यकतानुसार संशोधन और परिवर्तन करने का जो अधिकार दिया गया था उसको केवल पंजाब और संयुक्त प्रान्त को छोड़ कर सभी प्रान्तों ने कार्यान्वित किया। बम्बई प्रान्त ने सन् १९२५ ई० में सहकारी समितियों का कानून (Co-operative Societies act, 1925) पास किया। इस कानून ने सहकारिता अन्दोलन के उद्देश्य को और अधिक व्यापक बनाने का कार्य किया। इसने सहकारिता आन्दोलन के उद्देश्य में मुख्यतः तीन बातों का विशेष रूप से जिक्र किया:—

(१) उत्तम रहन-सहन (better living)।

(२) उत्तम व्यवसाय या लेन-देन (better business)

(३) उत्पादन के श्रेष्टतर ढंग (better methods of production)

बर्मा का कानून (Burma's Act) सन् १९२६ ई० में व्यवहार या अमल में आ गया और मद्रास सरकार द्वारा निर्मित कानून सन् १९३२ ई० के जुलाई के माह से कार्यान्वित होने लगा। बंगाल, बिहार और उड़ीसा ने भी इसी प्रकार के सहकारी कानून अपने अपने प्रान्तों के लिए पास किये। इन सब प्रयत्नों से सहकारिता आन्दोलन उन्नति करता गया। विशेष उन्नति सहकारी साख की हुई। गैर-साख सहकारिता (Non-credit co-operation) की दिशा में

महत्वपूर्ण प्रगति नहीं हुई। फिर भी इस प्रकार की समितियों की संख्या भी कुछ न कुछ उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। बम्बई प्रान्त में बहुत सी रुई की समितियां (Cotton Societies) बर्मा में पशुओं की बीमा की समितियों (Cattle Insurance Societies), बंगाल में सिंचाई समितियों (Irrigation Societies) की अधिक स्थापना हुई। गैर-साख सहकारिता (Non-credit Co-operation) की सबसे अधिक उन्नति पंजाब प्रान्त में हुई जहाँ खेतों की चकबन्दी के लिए बहुत सी चकबन्दी समितियों की स्थापना हुई और अधिकांश समितियों को पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई। गैर-कृषि गैर-साख (Non agricultrual non-credit) सहकारिता की प्रगति और भी अधिक धीमी रही। बम्बई, मद्रास, मैसूर, आदि में गृह समितियों (Housing Societies) और अन्य प्रकार की औद्योगिक समितियों की स्थापना अवश्य कुछ हुई।

सन् १९२६ ई० में शाही कृषि कमीशन (Royal commission on Agriculture) की नियुक्ति हुई और इसके विस्तृत जाँच क्षेत्र के अन्तर्गत सहकारिता का भी समावेश था यद्यपि इस पर कोई विशेष ध्यान उसे नहीं देना था। इसी समय से केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के अन्तर्गत प्रान्तीय कमिटियों की नियुक्ति द्वारा विभिन्न प्रान्तों में सहकारिता आन्दोलन की स्थिति का अध्ययन और सिंहावलोकन हुआ। किन्तु प्रान्तीय बैंकिंग कमिटियों ने कृषि, उद्योग और व्यापार सम्बन्धी बैंकिंग समस्याओं की ओर ही विशेष रूप से ध्यान दिया। अतः जनता को साख विषयक और बैंकिंग सुविधाओं से सम्बधित सहकारिता आन्दोलन के पहलू का ही अध्ययन और विश्लेषण हुआ।

वम्बई सरकार ने सहकारिता आन्दोलन की जाँच तथा उसके शक्तिशाली और व्यापक वनाने के लिये आवश्यक उपायों के सुझाव देने के निमित्त एक छोटी कमिटी की नियुक्ति की । इस कमिटी की रिपोर्ट का सब से अधिक महत्वपूर्ण सुझाव गाँवों में विविध-विषयक समितियों (Multipurpose societies) का संगठन सम्बन्धी था ।

इसी समय से विश्व-व्यापी महामन्दी का आरम्भ हुआ । इसके कारण सहकारिता आन्दोलन की कठिनाइयाँ समस्त देश में वढ़ गईं । इन वढ़ती हुई कठिनाइयों के कारण विवश हो कर भारतीय सरकार को २६ जनवरी सन् १६३४ ई० में दिल्ली में एक अखिल भारतवर्षीय सहकारी वैठक (All india co-operative conference) वुलानी पड़ी। सन् १६३६ और १६३६ के दिसम्बर माह में प्रान्तीय रजिस्ट्रारों की अन्य वैठकें दिल्ली में हुई और स्थिति का सिंहावलोकन हुआ । इन सब वैठकों के परिणाम स्वरूप साख समितियों के एकत्रीकरण (Ensolidation) परिशोध (Rectification) और पुनर्वास (Rehabilitation) को ही निश्चित नीति ठहराई गयी तथा उनका प्रसार (Expansion) रोक दिया गया। आन्दोलन पर सरकारी नियंत्रण, जिसको १६२० ई० के निकट के वर्षों में कम करने तथा सहकारी जनता का नियंत्रण अत्यधिक करने का प्रयत्न किया गया था, अत्यधिक वढ़ गया ।

अव तक के सहकारिता आन्दोलन की प्रगति का अनुमान सन् १९३६-३७ ई० के निम्नलिखित आँकड़ों से लगाया जा सकता है:-

संस्थायें	ब्रिटिश भारत में पाई जाने वाली	देशी रियासतों में पाई जाने वाली	योग
(१) केन्द्रीय	५०६	११६	६२२
(२) यूनियन	६७९	३१	७१०
(३) कृषि-सम्बंधी	८१,८०५	१४,४०४	९६,२०९
(४) शहरी	११,३२२	२,१०४	१३,४२६
योग	९४,३१२	१६,६५५	१,१०,९६७

जैसा कि इस तालिका से स्पष्ट है सहकारिता आन्दोलन केवल ब्रिटिश भारत तक ही सीमित नहीं था। देशी रियासतों में भी इसका प्रचार हो रहा था। विशेषकर हैदराबाद, मैसूर, बड़ौदा, ग्वालियर और इन्दौर की रियासतों में ही इस आन्दोलन की प्रगति हुई। देशी रियासतों सहकारी संस्थाओं का संगठन ब्रिटिश भारत के प्रांतीय सहकारी संस्थाओं के संगठन के अनुसार ही हुआ।

सहकारिता आन्दोलन निरन्तर उन्नति करता जा रहा है। सहकारी संस्थाओं की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। द्वितीय महायुद्ध के कारण और तज्जनित राशनिङ्ग (Rationing) और वस्तुओं पर सहकारी नियंत्रण होने के कारण उपभोक्ता-सहकारी स्टोर्स (Con-sumers Co-operative Stores) की अधिक संख्या में वृद्धि हुई है। सौभाग्य-वश देश स्वतंत्र भी हो गया है और आशा की जाती है कि हमारी राष्ट्रीय सरकारें सहकारिता आन्दोलन को पूर्ण शक्ति-

शाली और अधिक से अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न करेंगी जिससे राष्ट्र की आर्थिक और नैतिक उन्नति सम्भव हो सके।

सहकारिता आन्दोलन की और प्रगति का अनुमान लगाने के लिये नीचे कुछ और आँकड़े दिये जाते हैं।

कृषि समितियों की आर्थिक स्थिति का अनुमान ३० जून सन् १६४३ के निम्नलिखित आँकड़ों से लगाया जा सकता है—

हिस्सा पूँजी	४, ४५, २४, ००० रुपये।
रक्षित और अन्य कोष	८, ८२, ३६, ००० रुपये।
डिपाजिट	२, ८४, ८९, ००० रुपये।
ऋण	१२, ६५, ९८, ००० रुपये।
कुल कार्यशील पूँजी	२६, ०८, ५७, ००० रुपये।

इन आँकड़ों से बिल्कुल स्पष्ट है कि ये छोटी छोटी कृषि समितियाँ लगभग १६ करोड़ रुपये की निजी पूँजी (यदि इसमें सदस्यों की डिपाजिट भी सम्मिलित कर ली जाय) से कार्य करती हैं। उनको उधार ली हुई पूँजी लगभग १३ करोड़ रुपये के है।

सन् १९४२-४३ ई० में विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न प्रकार की गैर-साख समितियों (Non-Credit Societies) का विवरण निम्नलिखित है—

गैर-साख कृषि समितियाँ, १९४२-४३

प्रान्त	क्रय-विक्रय समितियाँ	उत्पादन समितियाँ	उत्पादन और क्रय समितियाँ	अन्य प्रकार की समितियाँ	योग
मद्रास	२२२		१५५	४४७	८२४
बम्बई	६५	१९	१३७	२२०	४४१
सिन्ध	२		१३	१	१६
बंगाल	१०९	१०२०	८७२	२४	२०२५
बिहार	५०		२१६६		२२१६
उड़ीसा	१४		९		२३
संयुक्तप्रान्त	२२	१	१६५१	३८२३	५४९७
पंजाब	१६	७४९	२५१९	२८४	३५६८
मध्यप्रान्त	६४	१७	५		८६
मैसूर	२७		२१	३३	८१
बड़ौदा	१२	१९	५०	४९	१३०
अन्य स्थानों	२३	३९	३७०	५०	४८२
योग	६२६	१८६४	७९६८	४९३१	१५३८९

अड़तीसवाँ अध्याय

सहकारिता आन्दोलन का प्रभाव

सहकारिता आन्दोलन से देश को बहुत लाभ हुआ है। सहकारी समितियों और अन्य सहकारी संस्थाओं के सदस्यों का इस आन्दोलन से जो हित हुआ है उसकी कल्पना सुगमता से नहीं की जा सकती है। सहकारिता से हुए लाभों और प्रभावों को निम्नलिखित वर्गों में रक्खा जा सकता है:—

(१) आर्थिक (Economic)
(२) नैतिक (Moral)
(३) शिक्षा सम्बन्धी (Educative)
(४) सामाजिक (Social)
(५) शासन सम्बन्धी (Administrative)

आर्थिक लाभ (Economic benefits)

सहकारिता का मुख्य उद्देश्य सदस्यों की आर्थिक दशा में सन्तोषजनक सुधार करना है। इस आन्दोलन से जो लाभ हुए हैं वे मुख्यतः आर्थिक ही हैं। सहकारी समितियों के सदस्यों की आर्थिक दशा में इससे पर्याप्त सुधार हुआ है। यद्यपि देश की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इन समितियों का पर्याप्त मात्रा में प्रसार नहीं हुआ है फिर भी जिस हद तक इनका संगठन हुआ है उस हद तक इनके सदस्यों को काफी लाभ पहुंचा है। भारतीय किसान साख-समितियों की स्थापना से प्रतिवर्ष एक करोड़ रुपये के सूद की बचत का लाभ उठा रहे हैं। इन समितियों की स्थापना से सूद की दर

में पर्याप्त कमी हुई है जिससे लोगों को बहुत लाभ हुआ है। एक विशेष बात यह है कि इन संस्थाओं की स्थापना से बहुत सा बेकार द्रव्य और पूँजी, जो इनके अभाव में पहुँच के बाहर थी और जिसका व्यय अनुत्पादक कार्यों में हुआ होता यदि ये संस्थायें संगठित नहीं की गई होतीं, किसानों को खेती की दशा सुधारने और ऋण की समस्या को हल करने के लिये प्राप्त हो गई है। इसके अतिरिक्त सहकारी संस्थाओं ने जनता में मितव्यता को प्रोत्साहित किया है और अपव्ययता को बहुत कुछ अंशों में दूर किया है। सहकारिता आन्दोलन से कृषि विभाग (Agricultural Department) को इन समितियों के द्वारा उत्तम प्रकार के बीज, खाद, औजारों इत्यादि के प्रचार-कार्य में विशेष सुविधा हुई है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सहकारिता आन्दोलन से उत्तम खेती (better farming) उत्तम व्यवसाय (better business) और उत्तम रहन-सहन (better livnig) का आदर्श बहुत कुछ अंशों में प्राप्त किया जा चुका है।

नैतिक प्रभाव (Moral effects)

जनता में मितव्ययता का प्रचार ही इस आन्दोलन का मुख्य नैतिक प्रभाव है। मानव जीवन में मितव्ययता का विशेष महत्व होता है। अपव्ययी व्यक्ति सुखी और शान्तिमय जीवन नहीं व्यतीत कर सकता अपव्ययी और दुर्व्यसनी व्यक्ति सहकारी संस्थाओं के सदस्य नहीं हो सकते। अपनी नैतिकता के सुधारने पर ही कोई व्यक्ति इन संस्थाओं का सदस्य बन सकता है। इस आन्दोलन के कारण मुकदमेबाजी (litigation) में भी संतोषजनक कमी हुई है और समझौता तथा पंचायत

द्वारा झगड़ों का निपटारा बहुत कुछ हद तक होने लगा है। सहकारिता के शासन में मुकदमेबाजी, अपव्ययता, दुर्व्यसन और जूआ (gambling) का अपने आप ह्रास होने लगता है। सहकारी समितियों ने लोगों के आचरण और नैतिकता में काफी सुधार किया है और उनमें "सब प्रत्येक के लिये और प्रत्येक सब के लिये" (all for each and each for all) की भावना उत्पन्न की है।

शिक्षा सम्बन्धी प्रभाव (Educative effect)

शिक्षा सहकारिता का अनुसरण करती है। जहाँ सहकारिता आरम्भ होती है वहाँ शिक्षा अपने आप आ टपकती है। इससे किसानों की वुद्धि और ज्ञान का विकास हुआ है तथा उनमें सोचने की शक्ति का उदय हुआ है। उनको व्यावसायिक समझ में भी पर्याप्त उन्नति हुई है और उत्तरदायित्व को समझने की योग्यता और उसके पालन करने की क्षमता में भी महत्वपूर्ण वुद्धि का आभास मिलता है। सहकारिता के प्रचार से उन्होंने बहुत सी महत्वपूर्ण बातें सीखी हैं और अन्य बातों को सीखने के लिये वे उत्सुक दिखाई पड़ते हैं। अनपढ़ साधारण सदस्यों में लिखने-पढ़ने की इच्छा उत्पन्न सी हो गई है ताकि वे हिसाब-किताब रख सकें।

सामाजिक प्रभाव (Social effects)

सहकारिता आन्दोलन के सामाजिक प्रभाव और अधिक महत्वपूर्ण तथा प्रशंसनीय हैं। अपरिमित दायित्व का प्रभाव इस सम्बन्ध में विशेष कर उल्लेखनीय है। साख समितियों का संगठन विशेष कर अपरिमित दायित्व (unlimited

liability) के आधार पर हुआ है। इससे प्रत्येक सदस्य को दूसरे सदस्यों की हरकतों पर निगरानी रखने की आवश्यकता होती है। प्रत्येक सदस्य को इस बात का ख्याल करना होता है कि कोई सदस्य शादी ब्याह या अन्य प्रकार के सामाजिक या धार्मिक कार्यों में अपव्यय न करने पावे। सफाई और स्वास्थ्य के सम्बन्ध में भी सहकारी संस्थाओं ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। पानी पीने के कुओं की मरम्मत और सफाई, अनावश्यक और स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक गड्ढों को भरने तथा कूड़ा-करकट को उचित प्रकार से रखने आदि की आदतों का जनता में सृजन करने में भी इन संस्थाओं ने विशेष रुचि दिखाई है। इससे लोगों के रहन-सहन में भी आवश्यक सुधार कुछ हद तक हुआ है।

शासन सम्बन्धी प्रभाव

(Administrative effect)

सहकारिता आन्दोलन का शासन-सम्बन्धी प्रभाव भी कम महत्व का नहीं है। इससे लोगों में लोकतन्त्रात्मक (Democratic) भावनाओं का उदय और उनकी वृद्धि हुई है। सहकारिता आन्दोलन वास्तव में एक जनतन्त्रात्मक आन्दोलन है। इसका संगठन सर्व साधारण के हित के लिए होता है और सर्वसाधारण द्वारा ही इसका संचालन और नियमन होता है। ग्राम्य सरकारी समिति एक सामूहिक संस्था होती है जिसमें लोगों को लोकतन्त्रात्मक शासन के सिद्धान्तों की शिक्षा और रचनात्मक ट्रेनिंग मिलती है। वोट के प्रयोग, निर्वाचन पद्धति के अनुसरण संगठित और आयोजित ढंग से कार्य करने के द्वारा सहकारी संस्थाओं ने जनता को उचित

प्रकार की राजनैतिक शिक्षा प्रदान की है। लोगों में राजनैतिक जागृति उत्पन्न होने के बहुत से कारणों में एक मुख्य कारण सहकारी संस्थाओं का प्रसार और उनका कार्यरत रहना रहा है। इस आन्दोलन से जनता में स्वावलम्बन और पारस्परिक निर्भरता की भावनाओं की वृद्धि हुई है और इसके साथ-साथ लोगों में नागरिकता का बन्धन उत्तरोत्तर सुदृढ़ होता गया।

उपर्युक्त विवेचन से सहकारिता आन्दोलन से हुए लाभदायक प्रभावों का अनुमान सुगमता से लगाया जा सकता है। इससे हमारे देश को आर्थिक नैतिक, सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी और राजनैतिक इत्यादि विभिन्न प्रकार के लाभ हुए हैं। देश की जागृति और राष्ट्रीय चेतना की वृद्धि के कारणों में से एक कारण इस आन्दोलन की महत्वपूर्ण सेवायें ही रही हैं।

उनतालीसवाँ अध्याय

भारतीय सहकारिता आन्दोलन की त्रुटियाँ

पिछले अध्याय में सहकारिता आन्दोलन से हमारे देश और समाज को जो विभिन्न प्रकार के लाभ हुए हैं उनका संक्षिप्त वर्णन दिया जा चुका है। इस आन्दोलन ने समाज की आर्थिक. नैतिक, सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी और राजनैतिक प्रगति में महत्वपूर्ण सहायता पहुँचायी है। इसमें मतभेद के लिए स्थान नहीं है। किन्तु इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि इस आन्दोलन में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रही है। वास्तविकता तो यह है कि आन्दोलन को देश को परिस्थिति और आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए बिल्कुल ठीक और सही रास्ते पर नहीं चलाया गया है। देश की परतन्त्रता की दशा में वह सम्भव भी नहीं था। यही कारण है हमारे देश के सहकारिता आन्दोलन में बहुत-सी त्रुटियाँ और कमियाँ रही हैं। इनके होते हुए भी इस आन्दोलन से देश को यथोचित लाभ पहुंचा है। इस अध्याय में इस आन्दोलन की त्रुटियों और अन्य खराबियों तथा कमियों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

इस आन्दोलन का आरम्भ लगभग आज से ४५ वर्ष पूर्व हुआ था। ४५ वर्ष का समय काफी लम्बा समय होता है। इस लम्बी अवधि में इस आन्दोलन को एक शक्तिशाली आन्दोलन का रूप धारण कर लेना चाहिये था। इससे देश की आर्थिक और अन्य प्रकार की उन्नति अत्यधिक मात्रा में

हो जानी चाहिये थी । हमारी ग्रामीण जनता की भौतिक दशाओं में उत्तम परिवर्तन हो जाने चाहिये थे। किन्तु जब हम अपने देश की दशा पर ध्यान दौड़ाते हैं तो मोटे दर से कोई महत्वपूर्ण सुधार अब तक नहीं हो पाया है । इसका अर्थ यह नहीं है कि यह आन्दोलन बिल्कुल असफल रहा है। कुछ सफलता उसे अवश्य प्राप्त हुई और उससे लाभ भी अवश्य हुआ है जिसका वर्णन पिछले अध्याय में किया गया है। कहने का अर्थ केवल यह है कि जनता की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए इस आन्दोलन का प्रर्याप्त प्रसार नहीं हो पाया है । सहकारी संस्थाओं की संख्या जितनी होनी चाहिये उतनी नहीं हो पायी है । इससे जन-संख्या के एक सीमित भाग को ही लाभ पहुँचा है। हमारे समाज का अधिकांश भाग अभी सहकारिता आन्दोलन से पृथक ही रहा है । स्थिति का सच्चा अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि सन् १६४२-१६४३ ई० में लगभग ४० करोड़ की आबादी के देश में प्रारम्भिक सहकारी संस्थाओं के सदस्यों की संख्या केवल ६६, १२, ००४ (लगभग ६६½ लाख) थी, और गैर-कृषि समितियों के सदस्यों की संख्या केवल २२, ६८, ७४३ (लगभग २३ लाख) थी उसी साल में सब प्रकार की सहकारी समितियों और संस्थाओं की संख्या केवल १, ४६, १६० थी। जिस देश में ग्रामों की संख्या ७०, ००,००० (सत्तर लाख) हो वहाँ १.५ लाख से भी कम सहकारी संस्थायें हों इसी से इस आन्दोलन की अपर्याप्तता का अनुमान लगाया जा सकता है।

सहकारिता आन्दोलन का अपर्याप्त प्रसार इस आन्दोलन की मुख्य कमी तो है ही। इसके अतिरिक्त जिस हद तक

इसका प्रसार हुआ है उसमें बहुत सी त्रुटियाँ और कमियाँ हैं। इन खराबियों में निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

(१) सहकारिता के आधारभूत सिद्धान्तों का सम्यक-ज्ञान अभी जनता को नहीं हो पाया है। सहकारी समितियों के साधारण सदस्यों में अभी सच्ची सहकारिता का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। अधिकांश सदस्य समितियों के कार्यों में पर्याप्त रुचि और दिलचस्पी नहीं लेते। वे इन्हें सस्ती साख (cheap credit) प्राप्त करने का साधन मात्र समझते हैं। बहुत ही कम सदस्य इस बात को महसूस करते हैं कि उनकी समिति की सफलता और शक्ति उनकी सच्चाई, नेक चलनी, स्वावलम्बन और सहयोगियों के पारस्परिक विश्वास पर ही आश्रित होती हैं।

(२) सहकारी संस्थाओं के सदस्यों में पर्याप्त मितव्ययता का प्रसार नहीं हो पाया है। अधिकांश सदस्य इसके महत्व को अब तक भली भाँति नहीं समझ पाये हैं। मितव्ययता सहकारिता के बुनियादी तत्वों में से है। दोनों साथ साथ पायी जाती हैं। सदस्यों की अपव्ययी आदतों के कारण सहकारिता के लाभदायक प्रभावों में बहुत कमी आ जाती है।

(३) सहकारी संस्थाओं और समितियों के कार्यों और आय व्यय की त्रुटिपूर्ण निरीक्षण इस आन्दोलन की तीसरी मुख्य खराबी रही है। सहकारी विभाग के निरीक्षकों को अपना कार्य और अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण ढङ्ग से करना चाहिये।

(४) सहकारी समितियों के संगठन के लिये नियुक्त आर्गनाइजर प्रायः अपने कार्य में आवश्यकता से अधिक

शीघ्रता कर बैठते हैं। वे लोगों को सहकारिता के बुनियादी सिद्धांतों को समझानेका कोई विशेष प्रयत्न नहीं करते और अपने उच्च अफसरों को प्रसन्न करने के लिये जल्दी से समितियों का संगठन कर देते हैं। इन कर्मचारियों का स्थान-परिवर्तन भी होता रहता है और ऐसी दुर्बल समितियों के टूट जाने पर उनपर कोई दोष नहीं आता। अतः वह अधिकारियों को दिखाने तथा खुश करने के लिये प्रायः बड़ी जल्दी में समितियों को संगठित कर बैठते हैं। इस प्रकार संगठित की गई समितियाँ पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त कर सकतीं और उनमें से बहुत सी तो कुछ ही समय में नष्ट हो जाती हैं।

(५) सूद की ऊँची दर इन संस्थाओं की पाँचवीं त्रुटि है। सरकार द्वारा प्रदत्त समस्त सुविधाओं और अधिकारों के बावजूद सहकारी समितियों द्वारा ली जाने वाली ब्याज की दर अभी भी ऊँची ही है। इसका परिणाम यह होता है कि बहुत से किसान इन समितियों के सदस्य होने में कोई विशेष रुचि नहीं लेते क्यों कि अपेक्षाकृत कम सूद पर उन्हें अन्यत्र ऋण प्राप्त हो जाता है और अपने लेन-देन के कार्य को गुप्त रखने की सुविधा भी उन्हें प्राप्त हो जाती है।

(६) इस आन्दोलन पर सरकारी नियंत्रण आवश्यकता से बहुत अधिक मात्रा में रहा है। प्रान्तीय सहकारी रजिस्ट्रार ही अपने प्रान्त में इस आन्दोलन का सर्वेसर्वा होता है। इससे लोगों की साधारणतया यह धारणा होती है ये सरकारी संस्थायें है और उन्हें ऋण देने के लिये स्थापित की गई हैं। यह भावना सहकारिता के सिद्धान्तों की ठीक विरोधी है। इससे अपने पैरों पर खड़ा होने की सहकारिता की प्रमुख विशेषता लोगों में उत्पन्न नहीं हो पाता। सहकारिता वास्तव

में जनता का आन्दोलन है और आवश्यकता से अधिक सरकारी छाप का इस पर होना इसकी उन्नति में बाधक होता है।

(७) सहकारिता अन्दोलन की प्रमुख त्रुटि यह भी है कि हमारे देश में विशेष कर सहकारी साख (Co-operative credit) पर ही मुख्य जोर दिया गया है। अधिकांश समितियां साख-समितियां ही है। अन्य प्रकार की सहकारी समितियों—जैसे रहन-सहन सुधार समितियां चकबन्दी समितियां, उत्पादन समितियां, क्रय-विक्रय समितियां, पशु सुधार समितियां इत्यादि—की स्थापना की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि साख-सहकारिता को छोड़ कर अन्य प्रकार की सहकारिता की उपेक्षा हमारे देश में की गई है। केवल साख-सुविधाओं के प्रसार से जनता की दशा पर्याप्त मात्रा में नहीं सुधारी जा सकती है। आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्न प्रकार की समितियों का संगठन देश के प्रत्येक गाँव में हो जाय और वे सब मिलकर विभिन्न पहलुओं से जनता की गिरी दशा को सुधारने के लिए प्रयत्न करें। तभी समुचित लाभ हो सकता है।

(८) एक और त्रुटी इस आन्दोलन की यह है कि सदस्यों को अपने कार्यों और आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त ऋण नहीं दिया जाता है। कभी २ ऋण समय पर नहीं दिया जाता। सदस्यों को समितियों से ऋण प्राप्त करने में विशेष विलम्ब हो जाया करता है जिससे सदस्यों को कभी कभी विशेष हानि उठानी पड़ जाती है। प्रायः ऐसा होता है कि किसी सदस्य को दिये जाने वाले ऋण की मात्रा एक बार

निश्चित कर दी जाती है और यदि बाद में उसे ऋण की आवश्यकता हुई तो महाजन को छोड़ कर दूसरी जगह उसे शरण नहीं मिलती।

(६) सबसे महत्वपूर्ण कमी सहकारिता आन्दोलन की यह रही है कि हमारे देश में अब तक जनसेवी व्यक्तियों ने इस आन्दोलन में मुख्य भाग नहीं लिया है। सरकारी कर्मचारियों के अतिरिक्त जो भी गैर सरकारी लोग इसमें आये उनमें से अधिकांश की गणना किसानों की निस्वार्थ भाव से सेवा करने वाले व्यक्तियो की श्रेणी में नहीं की जा सकती बल्कि विदेशी सरकार और उसके कर्मचारियों को प्रसन्न रखने वाले व्यक्तियों के वर्ग में रक्खा जा सकता है। देश में किसानों की दयनीय दशा से सच्ची सहानुभूति रखने वाले और उनकी सहायता करने के लिए इच्छुक व्यक्ति अभी तक इस आन्दोलन से अलग ही रहे हैं। यही कारण है कि इस आन्दोलन से लोगों की दशा में अब तक पर्याप्त प्रशंसनीय सुधार नहीं हो पाया है।

अन्त में हमें लोगों की अशिक्षा और अज्ञान के इस आन्दोलन पर प्रभावों की ओर भी दृष्टि दौड़ानी है। सहकारिता आन्दोलन के स्वस्थ विकास में सबसे अधिक कठिनाई लोगों की अशिक्षा के कारण हुई है। भारतीय जनता अशिक्षित और अनपढ़ है। यही कारण है कि आजकल की बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक युग में भी उनमें अन्धविश्वासों का बोलबाला है। वे प्रायः पुरानी परम्पराओं के ही भक्त होते हैं; उन्हें छोड़ना नहीं चाहते, यद्यपि उनसे हानि ही क्यों न होती हो। भारतीय अशिक्षित जनता अपरिवर्तन शील होती है और किसी भी लाभदायक से लाभदायक नवीनता

अपनाने में हिचकती है। यही कारण है कि किसी प्रकार की नवीनता को कार्यान्वित करने में अपेक्षाकृत आवश्यकता से बहुत अधिक समय लगता है। इस बात को स्मरण रखने से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि क्यों अब तक सहकारिता आन्दोलन का प्रसार पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाया है यद्यपि इस आन्दोलन को आरम्भ हुए लगभग ४५ वर्ष के हो गये। अपनी अशिक्षा के कारण जनता इस आन्दोलन को अपना नहीं सकी है और न तो इसके अपनाने के लिए इच्छुक ही दिखायी देती है।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि जिन लोगों ने सहकारिता आन्दोलन में भाग लिया है उनमें भी अधिकांश अशिक्षित ही हैं जिसके कारण वे सहकारिता के आधारभूत सिद्धान्तों और उनके क्रियात्मक महत्व को भली भाँति नहीं समझ पाते। उनके इस अज्ञान के कारण तरह-तरह की त्रुटियाँ और शिथिलतायें इस आन्दोलन में प्रवेश कर गई हैं नियत समय पर ऋण भुगतान न करना, समितियों के अधिकारियों का अपने कार्यों के लिए अधिक रुपया या धन उपयोग करना, कुप्रबन्ध, पक्षपात आदि के लिए बहुत कुछ अंशों में साधारण सदस्यों की अशिक्षा ही जिम्मेदार है। सहकारी जनता अपनी अशिक्षा के कारण अपने अधिकार कर्त्तव्य को भलीभाँति नहीं समझ पाती और आन्दोलन उचित मार्गों पर अग्रसर नहीं हो पाता। अतः यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस आन्दोलन को जन-प्रिय आन्दोलन बनाने और उसके स्वस्थ विकास के लिए जनता की अशिक्षा को शीघ्राति-शीघ्र दूर करनी होगी। केवल सहकारिता के ही लिए नहीं किसी भी प्रकार के सुधार के लिए जनता को शिक्षित करना

ही होगा। जनता की शिक्षा के लिए पर्याप्त सुविधाओं के अभाव में किसी प्रकार की उन्नति नहीं हो सकती है। अन्य देशों में भी जहाँ सहकारिता आन्दोलन विशेष रूप से सफल रहा है, जनता की शिक्षा के आधार पर ही विविध प्रकार के सुधार कर दिखाये गये हैं। यह सच है कि अशिक्षा की स्थिति में भी उत्साहपूर्ण व्यापक प्रयत्नों द्वारा बहुत कुछ सम्भव हो सकता है किन्तु जनता को शिक्षित कर लेने पर ही वास्तविक परिवर्तन और प्रगति मुख्यतः सम्भव है। सहकारिता आन्दोलन की प्रगति को ध्यान में रखते हुए यह बिना किसी हिचकिचाहट के कहा जा सकता है कि शिक्षा-प्रसार देश की सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण आवश्यकता है। संतोष की बात है कि हमारी वर्तमान राष्ट्रीय सरकारें इस समस्या का शीघ्र समाधान करने के लिए आकुल और सचेष्ट हैं।

अन्त में फिर यह कह देना आवश्यक है कि सहकारिता आन्दोलन की इन त्रुटियों और खराबियों से यह निष्कर्ष कभी न निकाला जाय कि यह आन्दोलन सर्वथा असफल ही रहा है। उसे सीमित सफलता अवश्य प्राप्त हुई है और सहकारी जनता का लाभ भी हुआ है।

मुद्रक—पं० जानकीशरण त्रिपाठी, सूर्य प्रेस, बुलानाला, काशी।

चालीसवां अध्याय

अभ्यासार्थ प्रश्न

अध्याय १

१—अर्थशास्त्र का अर्थ समझाते हुए उसकी परिभाषा दीजिये।

२—अर्थशास्त्र की निम्नलिखित परिभाषाओंमें से आप किसे सबसे अच्छा समझते और क्यों ?:—

(क)—मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नोंके अध्ययन करनेवाले शास्त्र को अर्थशास्त्र कहते हैं ?

(ख)—अर्थशास्त्र वह विद्या है जिसमें धनकी उत्पत्ति, वितरण, विनिमय और उपभोग का विवेचन होता है।

(ग)—अर्थशास्त्र वह सामाजिक विद्या है, जो मनुष्यों की धनोत्पत्ति, वितरण, विनिमय और उपभोग सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन करती है।

३—अर्थशास्त्र के मुख्य कौन कौन से विभाग हैं ? प्रत्येक का सविस्तार वर्णन कीजिये।

अध्याय १

४—अर्थशास्त्र में 'धन' से क्या तात्पर्य होता है ?

५—निम्नलिखित वस्तुओं में से कौन सी वस्तुयें अर्थशास्त्र की दृष्टि से धन कही जा सकती हैं ?:—

हवा, रोशनी, मेज, गेहूं, पुस्तक।

६—धन और सुख के पारस्परिक सम्बन्ध पर अपने विचार प्रगट कीजिये।

७—'उपयोगिता' का अर्थशास्त्रीय अर्थ भली भांति समझाइये।

८—मूल्य (Value) और कीमत (Price) का अन्तर स्पष्ट कीजिये।

९—गांजा-भांग इत्यादि नशीली वस्तुओं में उपयोगिता नहीं होती क्योंकि इनसे स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। आप इस रायसे कहां तक सहमत हैं ?

१०—आय से क्या तात्पर्य है ? आय के अनुसार मनुष्यों को कितने वर्गों में प्रायः रक्खा जाता है ?

उत्पत्ति (*Production*)

११—उत्पत्ति का अर्थशास्त्रीय अर्थ स्पष्ट कीजिये।

१२—वस्तुओं की उपयोगिता में किन-किन प्रकारों से वृद्धि की जा सकती है ? स्पष्ट कीजिये।

१३—उत्पत्ति के लिये किन-किन साधनों की आवश्यकता पड़ती है ? प्रत्येक का अर्थ समझाइये।

१४–भूमि से अर्थशास्त्र में क्या समझते है ?

१५–भूमि का महत्व किन-किन बातों पर आश्रित होता है ?

१६–श्रम (Labour) का अर्थ विस्तारपूर्वक समझाइये।

१७–निम्नलिखित का अन्तर स्पष्ट कीजिये:—

(क) निपुण और अनिपुण श्रम।

(ख) उत्पादक और अनुत्पादक श्रम।

१८–पूंजी की अर्थशास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या कीजिये।

१९–चल और अचल पूंजी का अन्तर उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कीजिये।

२०–उत्पत्ति में पूंजी के महत्व पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

२१–सब पूंजी धन है किन्तु सब धन पूंजी नहीं है। इस कथन की व्याख्या कीजिये।

२२–आधुनिक उत्पादन प्रणाली में प्रबन्ध (Organisation) का महत्व स्पष्ट कीजिये।

२३–जोखिम से आप क्या समझते हैं ? आधुनिक उत्पादन प्रणाली में जोखिम उत्पत्ति का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साधन हो गया है। इस कथन की सत्यता पर अपने विचार प्रगट कीजिये।

२४–भारतीय खेती की पैदावार को कमी के कारणों को विस्तार पूर्वक विवेचना कीजिये।

२५—भारतीय कृषि की उपज बढ़ाने के लिये आप किन किन

उपायों का सहारा लेना आवश्यक समझते हैं और क्यों ?

२६—खेतों के छोटे छोटे और छिटके होने के कारणों पर प्रकाश डालिये। इस त्रुटि को दूर करने के लिये आप के सुझाव क्या हैं ?

२७—खेतों की चकबन्दी से आप क्या समझते हैं ? कृषि की उन्नति के लिये खेतों की चकबन्दी आवश्यक क्यों है ?

२८—खेतों के छोटे और बिखरे होने से क्या क्या हानियां होती हैं ?

२९—भारतीय खेतीके ढंग का सविस्तार वर्णन कीजिये। उसमें आप किस प्रकार के सुधार चाहते हैं ?

३०—अपने गांव में पाये जाने वाले उद्योग-धन्धों का वर्णन कीजिये ?

३१—ग्रामीण जनता के लिये घरेलू उद्योग-धन्धों के महत्व पर एक छोटा सा निबन्ध लिखिये ?

३२—ग्रामीण उद्योग-धन्धे किस प्रकार के होने चाहिये ! ऐसे उद्योग-धन्धों के कुछ उदाहरण भी दीजिये ?

३३—भारत के प्रमुख ग्रामीण उद्योग-धन्धों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये। इन उद्योग-धन्धों की उन्नति से ग्रामीण जनता की आर्थिक दशा कहां तक सुधारी जा सकती है ?

३४—भारतीय ग्रामीण उद्योग-धन्धों के संगठन में क्या त्रुटियां हैं ? उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है ?

उपभोग (*Consumption*)

३५—उपभोग से अर्थशास्त्र में क्या समझते हैं? समझा कर लिखिये?

३६—आवश्यकता और इच्छा का अन्तर उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये?

३७—आवश्यकता और प्रयत्न के पारस्परिक सम्बन्ध पर अपने विचार प्रकट कीजिये?

३८—आवश्यकताओं के प्रमुख लक्षण क्या हैं?

३९—आवश्यकताओं के प्रमुख भेद क्या है? समझा कर लिखिये।

४०—आय, व्यय और सन्तुष्टि का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये?

४१—व्यक्ति को धन-व्यय किस प्रकार करना चाहिये?

४२—अर्थशास्त्र में बचत (Saving) का क्या अर्थ है? बचत के लाभों पर भी प्रकाश डालिये।

४३—रहन-सहन के स्तर (Standard of living) से आप क्या समझते हैं?

४४—भारतीय रहन-सहन के स्तर पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

४५—भारतीय रहन-सहन के स्तर को किस प्रकार ऊंचा किया जा सकता है?

४६—पारिवारिक बजट से क्या समझते हैं? आर्थिक दृष्टि से इसका क्या महत्व है?

४७—ऐंजिल के उपभोग के नियम का वर्णन कीजिये। यह नियम भारतवर्ष में कहाँ तक लागू होता है ?

४८—सन्तुलित आहार (Balanced diet) का अर्थ समझाइये ?

४९—खाद्य-पदार्थों में किन किन तत्वों का होना आवश्यक है ? प्रत्येक का संक्षिप्त वर्णन दीजिये।

५०—भारतीय आहार किन बातों द्वारा निश्चित होता है ? उसमें आप किस प्रकारका परिवर्तन करना चाहते हैं ?

विनिमय (*Exchange*)

५१—विनिमय का अर्थ समझाइये। सभ्य जीवन में विना विनिमय के काम नहीं चल सकता आप इसे कहाँ तक ठीक समझते हैं ?

५२—विनिमय का आरम्भ कैसे और क्यों हुआ ?

५३—विनिमय के मुख्य भेद क्या हैं ?

५४—बाजार (Market) का अर्थ शास्त्रीय अर्थ समझा कर लिखिये।

५५—बाजार विस्तृत होने के लिये किसी वस्तु में कौन कौन सी विशेषतायें होनी चाहिये ?

५६—विस्तृत बाजार के लिए आवश्यक दशाओं का वर्णन कीजिये।

५७—वस्तुओं की कीमत किस प्रकार निश्चित होती है ?

५८—वस्तु की कीमत और उसके उत्पादन-व्यय का सन्बन्ध स्पष्ट कीजिये।

५६—खेती की उपज की बिक्री के विभिन्न ढंगों का वर्णन कीजिये ?

६०—भारतीय किसानों और कारीगरों को अपनी वस्तुओं की बिक्री में क्या असुविधायें होती हैं ? उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है ?

६१—ग्रामीण हाट और बाजारका आर्थिक महत्व समझाइये?

६२—मेलों (Fairs) का आर्थिक महत्व क्या है ? हिन्दुस्तान को मेलों का देश क्यों कहते हैं ?

६३—मंडी किसे कहते हैं ? क्या मंडियों में सामान बेचने से किसान को अपनी चीज को उचित कीमत मिलती है ?

वितरण (*Distribution*)

६४—वितरण का अर्थ विस्तारपूर्वक समझा कर लिखिये।

६५—लगान का आर्थिक अर्थ क्या है ?

६६—लगान और मालगुजारी का अन्तर स्पष्ट कीजिये।

६७—मजदूरी से क्या तात्पर्य है ? नकद मजदूरी और वास्तविक मजदूरी का अन्तर समझाइयें ?

६८—मजदूरी किस प्रकार निश्चित होती है। हमारे देश में मजदूरी की दर कम क्यों है ?

६९—सूद की दर किस प्रकार निश्चित होती है ? भारतीय ग्रामों में सूद की दर अधिक क्यों है ?

७०—मुनाफा का अर्थ समझाइये। कुल मुनाफा (Gross profit) में सम्मिलित विभिन्न प्रकार की आयों का विश्लेषण कीजिये ?

७१—भारतीय किसान को अपनी खेती से कुछ मुनाफा नहीं होता। यह कहां तक सत्य है? यदि यह सत्य है तो किसान खेती करना छोड़ क्यों नहीं देता?

८१—बटाई—प्रथा का अर्थ और उसके भेद समझाइये?

८२—बटाई प्रथा के गुण दोष पर एक निबन्ध लिखिये?

८३—बटाई-प्रथा और नकद लगान प्रथा की तुलनात्मक विवेचना कीजिये। किसानों के हित की दृष्टि से आप किसे अधिक उपयुक्त समझते हैं?

८४—भूमिके बन्दोबस्त का अर्थ लिखिये? भारत में प्रचलित विभिन्न प्रकार के बन्दोबस्तों का वर्णन कीजिये?

८५—जमींदार और किसान के पारस्परिक सम्बन्ध पर अपने विचार प्रगट कीजिये।

८६—पटवारी के मुख्य कागजात क्या हैं? प्रत्येक का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

ग्रामीण समस्यायें (*Village problems*)

८७—भारतीय ग्रामों की वर्तमान गिरी हुई दशा के कारणों पर विचार कीजिये?

८८—गांवों की मुख्य समस्याओं का उल्लेख कीजिये।

८९—गांव की सफाई-समस्या के मुख्य पहलुओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिपे। उनमें सुधार किस प्रकार किया जा सकता है।

९०—भारतीय पशुओं (Cattle) की वर्तमान दशा का वर्णन कीजिये।

९१—पशुओं की उन्नति देश की आर्थिक उन्नति में कहां तक सहायक हो सकती है ?

९२—भारतीय पशु समस्या (Cattle problem) के विभिन्न पहलुओं पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।

९३—पशुओं की नस्ल किस प्रकार सुधारी जा सकती है ?

९४—पशुओं के रोगों की चिकित्सा का कहां तक समुचित प्रबन्ध हमारे देश में है ? इस प्रकार की सुविधाओं को व्यापक किस प्रकार बनाया जा सकता है ?

९५—ग्रामीण ऋण के कारणों का विवेचन कीजिये।

९६—ग्रामीण ऋण की समस्या के समाधान सम्बन्धी आप के क्या सुझाव हैं ?

९७—सरकार द्वारा ग्रामीण ऋण को हल करने के लिये किये गये प्रयत्नों का संक्षिप्त वर्णन दीजिये।

९८—किसानों में मुकदमेबाजी की आदत क्यों पाई जाती है ? इसे कैसे दूर किया जा सकता है ?

९९—ग्रामीण रोग और उनकी रोक, थाम पर एक लेख लिखिये।

१००—भारतीय किसानों का अपर्याप्त और अपौष्टिक भोजन ही उनके बुरे स्वास्थ्य और अपेक्षाकृत नीची कार्यक्षमता का मुख्य कारण है। इस कथन पर अपने विचार प्रगट कीजिये।

१०१—कार्य क्षमता वृद्धि के लिये मनोरंजन के साधनों का होना आप कहाँ तक आवश्यक समझते हैं? भारतीय ग्रामों में पाये जाने वाले मनोरंजन के साधनों का वर्णन कीजिये?

१०२—भारतीय ग्रामों के लिये किस प्रकार के मनोरंजन के साधन का प्रबन्ध आप उचित समझते हैं और क्यों?

१०३—भारतीय ग्रामीण जनता के मनोरंजन के लिये विज्ञान के आधुनिक आविष्कार कहाँ तक प्रयुक्त किये जा सकते हैं?

१०४—ग्रामीण जनता की शिक्षा सम्बन्धी वर्तमान सुविधाओं को आप कहां तक पर्याप्त समझते हैं? इन सुविधाओं को और अधिक व्यापक किस प्रकार बनाया जा सकता है?

१०५—ग्रामीण शिक्षा किस प्रकार की होनी चाहिये? वर्तमान शिक्षा में आप क्या परिवर्तन चाहते हैं?

१०६—प्रौढ़ शिक्षा पर एक छोटा निबन्ध लिखिये?

१०७—बालक और बालिका दोनों की शिक्षा किस हद तक एक सी और किस हद तक भिन्न होनी चाहिये? इस प्रश्न पर अपने विचार सकारण स्पष्ट कीजिये।

१०८—ग्रामीण शिक्षा के पाठ्यक्रम बनाते समय आप की राय में किन-किन बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है?

१०९—गाँव के मुख्य सरकारी अफसर कौन-कौन से हैं? उनके कार्यों का संक्षिप्त वर्णन भी दीजिये?

११०—जिले की शासन-व्यवस्था का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिये।

१११—डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के कार्यों का वर्णन कीजिये तथा उनकी आय के साधनों का भी उल्लेख कीजिये।

११२—जिलाधीश के कर्त्तव्यों और अधिकारों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

११३—प्रान्तीय कृषि विभाग के कार्यों का वर्णन कीजिये? इन विभागों ने जनता की कहां तक सेवा की है?

११४—सरकारी कृषि-विभागों का संक्षिप्त ऐतिहासिक वर्णन कीजिये?

११५—कृषि-विभागों के कार्यों की अत्यन्त धीमी गति के कारणों पर प्रकाश डालिये और उसे तीव्र बनाने के लिये आवश्यक सुझाव दीजिये?

११६—केन्द्रीय कृषि विभाग के कार्यों का वर्णन कीजिये?

११७—ग्राम पंचायतों का संक्षिप्त ऐतिहासिक वर्णन कीजिये?

११८—ग्राम पंचायतों का महत्व स्पष्ट कीजिये?

११९—प्राचीन ग्राम पंचायतों की अवनति के कारणों पर विचार कीजिये?

१२०—ग्राम पंचायतों की स्थापना ब्रिटिश शासनकालमें किस प्रकार होती थी? इस प्रकार से स्थापित पंचायतों की उपयोगिता पर अपने विचार प्रकट कीजिये?

१२१—संयुक्तप्रान्त में पंचायत राज्य ऐक्ट के अनुसार पंचायतों के कर्त्तव्य का वर्णन कीजिये?

१२१—संयुक्तप्रान्त के ग्राम पंचायतों के मुख्य अधिकार इस नवीन ऐक्ट के अनुसार क्या हैं ?

१२२—गांव सभा, ग्राम पंचायत और अदालती पंचायत का अन्तर समझा कर लिखिये।

१२३—ग्राम पंचायत को अपने कार्यों के करने के लिये आवश्यक धन किस प्रकार प्राप्त होगा ?

१२४—'ग्रामोन्नति में ग्राम पंचायत' का महत्व इस विषय पर एक निबन्ध लिखिये ?

सहकारिता (*Co-operation*)

१२५—सहकारिता का अर्थ और महत्व स्पष्ट कीजिये ?

१२६—सहकारिता के मुख्य भेद क्या हैं ? प्रत्येक का संक्षिप्त वर्णन दीजिये ?

१२७—सहकारी उत्पादन के लाभोंपर विचार कीजिये ?

१२८—प्रारम्भिक कृषि साख-समितियोंके संगठन और कार्यों का वर्णन कीजिये। ये समितियाँ हमारे देश में कहाँ तक सफल हुई हैं ?

१२९—प्रारम्भिक सहकारी साख समितियों के मुख्य उद्देश्य क्या हैं ? इन समितियों ने उन उद्देश्यों को कहाँ तक प्राप्त किया है ?

१३०—प्रारम्भिक और केन्द्रीय सहकारी समितियों का अन्तर स्पष्ट कीजिये ?

१३१—रैफिसन और शुल्ज समितियों के प्रमुख लक्षणों का

वर्णन कीजिये और दोनों के अन्तर को स्पष्ट कीजिये ?

१३२—प्रारम्भिक सहकारी साख समितियों के संगठन में किन किन बातों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये ?

१३३—परिमित और अपरिमित दायित्व का अन्तर बताइये। ग्रामीण सहकारी साख समितियों का संगठन किस प्रकार के दायित्व पर करना आप ठीक समझते हैं और क्यों ?

१३४—ग्रामीण सहकारी साख समितियों की कार्यशील पूंजी के मुख्य साधनों का उल्लेख कीजिये। इस सम्बन्ध में आप किस प्रकार सुधार आवश्यक समझते हैं ?

१३५—ग्रामीण सहकारी साख समितियाँ किन कार्यों के लिये ऋण देती हैं ? इस सम्बन्ध में आप किसप्रकार के परिवर्तन चाहते हैं ?

१३६—गैर-साख समितियों की स्थापना हमारे देश में कहां तक हुई है ? इस प्रकार की समितियों का संगठन आर्थिक उन्नति में कहां तक सहायक हो सकता है ?

१३७—गैर-साख समितियों की प्रमुख किस्में क्या-क्या हैं ? प्रत्येक का संक्षिप्त वर्णन दीजिये

१३८—विभिन्न कार्यों के लिये विभिन्न प्रकार की समितियोंका संगठन कहां तक ठीक है ?

१३९—सहकारी केन्द्रीय बैंकों के संगठन और कार्यों पर एक निबन्ध लिखिये।

१४०—गारंटी यूनियन से आप क्या समझते हैं? क्या ये हमारे देश में सफल हुई हैं?

१४१—सहकारी यूनियन की परिभाषा दीजिये। इसकी किस्मों का भी वर्णन कीजिये।

१४२—प्रान्तीय सहकारी बैंकों की आवश्यकता, संगठन और उनके कार्यों पर एक निबन्ध लिखिये?

१४३—अखिल भारतवर्षीय सहकारी बैंक की स्थापना की आवश्यकता पर अपने विचार प्रगट कीजिये।

१४४—भारतीय सहकारिता आन्दोलन के इतिहास पर एक निबन्ध लिखिये।

१४५—सहकारिता आन्दोलन से हमारे देश को क्या लाभ हुए हैं?

१४६—इंगलैंड में उपभोक्ता स्टोर आन्दोलन का संक्षिप्त विवरण लिखिये।

१४७—उपभोक्ता स्टोर की स्थापना के क्या उद्देश्य होते हैं? उसकी कार्य पद्धति का भी वर्णन कीजिये।

१४८—हमारे देश में उपभोक्ता स्टोर आन्दोलन को विशेष सफलता क्यों नहीं प्राप्त हुई है?

१४९—भारतीय सहकारिता आन्दोलन की प्रमुख त्रुटियों का वर्णन कीजिये।

१५०—"बिना शिक्षा प्रसार के सहकारिता आन्दोलन को महत्वपूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हो सकती"। आप इस विचार से कहां तक सहमत हैं?

इति